लिङ्गधारण चन्द्रिका

श्री नन्दिकेश्वर शिवाचार्य विरचिता

सम्पादक:
पं. व्रजवल्लभद्विवेदः

शैवभारती भवनम्
जङ्गमवाडीमठः, वाराणसी

शिवधर्मग्रन्थमालायाः ३१तमं पुष्पम्

लिङ्गधारणचन्द्रिका

श्रीनन्दिकेश्वरविरचिता

म. म. प. श्रीशिवकुमारशास्त्रिकृतया शरन्नामिकया व्याख्यया
स्वामिशिवानन्दनिबद्धेन भाषानुवादेन च संवलिता

सम्पादकः
प० व्रजवल्लभद्विवेदः
शास्त्रचूडामणिविद्वान्
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

प्रकाशकः
कार्यदर्शी, शैवभारतीभवनम्
जङ्गमवाडीमठः, वाराणसी

वि० सं० २०४४]　　१९८८ ई०　　[शा० सं० १९०९

LINGA DHARANA CHANDRIKA — By Nandikeshwar Shivacharya with "Sharat" Commentary in Sanskrit by M. M. Pt. Shivakumar Shastri and a Hindi translation by Swami Shivananda. Edited by Pt. Vrajavallabha Dwivedi and Published by The Secretary, Shaivabharati, Bhavanam, Jangamawadimath, Varanasi-221001 (India)

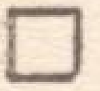
Second Edition, 1988, 1000 Copies.

द्वितीयं संस्करणम्

१००० प्रतिकृतयः

मूल्यम् रूप्यकाणि : ५५.०० ग्रन्थालयसंस्करणम् ।

३५.०० छात्रसंस्करणम् ।



मुद्रकः

रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स

कमच्छा, वाराणसी ।

श्रीजगद्गुरुर्विश्वाराध्यो विजयतेतराम्

काशीज्ञानसिंहासनाधीश्वराणां श्री १००८ जगद्गुरु-विश्वेश्वरशिवाचार्यमहास्वामिनां



शुभाशीर्वचनम्

– × –

वेदसिद्धान्तयोरैक्यमेकार्थप्रतिपादनात् ।
प्रामाण्यं सदृशं ज्ञेयं पण्डितैरेतयोः सदा ॥
(सि० शि० ५.१३)

इति सिद्धान्तशिखामणेर्वचनानुसारेण वीरशैवसिद्धान्ते निगमागमयोरुभयोरपि समानरूपेण समादरोऽस्ति। अस्मत्प्राचीनाचार्यैः सर्वैरपि स्वकीयग्रन्थेषु वैदिकमन्त्राण्यागमवचनानि च तत्र तत्र प्रमाणरूपेणोदाहृतानि दरीदृश्यन्ते। अत एव वीरशैवसिद्धान्तस्तान्त्रिक-वैदिकसिद्धान्त इत्याख्यायते।

प्रधानेषु वीरशैवीयधर्मग्रन्थेष्वन्यतमोऽयं लिङ्गधारणचन्द्रिका-ग्रन्थः। कर्णाटकप्रदेशीयैर्विद्वद्वरेण्यैः श्रीमद्भिर्नन्दिकेश्वरशिवाचार्यैर्विरचितोऽयं वर्तते। प्रमोदस्यायं विषयो यन्नन्दिकेश्वरशिवाचार्यः ख्रि० श० १५ तमशताब्द्यां विद्याध्ययनार्थं जङ्गमवाडीमठस्य श्रीविश्वाराध्यगुरुकुलमधिवसन्नासीदिति। सम्भाव्यते तदानीमेवानेन ग्रन्थोऽयं विनिर्मित इति।

दुरूहस्यास्य ग्रन्थस्याध्ययनाध्यापनं व्याख्यां विना न सुचारु स्यादिति मत्वा एतत्पीठपरम्परायां ८१तमपीठाधीश्वरा अस्मत्परमगुरवः श्री १००८ जगद्गुरुराजेश्वरशिवाचार्यमहास्वामिनस्तदानीन्तनविद्वद्वरेण्यैर्महामहोपाध्याय-विरुदाङ्कितैः पण्डितप्रकाण्डैर्विश्वनाथस्यापरावतारभूतैः श्रीमद्भिः शिवकुमार-शास्त्रिमहाभागैः शरन्नामिकां संस्कृतव्याख्यां निर्माप्य ख्रि० श० १९०५ तमेऽब्देऽस्य प्रथममुद्रणं कारितवन्तः।

अस्मद्गुरुपरम्परायामियं वार्ता कर्णपरम्परया श्रूयते यद् अस्मद्गुरुवर्यैः श्रीराजेश्वरमहास्वामिभिः साकं श्रीशिवकुमारशास्त्रिमहाभागानां मधुरः सम्बन्ध आसीत्। वारं वारं श्रीशास्त्रिमहाभागा मठे आहूता भवन्ति स्म। एकदा श्रीशास्त्रिमहाभागा व्याधिग्रस्ता आसन्। औषधसेवनेनापि व्याधिर्न निवृत्तः। एतज्ज्ञात्वा श्रीराजेश्वरमहास्वामिनः श्रीशास्त्रिमहाभागानाहूय

तेभ्यः स्वेष्टलिङ्गपूजासमर्पितं भस्म विल्वदलं च प्रसादरूपेणानुगृहीतवन्तः। ततः प्रभृति शनैः शनैर्व्याधिर्निवृत्तः, ते स्वस्थाश्च सम्पन्नाः। तदा तैस्तन्निष्कृतिरूपेण "लिङ्गधारणचन्द्रिका"-ग्रन्थस्य शरट्टीका विरचितेति।

अधुना चास्य हिन्दीभाषानुवादो विश्वनाथगुरुकुलसंस्कृतमहाविद्यालयस्य वेदान्तविभागाध्यक्षेण विदुषा स्वामिशिवानन्देन सुचारुरूपेण विहितोऽस्ति। एवं शरट्टीका-भाषानुवादसहिता चेयं लिङ्गधारणचन्द्रिका संस्कृताभिज्ञानभिज्ञयोश्चोपकारिणी संजाता।

विद्वत्तल्लजेन शास्त्रचूडामणिना सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सांख्य-योग-तन्त्रागमविभागाध्यक्षचरेण श्रीमता व्रजवल्लभद्विवेदमहोदयेन सम्यक् संपादितोऽयं ग्रन्थोऽस्मन्मठस्य शिवधर्मग्रन्थमालाया एकत्रिंश-(३१)त्तमपुष्परूपेण समुन्मील्यते।

प्रसङ्गेऽस्मिन् अनुवादकं सम्पादकं संमतिप्रदातॄन् विदुषश्च शुभाशीर्वादेन सम्भावयामः। सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य वेदान्तविभागे वरिष्ठसंशोधकरूपेण कार्यनिरतः कर्णाटकप्रदेशस्थ-गुलेदगुड्ड-अमरेश्वरमठीयो डॉ॰ चन्द्रशेखरशिवाचार्योऽपि साधुवादार्होऽस्ति, यदयं संस्कृतभाषामयस्य प्राचीनस्य वीरशैवसाहित्यस्य पुनरुज्जीवनार्थं सदा प्रयतमानोऽस्ति।

ग्रन्थस्यास्य सर्वेऽप्यध्येतारः परमशिवस्यानुकम्पामवाप्य विनष्टाज्ञाना भूत्वैहिकं सुखं चानुभूयान्ते लिङ्गाङ्गसामरस्यं (शिवजीवैक्यं) प्राप्नुयुरिति कामयामहे। इति शिवं भूयात्॥

महाशिवरात्रि, १९०९ श० सं०,
१६-२-८८

काशी ज्ञान सिंहासनाधीश्वर ८५वें वर्तमान जगद्गुरु
श्री १००८ विश्वेश्वरशिवाचार्य महास्वामीजी



मूर्धन्यमहिमा यस्य सर्वैः सर्वत्र गीयते।
विश्वेश्वरशिवाचार्यः सोऽयमत्र विराजते॥

काशी ज्ञानसिंहासनाधीश्वर ८१वें जगद्गुरु
श्री १००८ राजेश्वरशिवाचार्य महास्वामीजी



काश्यां विस्तारितं येन वीरशैवमतं परं।
दयालुः शिवयोगी च सोऽयं राजेश्वरो यमी ॥

काशी विश्वनाथ के अपरावतार, शरट्टीकाकार,
म० म० प० शिवकुमार शास्त्रीजी



प्रस्तावे विदुषां यस्य प्रथमं नाम गृह्यते ।
सोऽयं शिवकुमाराख्यः पण्डितः पण्डिताग्रणीः ॥

प्रकाशक की विज्ञप्ति

काशी का यह जंगमवाड़ी मठ अत्यन्त प्राचीन है। इसकी प्राचीनता का प्रत्यक्ष प्रमाण काशीनरेश जयनन्ददेव का (ख्रि० स० ५७४) दानशासन ही है। इस ज्ञान-सिंहासन के ८४ जगद्गुरु हो चुके हैं। इस मठ से ज्ञान-प्रचार और प्रसार के लिये प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य अव्याहत गति से चल रहा है। इसी उद्देश्य से हमारे मठ के ८४वें पीठाचार्य श्री १००८ जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामी जी ने "शैवभारतीभवनम्" की स्थापना की थी। इसी संस्था की शिवधर्म-ग्रन्थमाला की ओर से संस्कृत, हिन्दी, मराठी, तेलगु, अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओं के अभी तक तीस ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

अब हम वाचकों के समक्ष संस्कृत व्याख्या और हिन्दी भाषानुवाद से युक्त लिङ्गधारणचन्द्रिका ग्रन्थ को ३१वें पुष्प के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इस अमूल्य ग्रन्थ के रचयिता श्री नन्दिकेश्वर शिवाचार्य कर्णाटक प्रदेश के थे। वे केवल वीरशैव सिद्धान्त के ही नहीं, अपितु व्याकरण, न्याय, साहित्य, पूर्वोत्तरमीमांसा के भी उद्भट विद्वान् थे। वे बसवेश्वराचार्य के पौत्र तथा महेश्वराचार्य के पुत्र थे (ग्रन्थकार के पितामह बसवेश्वराचार्य बारहवीं शताब्दी के बसवेश्वर से भिन्न हैं)। उन्हें वीरशैव धर्म के मठाधिपति होने के कारण "शिवाचार्य" की उपाधि प्राप्त थी। इनके गुरु श्री मल्लेश्वर शिवाचार्य भी प्रकाण्ड विद्वान् थे।

लगभग सवासौ (१२५) वर्ष पहले मैसूर के श्रीमान् वीरसंगप्पा जी ने तेलगु लिपि में मूल ग्रन्थ का मुद्रण कराया था। हमारे मठ के ८१वें जगद्गुरु श्रीराजेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी ने काशी के मूर्धन्य विद्वान् महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री जी से "शरत्" नाम की संस्कृत व्याख्या लिखवाई। इस शरत् व्याख्या से युक्त लिङ्गधारणचन्द्रिका का जंगमवाड़ी मठ के तदानीन्तन आस्थानविद्वान् पं० भालाक्ष शास्त्री जी की प्रेरणा से कर्णाटक के अब्बीगेरी ग्राम के नन्दिकेश्वरमठाध्यक्ष तथा हमारे विश्वाराध्य गुरुकुल के विद्वान् पं० काशीनाथ शास्त्री जी ने सम्पादन किया था। उसको १९०५ ई० में पहली बार मठ की तरफ से प्रकाशित किया गया था।

यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की शक्ति-विशिष्टाद्वैत वेदान्त की आचार्य परीक्षा में १९८४ ई० से पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है। इस कार्य के लिये पण्डितमार्तण्ड वेदान्तविभागाध्यक्ष डॉ० देवस्वरूप मिश्र जी भूरि-भूरि धन्यवाद के पात्र हैं।

हमारे अनुरोध से स्वामी शिवानन्द जी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। इससे यह संस्कृत के अनभिज्ञों के लिये भी उपयोगी हो गया है, अतः उन्हें भी हम साधुवाद समर्पित करते हैं।

संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद से युक्त इस ग्रन्थ का सम्पादन-कार्य शैव-शाक्त तन्त्र के मूर्धन्य विद्वान् सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सांख्य-योग-तन्त्रागम विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने बहुत ही सहिष्णुता से पूर्ण कर ग्रन्थ की गरिमा को बढ़ाया है। आपके प्रति हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। ग्रन्थ-ग्रन्थकार-मत-मतान्तर तथा उद्धृत वचनों के स्थान निर्देशनों से युक्त इस ग्रन्थ की यह द्वितीय आवृत्ति संशोधनशील अनेक विद्यार्थियों को बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर दि० १६-२-८८ को महाशिवरात्रि के पावन अवसर पर उत्तर-प्रदेश संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष एवं सं० सं० वि० वि० के पूर्व कुलपति पं० करुणापति त्रिपाठी जी ने अपने करकमलों द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशनोद्घाटन करके महान् उपकार किया है। अतः उन्हें हम कृतज्ञता समर्पित करते हैं।

जिज्ञासु छात्रगण इस ग्रन्थ का समुचित अध्ययन करके अपने ज्ञान-भंडार को बढ़ाते हैं, तो हम अपने परिश्रम को सार्थक समझेंगे। इस ग्रन्थ की सुन्दर एवं शीघ्र छपाई के लिए रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी के मालिक एवं कर्मचारी बन्धुओं को भी हम धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं। अन्त में इस कार्य में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में हमें सहायता करने वाले सभी महानुभावों के प्रति हम कृतज्ञता समर्पित करते हैं।

शैवभारती भवन
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी
१६-२-१९८८, महाशिवरात्रि।

विद्वद्विधेय
महेश्वरदेव बदामि
कार्यदर्शी

अनुवादक का वक्तव्य

नन्दिकेश्वरसंजाता लिङ्गधारणचन्द्रिका ।
शरट्टीकायुता नूनमासीद् विबुधरञ्जिका ॥
साम्प्रतं साऽनुवादेन युता हृद्या विशेषतः ।
भाषाज्ञानयुतांश्चैव ह्लादयन्तीव भासते ॥

विश्वविश्रुत आध्यात्मिक वैभव से विशिष्ट सनातन संस्कृति नाममात्रावशेष होकर रह गई है। देवत्व प्राप्ति की हेतुभूत देववाणी की उपेक्षा से हिन्दू जाति अपनी चिरसंचित संपत्ति से, साहित्य से, स्वतन्त्रता से और स्वाभिमान से वंचित होकर तथा गुलाम होकर गुजर चुकी है। राष्ट्र आज नाममात्र के लिये स्वतन्त्र है। अपनी सर्वांगोण समुन्नति के निमित्त अपेक्षित कार्य सम्पादन में राष्ट्रीय धर्मनिरपेक्ष नीति नितान्त बाधक सिद्ध हो रही है। प्रशासनिक क्षेत्र पर चिरकाल पर्यन्त सुस्थिर अवस्थित पाश्चात्य भाषाओं के आधिपत्य से अनादिकालीन आर्ष संस्कारों का अभिभव हो जाने से देववाणी के प्रति अपेक्षा ही नहीं रह गई है। शासकों की दृष्टि से उपेक्षित देववाणी असहाय सी होकर विलाप कर रही है। विद्वज्जनों की अवहेलना से देववाणी का विकास अवरुद्ध सा हो गया है। इस विकट एवं विकराल स्थिति में देववाणी के दुरूह ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन दुष्कर होकर विरले ही लोगों से सेवनीय औषधिमात्र बनकर रह गया है। इन वर्तमानकालिक परिवर्तित परिनिवेशों में संस्कृत-संस्कृति की रक्षा एकमात्र हिन्दी के अधीन है। हिन्दी भाषा के साहचर्य के बिना विगत गरिमा एवं वैभव की पुनः प्राप्ति असंभव सी प्रतीत हो रही है।

सर्वसम्मति से स्वीकृत इस विद्वत्सम्मति के उत्प्रेरक तथा प्रशंसक होकर काशी ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य जी महाराज अपने सिद्धान्त के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में कराकर प्रकाशित करा रहे हैं। इस साहित्यिक सेवा व अनुष्ठान के अनुक्रम में लिंगधारणचन्द्रिका के हिन्दी भाषानुवाद करने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ है। यह लिंगधारणचन्द्रिका नन्दिकेश्वर शिवाचार्य जी के द्वारा

प्रणीत एक अनमोल रत्न है। यह ग्रन्थरत्न युगयुगान्तरों से विकसित एवं निगमागम सारस्वत के प्रतीक स्वरूप सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त वीरशैव सिद्धान्त के अनेकानेक अमूल्य ग्रन्थों में से एक है। ग्रन्थकार का मुख्य आशय श्रुतिसम्मत सिद्धान्त को सार्वजनीन बनाना है। ग्रन्थ के कलेवर में गृहीत विषयों का समर्थन एवं प्रतिपादन नाना पुराणनिगमागमों के द्वारा किया गया है। भाषा का सौष्ठव एवं विषय प्रतिपादन शैली मनोज्ञ एवं मनोहारी है। अनेक विद्वज्जनों से संस्तुत इस ग्रन्थ के ऊपर काशी विद्वन्मण्डलमार्तण्ड निर्विवाद विद्वच्छ्रेष्ठ बहुचर्चित विद्वद्वन्द्य, परमगुरु स्वर्गीय पं० श्री शिवकुमार शास्त्री जी के द्वारा उल्लिखित वैदुष्यपूर्ण शरद् नामक टीका वास्तव में सोने में सुगन्ध की उक्ति को सार्थक बना रही है। कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विचारों के विश्लेषण में बेजोड़ टीका बनकर अपनी सर्वश्रेष्ठ छटा से शोभायमान है।

इस विद्वन्मान्य टीका से समलंकृत चन्द्रिका विद्वज्जनों के मनोविनोद का केन्द्र मानी जाती थी, किन्तु इस रसमय रसायन के आस्वादन का सौभाग्य संस्कृतभाषेतर भाषियों को प्राप्त नहीं हो पा रहा था। इस कमी को पूर्ण करने के लिये मैसूर महाराजा के आस्थानविद्वान् एवं मैसूर महाराजा संस्कृत कालेज के शक्तिविशिष्टाद्वैतवेदान्त के प्रोफेसर सिरसि श्री गुरुशान्त शास्त्री जी ने कन्नड़ भाषा में मूल ग्रन्थ के अनुरूप विशद एवं प्रामाणिक टीका लिखकर कन्नड़ भाषाभाषियों के उपकारार्थ १९५१ ई० में प्रकाशित कराया था। इस समय प्रथम राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित एवं कोटि-कोटि कण्ठों में समलंकृत हिन्दी भाषा में अनूदित हो जाने से हिन्दी भाषा से परिचित अनेक भाषा-भाषियों को यह चन्द्रिका आह्लादित करने में सक्षम होगी।

यह हिन्दी अनुवाद कन्नड़ के अनुवाद के अनुसार किया गया है। अनुवाद का कार्य महाराजश्री की अनुकम्पा से बिना अन्तरायों के सम्पन्न हो गया। परिपूर्ण आशा है कि यह चन्द्रिका पूर्वप्रकाशन की अपेक्षा उभय भाषाओं में प्रकाशित हो जाने से अपनी सीमित परिधि को छोड़कर तथा व्यापक क्षेत्र को अपनाकर इस अनादिसिद्ध निर्भ्रान्त वीरशैव सिद्धान्त के मर्म के उद्बोधक तथा परिचायक उत्कृष्ट ग्रन्थों की श्रेणी में अग्र स्थान प्राप्त कर लेगी। अनुवादक की तरफ से यही कामना है कि

यह चन्द्रिका चन्द्रिका की भाँति चिरस्थायी तथा सर्वाह्लादिका, स्वकीय सिद्धान्त की उद्बोधिका होकर रहे।

अन्त में इस अनुवाद-कार्य के प्रेरक तथा सन्मित्र के लक्षणों से लक्षित समादरणीय परमहितैषी डॉ० श्री चन्द्रशेखर शिवाचार्य जी अमरेश्वर मठ, गुलेदगुड्ड के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ, क्योंकि उनके सहज स्नेह ने इस गरिमामय प्रामाणिक चन्द्रिका के ऊपर दृष्टिपात करने का अवसर प्राप्त कराया है। डॉ० शिवाचार्य जी को यशश्चन्द्रिका इस चन्द्रिका की सहचरी होकर अपनी आभामय धवल किरणों से सहृदयों के हृदयों को समुल्लसित करती हुई सबके चित्त में चिरकाल पर्यन्त निवास किया करे, यही हमारी अभिलाषा है।

महाशिवरात्रि, १९०९ श० सं० — **स्वामी शिवानन्द**

१६-२-१९८८ — टेकरामठ, वाराणसी

विद्वत्सम्मतिः

वीरशैवसिद्धान्ते भक्तैर्यच्छिवलिङ्गधारणं क्रियते, तन्न वैदिकमिति विवदन्तः केचन स्वपक्षं स्थापयन्तः शिवलिङ्गधारणकर्तृभक्तान् अवैदिकाचारशालिन इति साधयन्तस्तर्कबहुलैः स्वपक्षमेव मण्डयन्तो लिङ्गधारिशैवभक्तमतानि खण्डयन्तो बहुशः शास्त्रप्रमाणानि उद्धरन्तो दृश्यन्ते ।

वीरशैवमताचार्या नन्दिकेश्वरशिवाचार्यचरणा एतस्मिन् विचारप्रसङ्गे संशयालूनामथवा विवेच्यमतानभिज्ञानां सन्देहनिशातिमिरापाकरणायैतस्य शास्त्रदर्शनतर्कपुष्टस्य वैदिकस्मार्तसिद्धान्तसमर्थनजुष्टस्य तर्केणाप्यदुष्टस्य मतस्य रहस्योद्‌घाटनाय 'लिङ्गधारणचन्द्रिका'-ग्रन्थं निर्मितवन्तः। अस्य ग्रन्थस्योपक्रम एनमेव प्रश्नमुपस्थाप्य प्रवर्तते। यथाहि—

ते खल्वेवमाहुः—लिङ्गधारणं तावन्न वैदिकपरिपाटिग्राह्यम्, अवैदिकत्वादित्यादि ।

वीरशैवानां भक्तिमयोपासनानिरतानां शक्तिविशिष्टाद्वैतवादिनां दक्षिणे देशे प्रचाराधिक्यं वर्तते ।

सनातनस्यास्य मतस्य पञ्च पीठाः सन्ति। तेष्वन्यतमोऽयं काशी-विश्वाराध्यज्ञानसिंहासनाख्यो जङ्गमवाड़ीमठः । पीठस्यास्य प्राक्तनत्वं सर्वप्रमुखत्वं प्रामाणिकत्वं च मतानुयाय्यनुमतं न्यायालयनिर्णयपुष्टमितिहासविद्भिः साक्षीकृतं सुतरां प्रसिद्धमित्यत्र नास्ति कोऽपि सन्देहलेशः ।

परमपावनस्याखिलभारतविख्यातस्य जङ्गमवाड़ीमहामठस्य तदानीन्तनपीठाध्यक्षैः श्री १००८ जगद्गुरुराजेश्वरशिवाचार्यमहास्वामिचरणैः श्रीनन्दिकेश्वरशिवाचार्यविरचितस्य प्रौढपाण्डित्यप्रतिभापेशलस्य क्लिष्टतर्कसंवलितस्य लिङ्गधारणचन्द्रिकाख्यग्रन्थस्य सम्यक् प्रचारायैतदवधारितं यदस्य प्रथमे संस्करणे पञ्चोत्तरशतैकोनविंशे ईशवीयाब्दे (१९०५ ई०) प्रकाशिते केनचित् सर्वशास्त्ररहस्यविज्ञेनैका संस्कृतभाषामयी स्पष्टार्थबोधिका टीका सम्पाद्येत ।

इत्थं च चिन्तयद्भिः काशीस्थसमस्तविद्वद्वरेण्यानां वैदुष्यं शिवभक्ति शैवाग्रहं च सम्यक् समाकलय्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां षट्शास्त्रिणां महामहो-

पाध्यायपदवीमण्डितानां काशीस्थपण्डितशिवकुमारशास्त्रिमहाभागानां टीकाकरणाय निर्वाचनं विहितम्, येषां विषये एवं प्रसिद्धिर्वर्तते—

प्रस्तावे विदुषां यस्य प्रथमं नाम गृह्यते।
सोऽयं शिवकुमाराख्यः पण्डितः पण्डिताग्रणीः ॥ इति।

तेन पण्डितेन कृतया शरन्नामिकया वैदुष्यपूर्णया ग्रन्थग्रन्थिसमुन्मूलनक्षमया टीकया चन्द्रिका शारदीयप्रकाशमिव प्रकाशिता।

लोकोत्तरस्य संस्कृतटीकावर्णितस्य सिद्धान्तस्य प्रचारकाठिन्यमनुभवद्भिर्वर्तमानपीठाध्यक्षैः श्री १००८ जगद्गुरुविश्वेश्वरशिवाचार्यमहास्वामिभागैः पाण्डित्यपूर्णव्याख्याकल्पेन हिन्दीलोकभाषानुवादसहितेनास्य प्रकाशनं कारितम्।

अत्रैतदपरमपि हृदयावर्जकं यत् सम्पादितानेकानेकतन्त्रदर्शनग्रन्थेन शोधलेखप्रबन्धनिपुणेन पण्डितधुरीणेन श्रीमता व्रजवल्लभद्विवेदमहाभागेन महताऽऽयासेनास्य सम्पादनं विहितम्।

एतस्य ग्रन्थस्य शरन्नामकव्याख्योपेतस्य हिन्दीभाषानुवादसहितस्य सम्यक्सम्पादितस्य शास्त्रीयपदवीप्रतिष्ठितस्य लिङ्गधारणचन्द्रिकाग्रन्थस्य लोकार्पणं (विमोचनम्) समग्रशैवानां विशेषतश्च काशिवासिनां परमपावनपर्वणि शिवरात्रौ निशीथवेलायां विदुषामुपस्थितौ महास्वामिनां सन्निधौ मठस्यास्य प्रबन्धकस्य गङ्गाधरशास्त्रिणःसत्प्रयासेनाऽजायतेत्यपि प्रमोदस्यावसरोऽभूत्।

विश्वसिमि च भविष्यत्सु वर्षेष्वस्य वीरशैवीयशक्तिविशिष्टाद्वैतवेदान्तस्य प्रचाराय प्रसाराय चान्येऽपि ग्रन्थाः प्रकाशतामेष्यन्ति, समायोजनान्यपीतराणि भविष्यन्ति समुत्साहवतां पीठाधीश्वराणां प्रेरणयेति कामयते।

शिवरात्रिपर्वणि
२०४४ संवत्सरीये

विदुषामनुग्रहार्थी
त्रिपाठी करुणापतिः
पूर्वकुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसीस्थस्य

ॐ नारायणीसहचराय नमः शिवाय

जैसे संसार अनादि अनन्त है, वैसे ही वर्णमाला भी अनादि अनन्त है। लिपिभेद देश-काल के अनुसार हुआ माना जाता है। विश्व की समस्त भाषाओं के वर्ण अद्यापि नियत ही हैं। एक भी वर्ण न घटा न बढ़ा। किन्तु विषय निरूपण नये-नये सदा होते थे तथा हो रहे हैं। कहा भी है—"नवा वाणी मुखे मुखे"। इसी भाँति "लिङ्गधारणचन्द्रिका" नामक शक्तिविशिष्टाद्वैत (वीरशैव) वेदान्त का ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ वैसे ही है, जैसे व्याकरणादि शास्त्र। "शास्त्रं ज्ञापकं भवति, ज्ञापकत्वाच्छास्त्रस्य" ऐसी व्यवस्था है। शब्द तो शुद्ध, अशुद्ध (अपभ्रंश) अनादि है। केवल शास्त्र यही कहता है कि यह शुद्ध प्रयोग है, यह अशुद्ध है। शब्द को नित्य नहीं भी मानें, तथापि प्रयुक्त होते ही हैं। शब्द शास्त्र द्वारा बनाये नहीं जाते। जैसे कुम्भकार घड़ा बनाता है, वैसे वैयाकरण व्याकरण शास्त्र के द्वारा शब्द को बनाता नहीं है, केवल बने-बनाये शब्दों में विभाग कर देता है कि ऐसे शब्द शुद्ध हैं तथा इससे भिन्न अशुद्ध है। शुद्ध शब्द के प्रयोग से पुण्य होता है तथा अन्य प्रयोग से पाप होता है। पुण्य-पाप ही सुख-दुःख का कारण है।

ठीक यही युक्ति लिङ्गधारणचन्द्रिका ग्रन्थ की भी है। वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार अनादि काल से भगवान् परशिव के उपासक लिङ्गधारण करते हैं। उनकी उपासना से प्रेय तथा श्रेय की प्राप्ति करते हैं। इन इष्टलिङ्गधारियों को वीरशैव कहते हैं। इस सिद्धान्त के संस्थापनाचार्य श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी के—

वेदशास्त्रपुराणेषु कामिकाद्यागमेषु च।
लिङ्गधारणमाख्यातं वीरशैवस्य निश्चयात्॥
ऋगित्याह पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते।
तस्मात् पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमनामयम्॥
अघोराऽपापकाशीति या ते रुद्र शिवा तनूः।
यजुषा गीयते यस्मात् तस्माच्छैवोऽघवर्जितः॥
(सि० शि० ६।५७,५८,६१)

इत्यादि वचनों के अनुसार यह लिङ्गधारण-सिद्धान्त वैदिक माना जाता है। इस धर्म में यह लिङ्गदीक्षा स्त्री-पुरुषों के लिये समान रूप से की जाती

है। इस मत में यह विशेषता है कि यज्ञोपवीत संस्कार के स्थान पर लिङ्गदीक्षा संस्कार सम्पन्न कराया जाता है। वीरशैव लोग भी वर्णाश्रम की व्यवस्था को पूर्ण रूप से मानते हैं।

इस लिंगधारण सिद्धान्त को लेकर प्राचीन काल में कुछ वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया था कि इसे शरीर पर धारण करना चाहिये कि नहीं ? "सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तते" के अनुसार इस सन्देह को निराकृत करके वेद, आगम, पुराण, स्मृति तथा अलंकारादि शास्त्रीय प्रमाणों से ग्रन्थकार श्री नन्दिकेश्वर शिवाचार्य जो महाराज ने बड़े ही युक्ति एवं माधुर्य से पूजित विचार मीमांसापद्धति से लिङ्गधारण शरीर के नाभि भाग से ऊपर—

मूर्ध्नि वा कण्ठदेशे वा कक्षे वक्षःस्थलेऽपि वा।
कुक्षौ हस्तस्थले वापि धारयेल्लिङ्गमैश्वरम् ॥
(सि० शि० ६।५१)

श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी की इस उक्ति के अनुसार शिर, कण्ठ, हृदय आदि में धारण करने की व्यवस्था कर समाज का हित किया है।

यही कारण है कि शिवावतार समस्तशास्त्रपारंगत शास्त्रार्थ कला-कोविद परमशैव महामहोपाध्याय प्रातःस्मरणीय श्रीशिवकुमार मिश्र जी ने शरत् नाम की व्याख्या इस पर की। उनकी व्याख्या से सोने में सुगन्ध की भाँति यह ग्रन्थ परम मान्य हो गया है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन पूर्वोक्त व्याख्या सहित मूल को हिन्दी के साथ हो रहा है, यह जानकर परम प्रसन्नता हुई। मैं भगवान् विश्वनाथ से यही प्रार्थना करता हूं कि यह ग्रन्थ जिज्ञासुओं को अलभ्य लाभप्रद होकर तथा विज्ञों के ज्ञातज्ञापकत्व होने पर भी अभ्यासापन्न मननरूप प्रमोदावह हो।

इति शिवम् ॥

महाशिवरात्रि
१६-२-१९८८

देवस्वरूप मिश्र
आचार्य एवं अध्यक्ष वेदान्त विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रथम संस्करण की भूमिका

अयं लिङ्गधारणचन्द्रिकानामकग्रन्थो नन्दिकेश्वराचार्येण वीरशैवानां सिद्धान्तेषु लिङ्गधारणावश्यकर्तव्यत्वप्रभृतिषु वैदिकागमिकप्रमाणोपष्टम्भनाय मतान्तरावलम्बिभिरापादितानां शास्त्रविरोधादिदोषाणां निरासाय च महता परिश्रमेण कृतः। तस्यास्य ग्रन्थस्य कर्णाटकाक्षरे कतिपयवर्षेभ्यः प्राग् मुद्रितस्यापि व्याख्यां विना स्थले स्थले समाश्रितानां मीमांसाधिकरणानां काठिन्येन सर्वोपकारदानानर्हत्वमाकलय्य सर्वसाधारण्येन वीरशैवानामुपकारमाधित्सुभिः काशीजंगमवाटिकामठस्थविश्वाराध्यपीठाचार्यश्रीराजेश्वरस्वामिभिः कठिनाशयप्रकाशिकां शरन्नाम्नीं व्याख्यां पण्डितवरमहामहोपाध्याय-श्रीशिवकुमारमिश्रशर्मभिर्निर्माप्य एतया संवलितो देवाक्षरेण मुद्रयित्वा प्रकाशितः। अस्य च ग्रन्थस्य शोधनादिभारं मय्येवाध्यक्षेणार्पितमासीदित्यध्ययनाभ्यासादिपरिश्रमव्यग्रतयाऽनवधानवशादज्ञानवशाद् वाऽऽपतितामशुद्धिं नैसर्गिकसहृदयैर्विद्वद्भिः सहजनिजभूषणक्षमानवहेलं निरूप्य शुद्धिपत्रे दानायानुग्राह्योऽहमिति सविनयमभ्यर्थये शास्त्रमर्मज्ञान् विदुषः।

काशीस्थः-अब्बीगेरिग्रामवासी काशीनाथशास्त्री

प्रस्तावना

महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री रचित संस्कृत शरट्टीका तथा स्वामी शिवानन्द कृत हिन्दी अनुवाद के साथ नन्दिकेश्वर रचित लिङ्गधारणचन्द्रिका के इस द्वितीय संस्करण को धार्मिक जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है। प्रथम संस्करण के संपादकीय वक्तव्य से ज्ञात होता है कि सन् १९०५ से पहले भी इस ग्रन्थ का मुद्रण हो चुका था, किन्तु टीका के अभाव में यह ग्रन्थ दुर्बोध था। अतः काशी के जंगमवाड़ी स्थित विश्वाराध्य संस्थान मठ के तत्कालीन आचार्य शिवयोगी श्री १००८ जगद्गुरु राजेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी के अनुरोध पर शास्त्री जी ने संस्कृत व्याख्या लिखी थी और काशी में अध्ययन के लिये आये अब्बीगेरि ग्रामवासी पण्डित काशीनाथ शास्त्री जी ने इसका सम्पादन किया था और उस समय के काशी के ख्यातनामा मेडिकल हाल नाम के प्रेस में इसका मुद्रण हुआ था।

पूर्व तथा प्रस्तुत संस्करण

यह संस्करण सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद सन् १९४२ में बेलगांव से इसका प्रो० एम० आर० साखरे द्वारा संपादित परिष्कृत संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें ६८२ पृष्ठ की विस्तृत भूमिका, १०४ पृष्ठ में अंग्रेजी अनुवाद, २५० पृ० की टिप्पणियाँ तथा २० पृष्ठों में अन्य परिशिष्ट दिये गये थे। मूल ग्रन्थ ७६ पृष्ठों में पाठभेदों के साथ छपा था, किन्तु यहाँ ग्रन्थ का पूर्वभाग ही प्रकाशित हुआ, उत्तरभाग को जान-बूझ कर छोड़ दिया गया। इसके बाद सन् १९५१ में मैसूर से पूरे ग्रन्थ को आस्थानविद्वान् सिरसि गुरुशान्त शास्त्री कृत कन्नड़ भाषानुवाद के साथ श्री एस० शिवकुमार स्वामी द्वारा प्रकाशित कराया गया। ये सभी संस्करण अब उपलब्ध नहीं हैं। यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की आचार्य परीक्षा के पाठ्यक्रम में समाविष्ट है। काशी के विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी के अनुरोध को स्वीकार कर यह नया संस्करण तैयार किया गया है। यहाँ उद्धरणों का यथासंभव स्थान-

निर्देश करने का प्रयत्न किया गया है और परिशिष्ट एवं विषयसूची आदि का संयोजन कर इसको अधिक उपादेय बनाया गया है। संस्कृत भाषा से परिचित धार्मिक जनता की संख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। सभी को इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों की जानकारी मिल सके, इसके लिये यहाँ ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी साथ में देकर प्रस्तुत संस्करण को सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है।

लिङ्गधारणचन्द्रिका के प्रारंभ के चौथे और पांचवें श्लोक को देखने से ऐसा पता चलता है कि उस समय वेद और अन्य शास्त्रों के अभिप्राय को बिना समझे ही कुछ लोग ईर्ष्या-द्वेष आदि से ग्रस्त होकर लिंगधारण को अवैदिक विधि सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे। उन लोगों के इस भ्रान्तिमूलक अज्ञान को दूर करने के लिये ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गई थी। इस कार्य में ग्रन्थकार पूरी तरह सफल रहे हैं। अपनी उक्तियों को शास्त्रों के अतिरिक्त शास्त्रानुकूल तर्कों के द्वारा भी प्रतिष्ठित करने के लिये ग्रन्थकार ने पूर्व और उत्तर मीमांसा के अतिरिक्त लौकिक न्यायों का भी भरपूर प्रयोग किया है। इससे ग्रन्थकार के भारतीय वाङ्मय के अगाध पाण्डित्य के साथ लोक-व्यवहार के समुचित ज्ञान की भी पुष्टि होती है।

ग्रन्थकार नन्दिकेश्वर शिवाचार्य

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने अपने को बसवेश्वर का पौत्र तथा महेशाचार्य का पुत्र बताया है और अपना नाम नन्दीश्वर (नन्दिकेश्वर) लिखा है। ये बसवेश्वर वीरशैव साहित्य के कन्नड वचनकार प्रसिद्ध बसवेश्वर से भिन्न हैं, क्योंकि उनका आविर्भावकाल ई० बारहवीं शताब्दी माना जाता है और प्रस्तुत ग्रन्थकार चौदहवीं शताब्दी के विद्यारण्य स्वामी और सोलहवीं शताब्दी के अप्पय्य दीक्षित को उद्धृत करते हैं। ग्रन्थकार के निश्चित समय आदि की विशेष जानकारी पाने के लिये हमें अभी प्रयास करना पड़ेगा। इस ग्रन्थ में अन्य भी अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को स्मरण किया गया है। उनकी सहायता से हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

ऊपर प्रो० साखरे के संस्करण की चर्चा की गई है। अपने विद्वत्तापूर्ण विस्तृत उपोद्घात (पृ० ६५७) में ग्रन्थकार का समय उन्होंने १७ वीं

शताब्दी निश्चित किया है। इसके लिये उन्होंने कालहस्ति दीक्षित, मंचण्ण, पण्डिताराध्य और अप्पय्य दीक्षित के नाम दिये हैं एवं पण्डिताराध्य पद से बसव पण्डिताराध्य का ग्रहण किया है। इसी आधार पर वे ग्रन्थकार का उक्त समय निर्धारित करते हैं। वस्तुतः यहाँ पण्डिताराध्य पद स्वतन्त्र नाम न होकर मंचण्ण का विशेषण है। अतः इसके आधार पर बसव की कल्पना करना निरर्थक है। हम जानते हैं कि श्रीपति पण्डिताराध्य, मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य और मंचण्ण पण्डिताराध्य—ये तीनों आन्ध्र-प्रदेश में पण्डितत्रयी के नाम से वीरशैव साहित्य में अतिप्रसिद्ध हैं। ये सभी आचार्य अप्पय्य दीक्षित से पहले हो चुके हैं, अतः इनके आधार पर ग्रन्थकार का कालनिर्धारण नहीं किया जा सकता। अभी तो हम इतना ही कह सकते हैं कि ये अप्पय्य दीक्षित के परवर्ती हैं।

ऊपर ग्रन्थकार के पितामह और पिता के नामों की चर्चा आ चुकी है। ग्रन्थ के मंगलाचरण के तीसरे श्लोक में इन्होंने अपने गुरु का नाम मल्लेश्वर दिया है। ग्रन्थकार यजुर्वेद के प्रमाण से लिंगधारण की सिद्धि करने के उपरान्त ऋग्वेद से भी इसी विषय की पुष्टि करते समय प्रारंभ में वीरेश्वर को नमन करते हैं (पृ० १२२)। यह भी उनके गुरु मल्लेश्वर का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। अथवा यह भी हो सकता है कि ग्रन्थकार ने यहाँ वीर गोत्र के प्रवर्तक आद्य पुरुष को इस नाम से स्मरण किया हो। प्रस्तुत ग्रन्थ में इनके द्वारा उद्धृत विद्यारण्य स्वामी, अप्पय्य दीक्षित आदि सभी आचार्य दाक्षिणात्य हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थकार भी दक्षिण देश के निवासी हैं। ग्रन्थकार श्रुति, स्मृति, पुराण और आगम साहित्य के विशाल भंडार से पूरी तरह से परिचित हैं और विभिन्न मत-मतान्तरों के परिनिष्ठित विद्वान् हैं, इसका परिज्ञान हमें ग्रन्थग्रन्थकार-मतमतान्तर सूची को देखने से हो जाता है। अपने तर्कों की पुष्टि में वे पूर्वमीमांसा और वेदान्त के न्यायों को स्थल-स्थल पर उद्धृत करते हैं और पूर्वपक्षी के तर्कों को छिन्न-भिन्न कर अपने मत की स्थापना करते हैं। इससे इनकी उभय-मीमांसा निष्णातता एवं तर्कपटुता प्रकट होती है।

शरट्टीकाकार पण्डित शिवकुमार शास्त्री

इस प्रौढ़ ग्रन्थ को शरट्टीका के बिना समझ पाना बड़ा कठिन है। शरट्टीकाकार प० शिवकुमार मिश्र जी का परिचय स्वर्गीय म. म. प.

नारायण शास्त्री खिस्ते जी ने "विद्वच्चरितपञ्चकम्" में दिया था। इधर प० बलदेव उपाध्याय जी की पुस्तक "काशी की पाण्डित्य परम्परा" प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थ के पृ० २०८-२३३ में विस्तार से मिश्र जी का जीवन-परिचय दिया गया है। यहाँ इनकी रचनाओं के विवरण के साथ इनकी उदारता, निर्भीकता और समाजसेवा के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। यहाँ बताया गया है कि सन् १९११ की जनगणना के अवसर पर शास्त्रीजी ने हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने के षड्यन्त्र से बचाया था। ऐसे उदाराशय विद्वान् का वीरशैव सम्प्रदाय के काशीस्थ विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासन जंगमवाड़ी मठ के तत्कालीन आचार्य श्री १००८ जगद्गुरु राजेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी से सम्पर्क होना स्वाभाविक था। उन्हीं के आग्रह पर शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ पर १९६० विक्रम संवत् (१९०३ ई०) में शरन्नाम्नी टीका लिखी थी। इस टीका में मिश्र जी ने पूर्व और उत्तर मीमांसा के न्यायों को उदाहरणों के द्वारा बड़ी सरल भाषा में समझाया है।

शास्त्री जी कितने सरल स्वभाव के और स्पष्टवादी थे, इसका परिचय शरट्टीका के ही इस श्लोक से मिल जाता है—

लोकैषणा भवत्येव यद्यप्यत्र प्रवर्तिका।
तथापि किञ्चिद् गौरीशस्तुष्येदिति मनोगतम्॥ (पृ. ७)

सरलता का दुरुपयोग करना मानव की दुर्बलता है। शास्त्री जी के इस वचन के साथ भी ऐसा ही हुआ। प्रो० साखरे ने अपने ऊपर उद्धृत ग्रन्थ के उपोद्घात (पृ० ६५८-६६०) में लिङ्गधारणचन्द्रिका की टीका और टीकाकार के विषय में लिखते हुए कुछ अनर्गल आक्षेप किये हैं और उनकी यह कड़वाहट इतनी बढ़ गई है कि उन्होंने वीरशैव मत की हिन्दू धर्म से अलग सत्ता स्थापित करने के लिये अपनी सारी बुद्धि लगा दी है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस ग्रन्थ के कर्णाटक भाषान्तरकार आस्थानविद्वान् सिरसि श्री गुरुशान्त शास्त्री जी ने इनके सभी आक्षेपों का सही समाधान कर दिया है।

सिक्ख मत को हिन्दू धर्म से अलग मान कर आज जो कुछ किया जा रहा है, वह हमें यह सोचने को बाध्य करता है कि ऐसी अनर्गल उक्तियों का क्या परिणाम हो सकता है। भारतीय आचार्यों ने तरतमभाव से पूरे

भारतीय वाङ्मय को प्रमाण माना है। इस विषय में कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के उद्भट विद्वान् अभिनवगुप्त के, जिनकी की दृष्टि वीरशैव मत के शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त से मिलती-जुलती है, जिसकी ओर टीकाकार ने भी ग्रन्थ के अन्त में (पृ० २८४) इंगित किया है; विचार हमारे लिये विशेष रूप से मननीय हैं। "पुराणानां नूनमागमानुवर्तित्वम्" शीर्षक निबन्ध में हमने अभिनवगुप्त के इन विचारों को उद्धृत किया है। तदनुसार हमारे लिये सभी मत-मतान्तर समादरणीय हैं। यह सब हमारे लिये ही नहीं, पूरी मानव जाति के लिये भारतीय आचार्यों का महनीय अवदान है। विदेशी कूटनीति ने आर्य-द्रविड़ जैसे भेदों की कल्पना द्वारा भारतीय जनता को टुकड़ों-टुकड़ों में बांट कर और नाना प्रकार के विकल्पों की सृष्टि कर उसको भयंकर आवर्तों में डुबो देने के षड्यन्त्र का बीजवपन किया है। इस षड्यन्त्र से हमें एकमात्र संस्कृत भाषा बचा सकती है। कन्नड़ सन्तों के उपदेश भी संस्कृत भाषा के आगम साहित्य से अनुप्राणित हैं। इस तथ्य को हमें हृदयंगम करना चाहिये और सभी प्रकार के षड्यन्त्रों के प्रति सदा सजग रहना चाहिये।

प्रथम संस्करण के संपादक

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के सम्पादक श्री काशीनाथ शास्त्री थे। ये कर्णाटक राज्य के अब्बीगेरि (अश्वत्थपुर) ग्राम के निवासी और नन्दिकेश्वर मठ के अध्यक्ष थे। इनके पिता का नाम ऐय्यप्पा था। शास्त्री जी ने वाराणसी में आकर साहित्य और तर्कशास्त्र का अध्ययन किया था और अपने काव्यशास्त्रज्ञ गुरु भालाक्ष पण्डित जी की प्रेरणा पाकर शरट्टीका की प्रतिलिपि तैयार कर और उसका संशोधन कर इस ग्रन्थ को छपवाया था। प्रथम संस्करण के अन्त में उनके ये तीन श्लोक मिलते हैं—

कर्णाटदेशगाश्वत्थपुरग्रामनिवासभृत् ।
नन्दिकेशमठालम्बकैय्यप्पाख्यात्मजन्मवान् ॥

साहित्ये तर्कशास्त्रे च वाराणस्यां कृतश्रमः ।
काशीनाथ इति प्रख्यां बिभ्रद् व्याख्यामिमां सुधीः ॥

विलिख्य शोधयित्वा चामुद्रयच्छम्भुतुष्टये ।
प्रेरितः काव्यशास्त्रज्ञैर्भालाक्षाह्वयपण्डितैः ॥

उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

इस प्रकार ग्रन्थकार, व्याख्याकार और प्रथम संस्करण के संपादक के प्रति अपनी वाङ्मयी पूजा समर्पित कर हम लिङ्गधारणचन्द्रिका से प्राप्त ग्रन्थ-ग्रन्थकार विषयक सूचनाओं को संगृहीत करना चाहते हैं। अनुभवसूत्र को यहाँ (पृ० १४२-१४३, १७३) वातुलागम का उत्तरभाग कहा है। पृ० २४० पर कालाग्निरुद्रोपनिषत् और रुद्रोपनिषत् का अलग-अलग उल्लेख किया है। गुरुमत शब्द से यहाँ प्रभाकर के मत का उल्लेख न होकर अपने गुरु के मत का प्रतिपादन हुआ है। पृ० १४० पर भी "गुरुचरणास्तु" कह कर उनके मत का विवरण दिया गया है, किन्तु यहाँ कहीं भी उनके किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। ब्रह्माण्डपुराण की चिदम्बरसंहिता (पृ० २३०), पद्मपुराण के शिवरहस्य खण्ड (पृ० १९४, २६५) और शिवगीता (पृ० २२१), स्कन्दपुराण की शंकरसंहिता (अनेक स्थलों पर) एवं कुमारसंहिता यात्राखण्ड (पृ० १०५) का यहाँ उल्लेख मिलता है।

स्कन्दपुराण के खण्ड और संहिता नाम के दो विभाग उपलब्ध हैं। सात खण्ड वाला विभाग उत्तर भारत में और छः संहिता वाला विभाग दक्षिण भारत में प्रसिद्ध है। शंकर संहितासंहिता विभाग में तीसरी है। खण्ड विभाग में माहेश्वर खण्ड के अन्तर्गत कुमारिका खण्ड उपलब्ध है, किन्तु यात्राखण्ड नाम का कोई उपविभाग वहां नहीं मिलता। लगता है संहिता विभाग की पहली सनत्कुमार संहिता को ही यहाँ कुमारसंहिता के नाम से उद्धृत किया गया है। यह संहिता ५० खण्डों में विभक्त है और इनमें प्रधानतः यात्राविषयक विवरण दिये गये हैं। सिद्धान्तशिखामणि को यहां (पृ० ९२) परशिव द्वारा उपदिष्ट बताया गया है। यद्यपि सिद्धान्त-शिखामणि के उपदेष्टा जगद्गुरु श्री रेणुकाचार्य तथा श्रोता अगस्त्य महर्षि हैं और इसके रचयिता श्री शिवयोगी शिवाचार्य हैं, तथापि इन सबने शैवागमों में परशिव द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का ही यहां प्रकाशन किया है। अतः औपचारिक रूप से यहां इस ग्रन्थ को परशिव द्वारा उपदिष्ट बताया गया है।[1] लिङ्गभट्ट की अमरकोश-व्याख्या का भी यहां (पृ० २२०-

---

१. न्यू कैटलागस केटलागरम् (भा० १, पृ० ३३०) में इसके अनेक हस्तलेखों का विवरण मिलता है। वहां इनके पिता का नाम वेंगलकामय भट्ट दिया है और लिखा है कि मल्लिनाथ ने इनको उद्धृत किया है।

२२१) उल्लेख है। यहां उद्धृत लिंगपुराण के सभी वचन श्रीकांची से १८८९ ई० में तेलगु लिपि में प्रकाशित लिंगपुराण के उत्तरभाग के २१वें अध्याय में मिल जाते हैं। मंचण्ण पण्डिताराध्य के विषय में हम पहले लिख चुके हैं। दर्पण के नाम से उद्धृत वचन शिवाद्वैतदर्पण में उपलब्ध हो जाता है, अतः यह उससे अभिन्न है। इसके कर्ता शिवानुभव शिवाचार्य हैं। शंकराचार्य भगवत्पाद का अपराधस्तव यहां (पृ० ११८,१२४) दो बार उद्धृत है। [1]कालहस्ति दीक्षित (पृ० ९२), कौशिकादित्य (पृ० १९७) आदि ऐसे नाम हैं, जिनकी सहायता से ग्रन्थकार के कालनिर्णय में सहायता मिल सकती है।

प्रामाण्यविचार

ब्रह्मसूत्र और महाभारत दोनों भगवान् बादरायण वेदव्यास की रचनाएँ मानी जाती हैं, किन्तु बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य, योग आदि मतों को अवैदिक बताया है। इसके विपरीत महाभारत में सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदोपनिषत् के नाम से प्रसिद्ध कृतान्तपंचक को स्वयं प्रमाण माना गया है। धर्म के निर्णय में इन सबका स्वतन्त्र प्रामाण्य स्वीकृत है। महिम्नस्तोत्र के रचयिता पुष्पदन्त ने "त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति" इस श्लोक में इन्हीं मतों का उल्लेख किया है। मध्यकालीन प्रसिद्ध धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थ वीरमित्रोदय में इन सबको धर्म में प्रमाण माना है। प्रस्तुत ग्रन्थ में (पृ० २३३-२४०) भी आगमों के प्रामाण्य के प्रसंग में तीन विकल्प उठाये गये हैं और कहा है कि आगमों को प्रमाण न मानने पर गायत्री-पुरश्चरण, मन्त्रसंस्कार जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों का हमें ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, कुण्डमण्डप-निर्माण, षडध्वशुद्धि, मुद्रा, न्यास आदि का ज्ञान भी हमें न हो सकेगा। अन्त में यहाँ (पृ० २३८-२३९) कूर्मपुराण आदि में वर्णित उन वेद-विरुद्ध आगमों का परिचय दिया गया है, जिनको कि आस्तिक जन धर्म के प्रति प्रमाण नहीं मानते।

---

१. न्यू कैटलागस कैटलागरम् (भा० ४, पृ० ३९) में कालहस्ति कवि उल्लिखित हैं। वहां बताया गया है कि ये अप्पय्य दीक्षित के शिष्य हैं।

अभी कुछ वर्षों पहले नेपाल से त्रिलोचन शिवाचार्य का प्रतिष्ठालक्षण-सारसमुच्चय नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसका रचनाकाल वहाँ विक्रम संवत्सर की नवीं शताब्दी माना गया है। वहां ये दो श्लोक उपलब्ध होते हैं—

न वेदे त्रिविधं लिङ्गं न च प्रासादलक्षणम्।
न द्वारं मण्डपादिश्च स्थापनं न शिवादिके ॥
शिवसिद्धान्त एवोक्तं लक्षणं शाङ्करादिकम्।
तस्माच्छैवेन मन्त्रेण प्रतिष्ठेत शिवादिकम् ॥(२।१५६-१५७)

अर्थात् वेद में स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक त्रिविध लिंग का स्वरूप, प्रासाद (मन्दिर), द्वार, मण्डप आदि के निर्माण की विधि, मन्दिरों में शिवलिंग आदि की प्रतिष्ठाविधि—ये सब विषय कहीं भी वर्णित नहीं हैं। इनका विवरण तो शैवागमों में ही मिलता है, अतः इनका अनुष्ठान शैवागमों में वर्णित पद्धति से ही करना चाहिये।

त्रिविध लिंग

उक्त त्रिविध लिंग वीरशैव सिद्धान्त में इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें इष्टलिंग सकल अथवा स्थूल, प्राणलिंग सकलनिष्कल अथवा सूक्ष्म और भावलिंग निष्कल अथवा पर स्वरूप है। इसी रूप में इनकी उपासना की जाती है। इष्टलिंग बाह्येन्द्रियगोचर, प्राणलिंग मनोगोचर तथा भावलिंग अतीन्द्रिय, अगोचर है। भावलिंग और प्राणलिंग का साक्षात्कार करने के लिये स्थूलारुन्धती न्याय से इष्टलिंग का सहारा लेना पड़ता है। श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य का कहना है कि जो व्यक्ति दहराकाश में अन्तर्लिंग की उपासना का सामर्थ्य अर्जित करना चाहता है, उसे पहले बाह्य लिंग को धारण कर और प्रतिदिन उसे हस्तपीठ पर स्थापित कर उसकी पूजा करनी चाहिये। तभी वह मनोग्राह्य प्राणलिंग और अतीन्द्रिय, अगोचर भावलिंग की उपासना में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार इष्टलिंग की उपासना स्थूल, प्राणलिंग की सूक्ष्म तथा भावलिंग की उपासना परम सूक्ष्म मानी जाती है। इस त्रिविध उपासना की विधि को वीरशैवाचार्य श्रीपति पण्डिताराध्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के श्रीकर भाष्य में "जीवमुख्य" (१।२।३२) आदि सूत्र की व्याख्या करते समय विस्तार से बताया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वीरशैव मत का मूलाधार इष्टलिंग की उपासना है। इस मत के प्रायः सभी आचार्यों ने इस विषय पर प्रसंगानुसार बहुत कुछ लिखा है, किन्तु नन्दिकेश्वर शिवाचार्य ने इष्टलिंगधारण और उसकी उपासना के समर्थन में ही अपने ग्रन्थ का पूर्व-भाग समर्पित कर दिया है। यहां वेद, उपनिषद्, स्मृति, आगम, पुराण, महाभारत ही नहीं, अलंकारशास्त्र, शिवगोता आदि के प्रमाण से और अपनी विशिष्ट तर्कपद्धति से भी इष्टलिंग धारण की वैदिकता सिद्ध की गई है। इसी तरह से ग्रन्थ के उत्तरभाग में इष्टलिंगधारी के लिये भूनिक्षेप विधि की शास्त्रीयता को प्रबल प्रमाणों से प्रतिष्ठापित किया है। यहां हम पाठकों की सुविधा के लिये ग्रन्थ का संक्षेप प्रस्तुत करते हैं।

लिङ्गधारणचन्द्रिका का संक्षेप

पूर्वभाग

मंगलाचरण में ग्रन्थकार भगवान् शिव, उनके शरभावतार और अपने गुरु मल्लेश्वर के प्रति नमन कर भगवती से प्रार्थना करते हैं कि वेद-शास्त्रों का बिना आलोचन किये जिन्होंने लिंगधारण को अवैदिक बताया है, उनके मत का खण्डन करने की शक्ति मुझे दें। इस प्रकार ग्रन्थ की प्रतिपाद्य विषयवस्तु को प्रस्तुत करने के साथ ग्रन्थकार ने मंगलाचरण के व्याज से शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की भी स्थापना की है।

पूर्वपक्ष

इसके बाद ग्रन्थकार ने पूर्वपक्ष के रूप में लिंगधारण को अवैदिक बताने वालों की युक्तियों को विस्तार से (पृ० ७-५६) तर्कपूर्ण पद्धति से उपस्थापित किया है। ग्रन्थकार ने पहले यहाँ बताया है कि वेद, शास्त्र, पुराण तथा कामिक आदि आगमों मे दहराकाश में अन्तर्लिंगानुसन्धान रूप अन्तर्लिंग धारण का विधान है। यह शिव की उपासना का सूचक है। पूर्वपक्षी का कहना है कि उक्त मन्त्र में शिव का उल्लेख न होकर नारायण के ध्यान की विधि बताई गई है। इसका समाधान यह है कि उपक्रमोप-संहार न्याय से तथा अनेक श्रुतियों में आये विशेषणों के आधार पर शिव

की ही उपासना यहाँ बताई गई है और अपरिमिताधिकरण न्याय से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि नारायण भी शिव की ही उपासना करते हैं। प्रयाजानुयाज न्याय से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ ब्रह्मनिष्ठ यतियों के हृदय का उल्लेख न होकर नारायण संबन्धी हृदय का ही ग्रहण किया जा सकता है।

पूर्वपक्षी का इस पर कहना है कि इससे इतना हो सिद्ध होगा कि दहराकाश में शिव की उपासना की जाती है, किन्तु अन्तर्लिंगधारण की सिद्धि इससे कैसे होगी ? इसका उत्तर यह है कि हंसोपनिषत्, वामनपुराण आदि के वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हृदयान्तर्वर्ती शिव लिंग रूप में विराजमान हैं। इस प्रकार ज्योतिर्लिंगानुसन्धान रूप अन्तर्लिंगधारण का विधान बताने के बाद इष्टलिंग रूप बाह्य लिंगधारण का भी यहाँ सर्वलिंग वाक्य द्वारा विधान किया गया है। इसी बात को आगे सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

यहाँ पहले इस वाक्य में लिङ्, लोट्, तव्यत् आदि प्रत्ययों के अभाव में भी इसकी विधि-बोधकता में प्रमाण दिया गया है और बाद में विधि के अपूर्व, नियम और परिसंख्या नामक भेदों के सोदाहरण लक्षण बताये गये हैं। यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि सर्वलिंग वाक्य में अपूर्व विधि नहीं बन सकती। इसके उत्तर में यहाँ ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार नीलकण्ठाचार्य तथा भेदवादी आनन्दतीर्थ के मत का उल्लेख करते हुए अपूर्व विधि की स्थापना की गई है। पूर्वाचार्यों के मत के अनुसार यहाँ अपूर्व विधि नहीं बन सकती, तो नियम अथवा परिसंख्या विधि बन जायगी। किन्तु पूर्वपक्षी युक्तियों के सहारे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि ये दोनों विधियाँ भी यहां नहीं बन सकती। ग्रन्थकार ने यहाँ तक एक तरह से पूर्वपक्ष का ही विस्तार किया है।

सिद्धान्त (वैदिक प्रमाणों से लिंगधारण की सिद्धि)

इसके बाद सिद्धान्तपक्ष की स्थापना करते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि सर्वलिंग वाक्य में अपूर्व विधि ही है। अनेक युक्तियों, न्यायों और व्याकरण आदि शास्त्रों के प्रमाण से ग्रन्थकार अपने सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं और एक-एक कर पूर्वपक्षी के सभी तर्कों का खण्डन कर पाणि-मन्त्र के प्रमाण से पाणिपीठ पर इष्टलिंग की पूजा को अपूर्व विधि के रूप

में प्रतिष्ठित करते हैं। पाणिमन्त्र पद की पूर्वपक्षी द्वारा की गई व्याख्याओं की दुर्बलता को बताते हुए, सर्वलिंग वाक्य की स्थावर-लिंगविधायकता का खण्डन करते हुए और उपक्रमोपसंहार न्याय से पूरे प्रकरण की एकवाक्यता स्थापित करते हुए यहाँ स्पष्ट किया गया है कि सन्ध्योपासन आदि की तरह पाणिपीठ पर इष्टलिंग का पूजन भी नित्यविधि है। अपनी इस स्थापना के प्रमाण में ग्रन्थकार ने महाभारत, लिंगपुराण, स्कन्दपुराण की शंकरसंहिता और आदित्यपुराण के वचनों को दिया है।

पूर्वपक्षी द्वारा यहाँ पुनः शंका उठाई जाती है कि अशुचि अवस्था में इष्टलिंग की उपासना कैसे की जा सकती है और नित्यविधि मान लेने पर भी बायाँ हाथ तो अपवित्र माना जाता है। इस अपवित्र हाथ पर रखकर इष्टलिंग की पूजा नहीं की जा सकती। इन शंकाओं का भी ग्रन्थकार ने यहाँ शास्त्र और युक्तियों के सहारे समाधान प्रस्तुत किया है। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि सर्वलिंग वाक्य की वेदभाष्यकार विद्यारण्य स्वामी ने इस तरह की व्याख्या नहीं की। सिद्धान्ती का कहना है कि यह तो बहरे के कान में फुसफुसाने के समान है। विद्यारण्य स्वामी ने भले ही ऐसी व्याख्या न की हो, कालहस्ति दीक्षित, मंचण्ण पण्डिताराध्य जैसे विद्वानों ने इस मन्त्र की हमारे द्वारा प्रदर्शित व्याख्या ही की है। विद्यारण्य स्वामी ने तो भगवती दुर्गा से संबद्ध मन्त्रों की भी व्याख्या नहीं की, तो क्या समय मत के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर के द्वारा व्याख्यात ऐसे मन्त्रों को अप्रमाण माना जायगा? भगवान् वेदव्यास ने भी श्रुति के अर्थ का उपबृंहण करने वाले लिंगपुराण आदि में और श्रीजगद्गुरु रेणुकाचार्य ने सिद्धान्तशिखामणि में भी इसी विषय का विस्तार किया है।

तैत्तिरीय शाखा के "ॐ नमो ब्रह्मणे" इत्यादि मन्त्र से भी इसी मत की पुष्टि होती है। इस मन्त्र के धारण, अनिराकरण आदि पदों की रामानुजमत संमत व्याख्या का सप्रमाण खण्डन कर ॐकार की विष्णुवाचकता का निराकरण करते हुए उसकी शिववाचकता, मगलार्थता और लिंगपरकता सिद्ध की गई है तथा बताया गया है कि धारण पद का अन्वय केवल भस्म और रुद्राक्ष के साथ ही न होकर प्रधानतः इष्टलिंग के साथ भी है। यहाँ इस विषय को पुष्ट करने के लिये ब्रह्माण्डपुराण और स्कन्दपुराण की कुमारसंहिता के यात्राखण्ड का भी प्रमाण दिया गया है।

तैत्तिरीय शाखा के "यश्छन्दसामृषभः" इत्यादि मन्त्र से भी यहाँ इष्टलिंगधारण की सिद्धि करने के उद्देश्य से पूरे प्रकरण की इसी में संगति बताई गई है और श्वेताश्वतर, सुबाल आदि उपनिषदों के प्रमाण से इस विषय को पुष्ट किया गया है। प्रसंगवश यहाँ श्रुति और स्मृति का विरोध उपस्थित होने पर स्मृति की दुर्बलता को दर्शाया गया है तथा ज्ञान के साथ कर्म में भी मुक्ति-साधनता सिद्ध की गई है। इस विचार का उपसंहार करते हुए यहाँ विषय के उपबृंहण के रूप में स्कन्दपुराण की शंकरसंहिता के वचन उद्धृत किये गये हैं।

यजुर्वेदीय रुद्रानुवाक से भी लिंगधारण की सिद्धि को बता कर यहाँ कहा गया है कि न केवल यजुर्वेद, ऋग्वेद के मन्त्रों में भी इष्टलिंगधारण का विधान मिलता है। "पवित्रं ते विततम्" प्रभृति ऋग्वेदीय मन्त्र में स्थित ब्रह्म पद की सिद्धान्तशिखामणि, शंकराचार्य कृत अपराधस्तव आदि के प्रमाण से लिंगपरकता का प्रतिपादन कर और पूरे मन्त्र की विस्तृत व्याख्या कर विविध शंकाओं का समाधान करते हुए और मीमांसाशास्त्र के ऐन्द्रयधिकरण न्याय, शाखान्तर न्याय आदि न्यायों का प्रमाण देते हुए एवं सोम पद में श्लेष मानकर उसका उमा सहित शिव अर्थ करते हुए प्रकरणगत विरोध का परिहार कर अन्वय-व्यतिरेक पद्धति से मन्त्र की इष्टलिंगपरकता दिखाई गई है।

रामानुज मत का खण्डन

रामानुज मत के अनुयायी इस मन्त्र से शख-चक्र धारण की सिद्धि करते हैं। यहां (पृ० १३४-१४०) पहले विस्तार से उनके मत को दिखाया गया है। ये किसी कोश के वचन को उद्धृत कर पवित्र पद को चक्र का पर्याय मानते हैं और मन्त्र की विष्णुप्रतिपादकता सिद्ध करते हैं। ग्रन्थकार का कहना है कि इस प्रकार का वचन हमें किसी कोश में नहीं मिला। 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से उसको मान लेने पर भी उक्त मन्त्र द्वारा चक्र-धारण की सिद्धि नहीं हो पाती। चक्र को क्यों धारण किया जाय, यहाँ तीन तरह के विकल्प हो सकते हैं—वह नारायण का लांछन है, उसका स्वरूप है अथवा नारायणाश्रित है। पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि केवल चक्र ही नारायण का चिह्न नहीं है, कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग और कौस्तुभ मणि भी उनके लांछन हैं। उसको नारायणस्वरूप मानने

पर धार्यधारकभाव सिद्ध नहीं होने पावेगा। नारायण द्वारा धारित होने से इसे हमें भी धारण करना चाहिये, इस तीसरे पक्ष को मानने पर भी दो विकल्प उपस्थित होंगे कि नारायण अन्तर्यामी हैं, अतः चक्र को धारण करते हैं अथवा उसको शरीरी के रूप में धारण करते हैं? अन्तर्यामी के रूप से तो वे न केवल चक्र को, किन्तु संसार की सभी वस्तुओं को धारण करते हैं। तब तो हमें केवल चक्र को न धारण कर सभी वस्तुओं को धारण करना पड़ेगा। यदि वे शरीरी के रूप में चक्र को धारण करते है, तो शालग्रामशिला, ताम्रमूर्ति आदि में प्रतिष्ठित नारायण की जैसे हम पूजा करते है, उसी तरह से हमें भुजा पर धारित चक्र की भी पूजा करनी पड़ेगी, किन्तु ऐसा किया नहीं जाता। अतः तीनों विकल्पों के न बन पाने से चक्र-धारण की सिद्धि किसी भी तरह से नहीं हो सकती।

'अतप्ततनु' प्रभृति मन्त्र से इसकी सिद्धि हो जायगी, यह भी बिना मेघ के निर्मल आकाश से मूसलाधार वर्षा की आकांक्षा के समान है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में तप्तमुद्रा धारण करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। अतः मन्त्र की तत्परक व्याख्या कभी नहीं हो सकती। फिर ऐसा करने पर प्रकरण का भी विरोध होगा, क्योंकि यह मन्त्र तो सोम प्रकरण में पठित है और सोम पद, श्लेष की महिमा से उमा सहित शिव का सूचक है, ऐसा पहले बताया जा चुका है।

शक्तिग्राहक प्रमाणों में कोश की गणना की जाती है, किन्तु बाधक-स्थल में इसको प्रमाण नहीं माना जाता। अमरकोश में नील, शुक्ल आदि पद रूप के वाचक हैं, किन्तु नीला घड़ा, सफेद कपड़ा आदि स्थलों पर निरूढ लक्षणा के सहारे तत्तद्रूपविशिष्ट द्रव्य का ग्रहण किया जाता है। रूढि की योगापहारकता भी वहीं बनती है, जहाँ कि रूढ्यर्थ का बाध नहीं होता। ऐसा न मानने पर "पङ्कजमानय" इस वाक्य में पंकज पद के रूढ्यर्थ पद्म का बाध हो जाने पर भी योगार्थ कुमुद का बोध नहीं होने पावेगा। प्रस्तुत स्थल में तो पवित्र पद की चक्रार्थकता का बाध पूर्वोक्त तीन विकल्पों के आधार पर बताया जा चुका है।

"तप्तं चक्रं द्विभुजे धार्यम्" इस विधिवाक्य से भी चक्रधारण की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा विधिवाक्य वेदों में कहीं देखने को नहीं मिलता। लुप्त शाखा की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि

चक्रधारण को प्रत्यवायजनकता बताई जा चुकी है। ऐसे स्थलों पर लुप्त श्रुति की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर इससे चक्रधारण की ही सिद्धि हो पावेगी, शंखधारण की नहीं। उस स्थिति में आपके द्वारा निर्दिष्ट शंख और चक्र के धारणविधायक वाक्य की संगति कैसे बैठेगी।

इस प्रकार युक्तियों के सहारे ग्रन्थकार ने उक्त मन्त्र के रामानुज मत संमत शंख-चक्र धारणपरक अर्थ का खण्डन कर अपने गुरु के द्वारा प्रतिपादित मन्त्र की लिंगधारणपरकता को अनुभवसूत्र आदि के प्रमाणों से सुदृढ़ कर किसी अन्य आचार्य के मत को भी दिखाते हुए इनकी कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला है और लिंगपुराण के विस्तृत उद्धरणों के साथ सिद्धान्तशिखामणि, शंकरसंहिता आदि के वचनों की सहायता से उक्त श्रुति के अर्थ का विस्तार किया है। पुराणों और आगमों को वेदार्थ का उपबृंहक, अर्थात् विस्तार करने वाला कहा जाता है। इसलिये यहाँ वेद के द्वारा संक्षेप में बताये गये विषयों के पुराण और आगम द्वारा किये गये विस्तार को विशद रूप में बताया गया है।

"पवित्रम्" इत्यादि मन्त्र से ही नहीं, "अयं मे हस्तः" इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र से भी इष्टलिंगधारण की सिद्धि होती है। पहले यहाँ "हस्तगतो भगवान्" न कह कर जो "हस्तो भगवान्" ऐसा कहा गया है, उसकी सार्थकता पुराण और उपनिषद् वाक्यों के द्वारा स्थापित की गई है। वातुलागम, वीरागम, शंकरसंहिता, ईशावास्योपनिषद् आदि के वाक्यों को उद्धृत कर यहाँ यह भी बताया गया है कि धारित इष्टलिंग का प्राण रहते कभी परित्याग नहीं किया जाता। पूर्वपक्षी यहाँ प्रश्न उठाता है कि भगवान् शब्द का प्रयोग तो विष्णु के लिये होता है, तब इससे शिव का बोध कैसे हो सकता है? सिद्धान्ती का उत्तर है कि मीमांसाशास्त्र के अवदान न्याय के अनुसार भगवत्पद का हस्तपद से सांनिध्य होने से यहाँ वह शिव का ही वाचक माना जायगा, क्योंकि शिव के सिवाय अन्य किसी भी देवता को हाथ पर धारण नहीं किया जाता। यहाँ ग्रन्थकार "शिवाभिमर्शनः" पद की व्याख्या करते हुए कैमुतिक न्याय (दण्डापूपिका-न्याय) के दृष्टान्त से शिवभक्त के सारे शरीर की ही पवित्रता स्थापित करते हैं। "अयं मे हस्तः" इत्यादि श्रुति-प्रतिपादित अर्थ का ही उपबृंहण शंकरसंहिता, किरणागम आदि के वचन भी करते हैं।

अलंकार शास्त्र द्वारा लिंगधारण-सिद्धि

यजुर्वेद और ऋग्वेद के मन्त्रों से ही नहीं; उपमा, दृष्टान्त आदि अलंकारों के उदाहरण से भी इष्टलिंग धारण की सिद्धि होती है। जाबालोपनिषद् में कहा गया है कि जो त्रिपुण्ड्र की निन्दा करते हैं, वे शिव की ही निन्दा करते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि शिव की निन्दा करने वालों का बहिष्कार करना चाहिये। इसी दृष्टान्त से त्रिपुण्ड्र की निन्दा करने वाले भी बहिष्कार्य हैं, यह सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार लिंगधारण की प्रशंसा करने वाले वाक्यों के दृष्टान्त से लिंगधारण की कर्तव्यता सिद्ध हो जायगी। ग्रन्थकार ने यहाँ लुप्तोपमा तथा दृष्टान्त आदि अलंकारों के आधार पर अन्तर्लिंगधारण के साथ बहिर्लिंगधारण की भी सिद्धि कैमुतिक न्याय के आधार पर की है।

तत्त्वमस्यादि वाक्य से लिंगधारण-सिद्धि

"तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" जैसे महावाक्यों से भी ग्रन्थकार ने लिंगधारण को सिद्ध किया है। इन वाक्यों का अर्थ बताने के बाद तत्, त्वम् और असि पदों की लिंग, अंग और सामरस्यपरकता को स्थापित करने के लिये यहाँ गुरुशिष्यसंवादात्मक आगमवचन, शंकरसंहिता, अनुभवसूत्र आदि के वचनों को उद्धृत करते हुए इनकी वाच्यार्थता, लक्ष्यार्थता आदि की विस्तार से समीक्षा की गई है। इस प्रसंग में शरट्टीकाकार ने अद्वैत वेदान्त और वीरशैव संमत शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के भेद को हृदयहारी उक्तियों के द्वारा स्पष्ट किया है।

स्मृतियों द्वारा लिंगधारण सिद्धि

वेद, उपनिषद्, वेदान्तशास्त्र आदि के प्रमाण पर लिंगधारण की सिद्धि करने के बाद ग्रन्थकार ने स्मृतियों के प्रमाण से भी इसको सिद्ध किया है। प्रथमतः "मुखे मन्त्रः" इस गौतम स्मृति के वाक्य पर ऊहापोह प्रस्तुत कर ग्रन्थकार ने मनुस्मृति, बोधायनस्मृति और शातातपस्मृति के प्रमाण दिये हैं। पूर्वपक्षी यहां पुनः लिंगधारण और पूजनविधि की नित्यता में सूतक, रजोदोष आदि की उद्भावना करता है। इसके साथ ही वह लिंगधारण शास्त्रनिषिद्ध कार्य है, इसमें प्रमाण भी देता है। सिद्धान्ती यहाँ लिंगधारण की नित्यता को अनेक प्रमाणों से पुनः पुष्ट करता है और सूतक, रजोदोष आदि की प्रतिबन्धकता को सिद्धान्तशिखामणि,

पराशरस्मृति आदि ग्रन्थों और पौण्डरीक दीर्घसत्र, कन्याविवाह आदि दृष्टान्तों के आधार पर दूर करता है। कौशिकादित्य की षडशीतिस्मृति के प्रमाण पर ग्रन्थकार यह भी बताते हैं कि एक बार कार्य आरंभ कर दिये जाने पर बीच में सूतक आदि दोषों के आने पर भी उस कार्य को रोका नहीं जाता। किसी कार्य का प्रारंभ कब से माना जाय, इसकी जानकारी के लिये प्रमाण के रूप में उन्होंने यह श्लोक उद्धृत किया है—

प्रारम्भो वरणं यज्ञे संकल्पो व्रतसत्रयोः।
नान्दीमुखं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिग्रहः॥ (पृ० १९७)

ग्रन्थकार ने यहाँ लिंग की अशुचिता को और अशुचि के स्पर्श से संस्कारों के नाश की बात को कच्छपी के दुग्धपान के समान दुराशामात्र बताया है। यहाँ स्थावरलिंग और प्राणलिंग को विषमता को भी स्पष्ट किया गया है। लिंगधारण शास्त्रनिषिद्ध है, पूर्वपक्षी की इस शंका का भी यहाँ सप्रमाण खण्डन किया गया है। साथ ही वीरशैव और स्मार्तशैव के भेद को स्पष्ट करते हुए पाषण्ड पद की प्रवृत्ति के निमित्त को भी स्पष्ट किया गया है।

श्रुति और स्मृति का विरोध उपस्थित होने पर विरोधाधिकरणन्याय से श्रुति प्रबल मानी जाती है। इस विषय की चर्चा पहले भी हो चुकी है। इस स्थिति में सर्वलिंग श्रुति द्वारा प्रतिपादित इष्टलिंगधारण का प्रतिषेध करने वाली स्मृतियां प्रमाण नहीं मानी जा सकतीं। वेदतुल्य महाभारत के अनुशासन पर्व के प्रमाण से लिंगधारी द्विजों की दानपात्रता मानी गई है। अतः श्रुति, भगवद्गीता, मनुस्मृति और अभियुक्तवचन के प्रमाण से निन्द्य वही माना जाता है, जो अपने धर्म का परित्याग कर दूसरे के धर्म को स्वीकार कर लेता है। एकमात्र शिव की ही उपासना करने वाले इष्टलिंगधारी की तो शंकरसंहिता, वीरागम, मकुटागम, शिवधर्मोत्तर आदि में भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने पाषण्ड, पतित, व्रात्य, लिंगवृत्ति आदि पदों की प्रवृत्ति के निमित्त पर विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण, धर्मशास्त्र, कोश आदि के प्रमाण से विचार किया है। इसके बाद "नहि निन्दा" न्याय को प्रस्तुत करते हुए यहाँ बताया गया है कि वस्तुतः इन वाक्यों का निन्दा में विनियोग न होकर स्तुत्य कर्म की प्रशंसा में विनियोग माना जाता है।

पुराण और लिङ्गधारण

इसी प्रसंग में पद्मपुराण की शिवगीता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि महर्षि अगस्त्य ने सीतावियोगजन्य दुःख की निवृत्ति के लिये श्रीराम को शिव की आराधना करने का उपदेश करते हुए कहा था कि इष्टलिङ्ग की और उसके उपासक की निन्दा करने वाला मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि इष्टलिङ्गधारी और उसका उपासक ही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

इसके बाद ग्रन्थकार ने—"महाजनो येन गतः स पन्थाः" इस न्याय का अनुसरण करते हुए यहाँ इष्टलिङ्गधारण में लिङ्गपुराण, स्कन्दपुराण की शंकरसंहिता, सिद्धान्तशिखामणि, ब्रह्मवैवर्त, आदित्य, पराशर, कूर्म आदि पुराणों के वचनों को उद्धृत किया है। पूर्वपक्षी यहाँ कहता है कि ये सब वचन पीठ आदि पर शिवपूजन का विधान करते हैं, शरीर पर धारित इष्टलिङ्ग की करपीठ पर पूजा का नहीं। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्व उदाहृत पुराण वचनों में स्पष्ट रूप से इष्टलिङ्गधारण और करपीठ पर उसके पूजन का विधान है। यज धातु की संगति-करणार्थता के आधार पर भी इसी विषय की पुष्टि होती है।

आगमप्रामाण्य विचार

कामिकादि वातुलान्त २८ शैवागमों से भी इस विषय की पुष्टि होती है। यहाँ ग्रन्थकार ने आगम-प्रामाण्य विषयक तीन विकल्प प्रस्तुत किये है और कहा है कि इन आगमों को प्रमाण न मानने पर गायत्री आदि मन्त्रों की पुरश्चरण आदि क्रियाएँ, न्यास, आसनशुद्धि आदि के अनुष्ठान की विधि हमें कहाँ से ज्ञात होंगी? शिवागमों के प्रामाण्य के आधार पर ही प्रपंचसार आदि ग्रन्थों की शंकराचार्य आदि ने रचना की है। कूर्मपुराण आदि में वर्णित कुछ मोहन-शास्त्रों की अप्रामाणिकता तो सभी को मान्य है।

उत्तरभाग

भूनिक्षेप विधि की शास्त्रीयता

पूर्वभाग में इष्टलिंगधारण और पाणिपीठ पर उसके पूजन को पूर्ण रूप से वैदिक सिद्ध करने के बाद अब उत्तरभाग में मृत व्यक्ति के दाह-संस्कार के समान भूनिक्षेप की विधि भी शास्त्रसंमत है, इस विषय को

श्रुति, स्मृति, आगम, पुराण आदि के प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। यहाँ ऋग्वेद के खिल पाठ में पठित "कर्दमेन प्रजाः" प्रभृति मन्त्र को उद्धृत कर और उसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कर इस पाँचभौतिक स्थूल देह को पाँच भूतों में सबसे स्थूल पृथ्वी को समर्पित करने का विधान बताया है और इसमें कूर्मपुराण की भी स्वीकृति दी गई है। छागपशुन्याय से यहाँ दहन और खनन दोनों विधियों की सार्थकता दिखाई गई है। इस विषय में ग्रन्थकार ने शिवाद्वैतदर्पणकार को भी उद्धृत किया है। आगे यहाँ स्पष्ट किया गया है कि इस विषय में सदानन्दोपनिषद् तथा अन्य उपनिषदों में भी इष्टलिंगधारण और लिंगधारी के लिये भूनिक्षेप का विधान स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है।

ग्रन्थकार ने इसके बाद शिवधर्मशास्त्र का वचन उद्धृत किया है, जिसमें बताया गया है कि जले हुए को जलाया नहीं जाता, पके हुए को पकाया नहीं जाता। इष्टलिंगधारी शिवयोगी का स्थूल शरीर तो ज्ञानाग्नि से पहले भी भस्म हो चुका है, अतः पुनः उसे अग्नि को समर्पित करने की आवश्यकता नहीं है। उसका तो भूनिक्षेप ही करना चाहिये। यहाँ मीमांसा के सावकाश-निरवकाश न्याय से भी दहनविधायक और खनन-विधायक वाक्यों में समन्वय स्थापित किया गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में उभयविध व्यवस्था का निरूपण किया गया है। वातुलोत्तर तन्त्र में भी दहन और खनन दोनों की श्रुतिसंमतता तथा अलग अलग व्यवस्था का स्पष्ट निरूपण किया गया है।

यहाँ पूर्वपक्षी "आहिताग्निभिर्दहन्ति" प्रभृति कल्पसूत्र के वाक्य को प्रमाण के रूप में उपस्थापित कर खनन विधि की अशास्त्रीयता को प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है, किन्तु ग्रन्थकार ने श्रुति-स्मृति प्रतिपादित वानप्रस्थ आश्रम संबन्धी व्यवस्था की ओर ध्यान आकृष्ट कराते हुए बताया है कि वही व्यवस्था इष्टलिंगधारी के लिये भी मानी जायगी। इसकी पुष्टि में यहाँ मनुस्मृति, शातातपस्मृति, शौनकस्मृति आदि के प्रमाण भी दिये गये हैं और अन्त में सदानन्दोपनिषद्, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, शंकरसंहिता, शिवधर्मोत्तर, वीरागम, शिवरहस्य खण्ड आदि के प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि अग्निहोत्र, सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मों को न करने वाला जैसे प्रत्यवाय का भागी होता है, वैसे ही इष्टलिंगधारी के देह का दाहसंस्कार करने वाला भी प्रायश्चित्ती माना जायगा।

ग्रन्थकार ने यहां कर्म और ज्ञान की मुक्तिसाधनता के प्रसंग को उठाते हुए कर्म द्वारा ही मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, तथा शंकराचार्य ने जैसे कलिवर्ज्य प्रकरण में निषिद्ध संन्यासाश्रम को भी स्वीकृति दी है, उसी तरह से यहाँ आंगिरसस्मृति, मनुस्मृति, सूतसंहिता आदि के प्रमाण से दहन के साथ खनन को भी मान्यता देने की बात कही है। इसी प्रसंग में यहाँ द्वादशाह श्राद्ध के समय की जाने वाली सापिण्ड्य विधि के विषय में भी विचार किया गया है।

सापिण्ड्य विचार

मीमांसाशास्त्र में यह विधान है कि प्रकृति याग के अनुसार ही विकृति याग किया जाता है। प्रकृति याग में व्रीहि की हवि तैयार करते समय कूट कर उसके छिलके निकालने का विधान है। एक विकृति याग में सुवर्ण के तण्डुल से हवन किया जाता है। क्या यहाँ भी अवघात होना चाहिये? ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। सोने से बनाये गये चावलों पर तो छिलका होता नहीं। अतः छिलके निकालने के लिये किये जाने वाले अवघात (धान को कूटना) का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसी अवस्था में यहाँ अवघात नहीं किया जाता। उसी तरह से सापिण्ड्य श्राद्ध का प्रयोजन है मृत व्यक्ति के प्रेतत्व की निवृत्ति। इष्टलिंगधारी के शरीर में तो प्रेतत्व की प्राप्ति ही नहीं होती, अतः यहाँ भी उक्त न्याय के अनुसार प्रेतत्व की निवृत्ति के लिये की जाने वाली सापिण्ड्य विधि का कोई प्रयोजन न होने से वह नहीं की जाती। मकुटागम, चन्द्रज्ञान, वीरागम, पद्मपुराण आदि के प्रमाणों से ग्रन्थकार ने यहां इसी विषय पर विचार करते हुए तत्त्वसंयोजन और कलासंयोजन की विधि बताकर मार्ग शैवों और निराभार शैवों के कर्तव्यों का निरूपण किया है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यहाँ पूर्व तथा प्रस्तुत संस्करण का परिचय देते हुए ग्रन्थकार, संस्कृत टीकाकार, हिन्दी भाषान्तरकार और प्रथम संस्करण के संपादक के विषय में आवश्यक जानकारी देकर उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का विवरण देते हुए वीरशैव मत की प्रामाणिकता पर विचार किया है और त्रिविध लिंग का निरूपण कर ग्रन्थ के पूर्व और उत्तर भाग की विषय वस्तु का संक्षिप्त परिचय दिया है। आशा है इससे छात्रों को

ग्रन्थ का सार समझने में सहायता मिलेगी। इस कार्य में हम काशी ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी की आज्ञा से तथा कर्णाटक राज्य स्थित गुलेदगुड्डु-अमरेश्वर मठ के अध्यक्ष डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य की प्रेरणा से यहाँ प्रवृत्त हुए हैं। यह एक अच्छा सुयोग रहा है कि शरट्टीकाकार के दौहित्र पण्डित करुणापति त्रिपाठी जी ने इस ग्रन्थ का प्रकाशनोद्घाटन किया। सदसत् के विवेचन में विद्वद्गण ही समर्थ हैं। इतना ही निवेदन कर हम आशा करते हैं कि सुविज्ञ पाठक त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट कर अगले संस्करण को और भी परिष्कृत रूप से प्रकाशित करने में सहयोग करेंगे।

वाराणसी
शिवरात्रि, संवत् २०४४

विद्वद्विधेय
व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषयानुक्रमणी

ग्रन्थ का पूर्वभाग

उत्तरभाग

परिशिष्ट

———

श्रीमते विश्वाराध्याय नमः

लिङ्गधारणाचन्द्रिका

नन्दिकेश्वरविरचिता

शरन्नामिकया संस्कृतव्याख्यया
भाषानुवादेन च संवलिता

व्रजवल्लभ द्विवेदी
शिवरात्रि, सं. २०४४

श्रीगणेशाय नमः
श्रीमते विश्वाराध्याय नमः

लिङ्गधारणचन्द्रिका

नन्दिकेश्वरविरचिता

शरन्नामिकया संस्कृतव्याख्यया

भाषानुवादेन च संवलिता

पूर्वभागः

आधारादिसमस्तचक्रनिचये यो हंसरूपः शिवो
नित्यानन्दगुरुप्रसादविभवाद् भावादिसंज्ञोऽभवत् ।
आचारादिविभेदतः पुनरसौ षड्लिङ्गरूपोऽभवत्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये गिरिसुताभर्त्रे नमस्कुर्महे ॥१॥

वेदाः शास्त्राण्यागमा यत्प्रणीताः
पुंसामिष्टप्राप्तयेऽनेकरूपान् ।
कर्मोपास्तिज्ञानभेदेन भिन्नान्
हेतून् लोके ख्यापयन्ते नमोऽस्मै ॥ १ ॥

कमलों में विहार करनेवाले राजहंस पक्षी की तरह शरीररूपी उपाधि के आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नामक चक्रों में जो निरन्तर विहार करता है और शिवदीक्षा नामक संस्कार से तथा गुरु की अनुकम्पासे भावलिंग, प्राणलिंग, इष्टलिंग नामक तीन उपाधियों को पाकर महालिंग, प्रसादलिंग, जंगमलिंग, शिवलिंग, गुरुलिंग और आचारलिंग नामक छः रूपों में बदल जाता है, अपनी अनन्य शक्ति से युक्त उस अद्वितीय परशिव को हमलोग परम भक्ति से प्रणाम करते हैं ॥

इस प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में भगवान् नन्दिकेश्वर से सम्बद्ध इस मङ्गलाचरण (वन्दना) को देखने से ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार षट्स्थल (वीरशैव) सिद्धान्त

बाणः कस्य बभूव पद्मनयनः कस्याभवत् पद्मभू-
र्यन्ता कस्य महीरथः समभवत् पत्राणि वेदास्तथा ।
त्रैलोक्यप्रलयाग्निवत् प्रविततं हालाहलं वाऽपिबत्
को यः शम्भुमुपेक्ष्य लोककुशलैर्देवः समाश्रीयताम् ।। २ ।।

श्रौते कर्मणि सन्ति वैदिकगिरो वैतानिके निष्ठिताः
स्मार्तेऽपि स्मृतयो महर्षिविहिता भूयस्य एवेक्षिताः ।
किन्त्वासामवधानतो हृदययुग्भावार्थसंवीक्षणे
तात्पर्यं परमेशतोषणविधावेकान्ततः सिद्ध्यति ।। ३ ।।

को अच्छी तरह जानने वाले हैं । इसीलिए इस षट्स्थल सिद्धान्त में प्रवेश पाने के लिए इष्टलिंग धारण को वे प्रथम सोपान मानते हैं, क्योंकि इस चराचरात्मक प्रपंच के सृष्टि-स्थिति-लय तिरोधान और अनुग्रहरूप पंचकृत्य का वैचित्र्य जिस परम शिव-रूपी दीवाल पर दीखकर लय हो जाता है, उस परम शिव को स्थल कहा जाता है । इस स्थल शब्दवाच्य ब्रह्म में एक स्वाभाविक अनन्य शक्ति है । उस नित्यशक्ति से विशिष्ट वह परमेश्वर जगत् की सर्जना करते हैं । जैसे थोड़ी सी हवा से समुद्र में लहरें उत्पन्न हो जाती हैं, वैसे ही अनन्त शक्तिविशिष्ट प्रशान्त महासागर रूपी शिव में नामरूपात्मक इस जडाजड प्रपंच की उत्पत्ति के पूर्व वह परमेश्वर एक होने पर भी उसमें उपास्य और उपासक के रूप में विभक्त होने की इच्छा का उदय हो जाता है । इसी इच्छा को ईषच्चलन व विमर्श शक्ति का स्फुरण कहा जाता है । इस प्रकार स्फुरणमय परब्रह्म में होनेवाली इच्छा भी स्फुरणात्मक क्रिया होने के कारण उस सर्वव्यापक परब्रह्म में अन्य चलन क्रियाओं के उत्पन्न होने की आशंका भी नहीं हो सकती । ऐसी निरंकुश स्वतन्त्रता से विशिष्ट वह परब्रह्म अपनी विमर्शशक्त्यात्मक स्फुरणरूपी क्रिया से लिंगस्थल और अंगस्थल के रूप में विभक्त हो जाता है । इन दोनों से अतिशयित होकर स्वप्रकाशत्वांश में स्फुरित चैतन्य को ही लिङ्गतत्त्व कहते हैं और न्यूनभाव को प्राप्त होकर अपने स्वप्रकाशत्वांश में स्फुरित होनेवाले चैतन्य को अंगतत्त्व कहते हैं । यह लिङ्गस्थल भावलिङ्ग, प्राणलिङ्ग, इष्टलिङ्ग के नाम से तीन प्रकार से जाना जाता है । इनमें से पहला भावलिङ्ग महालिङ्ग और प्रसादलिङ्ग होकर दूसरा प्राणलिङ्ग जंगमलिङ्ग और शिवलिङ्ग होकर तीसरा जो इष्टलिङ्ग है, वह गुरुलिङ्ग और आचारलिङ्ग होकर कुल छः लिङ्गों के रूप में जाना जाता है । उस समय उस परमेश्वर में रहने वाली स्वप्रकाशता शक्ति भी चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया-

आस्तां राज्यमखण्डभूमिवलये स्वातन्त्र्यसौख्याञ्चितं
सामन्ताश्च जिता भवन्तु रिपवः कोशे धनेशोपमाः।
वेदाः साङ्गरहस्यबोधमहिताः स्युर्वाग्विधेयास्तथा-
पीशानस्य पदारविन्दयुगले चित्तं न चेत् किं ततः ॥ ४ ॥
तस्मादीश्वरतोषमेव मनुजो नित्यं विदध्यान्मनो-
वाक्कायैरिति संविभाव्य मुनयः प्राग् वामदेवादयः।
वैराग्येण निरस्य मानसगताः सांसारिकीर्वासनाः
स्वभ्यासेन निगृह्य चित्तमभवंस्तद्ध्यानलीनाशयाः ॥ ५ ॥

शक्ति के रूप में विभक्त होकर उपर्युक्त महालिङ्ग आदि छः लिङ्गों के आश्रय में रहने लगती है। इन छः लिङ्गों में प्रथम जो चिच्छक्तिरूप महालिङ्ग है, वह सर्व-पदार्थग्राहक हृदयरूप होने के कारण गोप्य कहा जाता है। दूसरा पराशक्तिरूप प्रसादलिंग शब्दग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय के आश्रय में रहता है। तीसरा आदिशक्तिरूप जंगमलिङ्ग स्पर्शग्राहक त्वगिन्द्रिय के आश्रय में रहता है। चौथा इच्छाशक्तिरूप शिवलिङ्ग रूपग्राहक चक्षुरिन्द्रिय के आश्रय में रहता है। पाँचवां ज्ञानशक्तिरूप गुरुलिङ्ग रसग्राहक रसनेन्द्रिय के आश्रय में रहता है और छठा क्रियाशक्तिरूप आचारलिङ्ग गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रिय के आश्रय में रहता है।

इसके बाद न्यूनभाव को प्राप्त वह अंग(जीव)स्थल योगांग, भोगांग और त्यागांग नामक तीन सार्थक नामों से विभक्त हो जाता है। गुरुलिंग और जंगमों में अभेद होकर (समान रूप में) रहने के कारण प्रथम अंग को योगांग कहते हैं। दूसरा गुरुलिङ्ग-जंगमों को अर्पित प्रसाद को पाने के कारण भोगांग कहलाता है। तीसरे को त्यागांग इसलिए कहते हैं कि वह निष्कपट भाव से गुरुलिङ्ग-जंगमों के निमित्त तन, मन और धन को त्यागने का साधन है। इन तीनों अंगस्थलों में जो प्रथम योगांग है, वह ऐक्य और शरण के नाम से; दूसरा जो भोगांग है, वह प्राणलिंगी और प्रसाद के नाम से और जो तीसरा त्यागांग है, वह महेश्वर और भक्त के नाम से छः प्रकार का स्थल बन जाता है। इन छः स्थलों में प्रथम जो तीन स्थल हैं, वह लिंगांग सामरस्यरूप मुक्ति के लिए प्रमुख कारण माने जाते हैं।

पहले में पतिकर्मविशिष्ट ज्ञानभाग की प्रमुखता है। दूसरा जो स्थलत्रय है, वह ज्ञानविशिष्ट पतिकर्मभाग की प्रमुखता बता रहा है। अनुभवसूत्र से हमें यह ज्ञात होता है कि परब्रह्म में रहनेवाली शक्ति ही प्रवृत्ति मार्ग में शक्ति के नाम से और निवृत्ति मार्ग में भक्ति के रूप में रहती हुई श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनन्द

यद्यप्यस्ति महेशलाभकृतये ज्ञानं परं कारणं
चित्तं शोधयितुं भवन्त्यपि तथा निष्कामकर्माण्यलम् ।
किन्त्वेतद्द्वयमप्यनन्तकरुणावारांनिधेः पादयो-
र्भक्तेर्नार्हति षोडशीमपि कलामित्याहुराद्या बुधाः ॥ ६ ॥

भक्तिश्चापि पराऽपरेति गदिताऽत्राऽद्यास्ति मुख्येरिता
मुख्यत्वं च फलाभिसन्धिविरहस्तन्मात्रगप्रेमता ।
यावद्भोगविरागवत्त्वमपि वा प्रेम्णैव चैतत्त्रयं
तद्भेदान्नवसंख्यकान् मुनिवरो द्वैपायनः प्रोक्तवान् ॥ ७ ॥

और समरस नामक छः भक्तिस्थलों का स्थान ले लेती है। अपने को पूर्णतया लिंग के लिए समर्पित कर देने के कारण प्रथम भक्ति श्रद्धाभक्ति है। आश्रित लिंग से मन को बाहर नहीं जाने देने के कारण दूसरी भक्ति निष्ठाभक्ति है। एकाग्रचित्त से सावधानी पूर्वक लिंग की उपासना में लगे रहने के कारण तीसरी भक्ति अवधान-भक्ति है। जाग्रत् रहकर लिंग के अनुभव में तल्लीन रहने के कारण चौथी भक्ति अनुभवभक्ति है। लिंग के अनुभव से प्राप्त अखण्ड आनन्द का अनुभव ही आनन्दभक्ति है। इस प्रकार के अखण्डानन्द वैभव से यह लिंग है, यह अंग है (तुम, मैं), इस प्रकार का भेद न हो पाने के कारण सभी जगह शिवभाव की अभिव्यक्ति ही समरसभक्ति है। ऐसी भक्ति को ही लिंगांगसामरस्य कहते हैं।

इस प्रकार निवृत्ति मार्ग में भक्तिरूप को प्राप्त होनेवाली शक्ति ही श्रद्धारूप से परिवर्तित होकर भक्त स्थल में रहती है। वही शक्ति निष्ठारूप से बदलकर महेश्वर स्थल में रहती है। वैसे ही अवधानरूप से परिणाम को प्राप्त होकर प्रसादी स्थल में रहती है। अनुभव रूप को प्राप्त होकर प्राणलिंग स्थल में रहती है। आनन्दरूप से शरण स्थल में रहती है और समरसभाव को प्राप्त होकर ऐक्य स्थल में रहती हुई आत्मा की सहायक होकर उसकी पुनरावृत्ति को जगह न देकर अद्वितीय षट्स्थल परशिवब्रह्मसाक्षात्कार से स्वाभाविक और मलत्रयात्मक मायापाश की निवृत्ति के लिये जीव को शिवत्वाभिव्यक्तिरूप सामरस्य की सिद्धि कराती है। इस प्रकार के मुक्ति के साधनरूप षट्स्थल मार्ग में जो प्रवेश करना चाहता है, वह लिंग-धारणात्मक शिवदीक्षा को लेता ही है। इस दीक्षा के न लेने पर षट्स्थलस्वरूप और षड्लिंगस्वरूप नहीं दीखता। इसलिये ग्रन्थकार ने अपनी वन्दना में लिंगधारण से सिद्ध होने वाले षट्स्थल और षड्लिंगस्वरूप को ध्यान में रखकर अपने इष्टदेवता की स्तुति की है ॥ १ ॥

मामके दहराम्भोजे शारभं पादपङ्कजम् ।
विघ्नान्धकारमार्तण्डमण्डलं सततं भजे ॥२॥

कर्मब्रह्मविचारशास्त्रनिचयप्रोताच्छवाग्वैभवं
लिङ्गाङ्गस्थलतत्त्वबोधकगिरामापादने षण्मुखम् ।
विद्वन्मत्तगजेन्द्रकुम्भदलने कण्ठीरवाडम्बरं
विघ्नध्वान्तरविं नमामि शिरसा मल्लेश्वराख्यं गुरुम् ॥३॥

वेदशास्त्राण्यनालोच्य केचित् पण्डितमानिनः ।
धारणं शिवलिङ्गस्य नाङ्गीचक्रुरमर्षतः ॥४॥

गौणी तूक्तविशेषणैर्विरहिता तावद्भिरेवान्विता
भेदैः प्रेम तु धर्मिभूतमभवत् सर्वान्वितं सूत्रवत् ।
तत्प्रेम स्मरणे श्रुतौ प्रणमने संकीर्तने सेवने
सर्वस्वात्मनिवेदनादिषु तथा संयोजयत्युत्कटम् ॥ ८ ॥

अत्रैवं सति चिन्त्यतां स्वमनसा प्रेमातिसीमं भवद्
देवस्मृत्यवियोगमेव वलयत्तन्नित्ययोगेच्छया ।
ताद्रूप्येण विभावितस्य सततं लिङ्गस्य संधारणे
तीव्रोत्कण्ठितवत्करिष्यति न किं भक्तस्य चित्तं मुहुः ॥ ९ ॥

विघ्नरूप गहन अन्धकार को नाश करने में प्रखर (प्रचण्ड) सूर्यस्वरूप, परम शिव के विशुद्ध सत्त्वगुण के मूर्तिस्वरूप भगवान् शरभावतार के चरणारविन्दों का मैं मेरे हृदयाकाश में ध्यान करता हूँ ॥ २ ॥

स्वर्गसाधक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के स्वरूप के प्रतिपादक पूर्वमीमांसा शास्त्र में और मुक्ति के साधक ज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली उत्तरमीमांसा में अपार पाण्डित्य को प्राप्त करके अप्रतिहत वाग्वैभव से युक्त होकर, शक्तिविशिष्टाद्वैत (वीरशैव) सिद्धान्त में निरूपित आचार आदि षड्लिंगस्थल एवं भक्त आदि छः अंग-स्थलों के यथार्थ तत्त्व को बताने में साक्षात् षण्मुख होकर, शिवाद्वैत (वीरशैव) सिद्धान्त के खण्डन के निमित्त प्रयत्न करनेवाले पण्डितों के, जो मदोन्मत्त हाथियों की तरह हो, कुम्भस्थल को भेदन करने के लिए उत्सुक शेर सरीखे, ग्रन्थ के आरम्भ में आनेवाले विघ्नरूपी अन्धकार के निवारक प्रचण्ड सूर्य के समान देदीप्यमान श्रीमल्लेश्वर नामक गुरु के चरणारविन्दों में मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

अपने को विद्वान् माननेवाले कुछ लोग ऋग्वेद आदि तीनों वेदों में, मनु आदि स्मृतियों में, स्कन्द आदि पुराणों में, शिवागमों में, वेदतुल्य महाभारत आदि

स्वयंवरे वरं देहि करोमि भवदाज्ञया ।
तेषां निराससिद्ध्यर्थं लिङ्गधारणचन्द्रिकाम् ।।५।।

भक्त्यैकताने हृदये हि लोको
माहेन्द्रकौबेरपदादि तुच्छम् ।
मत्वा स्वकीयेष्टपदैकसक्तो
नक्तंदिवं ध्यानततिं तनोति ।। १० ।।

इत्थं भक्तगतीक्षणे च बहुधा युक्त्यैव शम्भोर्महा-
ज्योतिर्लिङ्गसमासनं निजतनौ सिद्धं भवत्यञ्जसा ।
धर्मः केवलशब्दगम्य इति यत्संस्थापनं जैमिनेः
तस्माद्वेदगिरोऽपि तत्प्रमितये शैवैः समुद्भाविताः ।। १० ।।

इतिहासों में पंचावयवों (पंचसूत्रों) से युक्त शिव (इष्ट) लिंग को गले में धारण करने का तथा इष्टलिंग की उपासना के समय हाथ पर रखकर पूजा करने का विधान शास्त्रसंमत होने पर भी उन शास्त्रीय नियमों को न मानकर अवहेलना की दृष्टि से लिंगधारण अनुपयुक्त समझते हैं ।। ४ ।।

परम शिव की इच्छा आदि समस्त शक्तिस्वरूप हे पार्वति ! आप अपनी इच्छा से परशिव को वरण करने के कारण दूसरे की अपेक्षा से विरत होकर अपने भक्तों को वर देने में समर्थ हैं । इसलिए लिंगधारण करना वेदसंमत नहीं है, ऐसा विवाद करने वाले विद्वदभिमानी पण्डितों की हृदय-ग्रन्थि को युक्ति और प्रमाणों से शिथिल करने के लिए लिंगधारणचन्द्रिका नामक ग्रन्थ की रचना में संलग्न आपके इस परम-भक्त पर करुणा के अमृत का प्रसार कर ग्रन्थ को समाप्त करने की सामर्थ्य प्रदान करने की अनुकम्पा करें ।। ५ ।।

शिवलिंग को कण्ठ, मस्तक आदि उत्तम अंगों में धारण कर, तीनों कालों में उस शिवलिङ्ग को हथेली पर रखकर, लौकिक विषयों से उन्मुक्त होकर, क्रम से पूजा करते हुए अपने मन को लिङ्ग में जो लय करता है, वही वीरशैव है । ऐसा व्यास महर्षि स्कन्दपुराण में कहते हैं । इसलिए वीरशैवों का लिङ्गधारण करना एक मुख्य लक्षण है । इस प्रकार मुक्तिसाधन स्वरूप शिव(इष्ट)लिङ्ग को अपने गले में धारण करनेवाले शक्तिविशिष्टाद्वैत (शिवाद्वैत) मत के अनुसार भक्त, महेश, प्रसाद, प्राणलिङ्गी, शरण और ऐक्य नामक छः सीढ़ियों को चढ़ कर साधक शिव में मिल (समरस हो) जाते हैं । इसलिए पूर्वाचार्यों ने शिवदीक्षापूर्वक इष्टलिंग धारण करने के बारे में विशेषरूप से लिखा है। इस वीरशैव सिद्धान्त को भलीभाँति

ते खल्वेवमाहु—लिङ्गधारणं तावन्न वैदिकपरिग्राह्यम्, अवैदिकत्वात् । वैदिकत्वे हि वेदवेदान्तवाक्यप्रतिपाद्यत्वं नियामकम् । नहि तत्र तदन्यतरं पश्यामः । अथवा न वेद-मूलकस्मृत्यादिगम्यत्वम्, मन्वादिस्मृतिषु तत्प्रापकवचना-

---

तासामन्यपरीभाववारणाय कृताऽभवत् ।
स्वेष्टतात्पर्यलब्ध्यै च लिङ्गधारणचन्द्रिका ॥ ११ ॥
कामिकं वातुलं चैव मुकुटं वीरसंज्ञकम् ।
आगमं स्कान्दलिङ्गे च प्राधान्येनाश्रयत्ययम् ॥ १२ ॥
साम्बशम्भोः परं तोषं विधातुं शम्भुपादयोः ।
व्याख्या तस्याः शरन्नाम्नी विधायैषा समर्प्यते ॥ १३ ॥
लोकैषणा भवत्येव यद्यप्यत्र प्रवर्तिका ।
तथापि किञ्चिद् गौरीशस्तुष्येदिति मनोगतम् ॥ १४ ॥

न जानने वाले कई लोग इस लिंगधारण के विषय में नाना प्रकार के सन्देहों से युक्त हैं ।

इन लोगों में कुछ लोग लिंगधारण करने की बात कहीं वेदों में नहीं बताई गई है, इसलिए यह प्रथा अवैदिक है, ऐसा कहते हैं । अन्य कुछ लोग कहते हैं कि शिवलिंग को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार शास्त्र जैसा कहता है, वैसा लकड़ी, ताम्बा, चाँदी और सोना आदि से बनाये हुए किसी न किसी पीठ पर रखकर भक्ति से पूजा न कर निन्द्य, अपवित्र और मांसमय देह में धारण करना अच्छी बात नहीं है । अन्य लोग परशिव नामक इस पवित्र इष्टलिंग को अपवित्र बायें हाथ पर रखकर पूजा करना तो लोक और शास्त्र के विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं । दूसरे कुछ लोग शिवलिंग को संपुट (शिवलिंग को रखने के लिए बनाई गई पेटी) में रखकर, गले में धारण कर, बायें हाथ पर पूजा करने की बात किसी उपनिषद् आदि ग्रन्थों में नहीं बताई गई है और जो नियम श्रुतियों में बताया गया है, वह वैदिक है और जो नियम श्रुतियों में नहीं बताया गया है, वह अवैदिक सिद्धान्त है । यह लिंगधारण करने का विधान वेदों में चर्चित न होने के कारण लिंगधारण करनेवाले लोग वैदिक नहीं हैं, ऐसा कहते हैं । अन्य कुछ लोग कहते हैं कि ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण करने का विधान किसी वेद में स्पष्ट न दीखने पर भी सभी आस्तिक ग्रन्थकार ग्रन्थ की परिसमाप्ति और मंगलाचरण इन दोनों के कार्यकारणभाव को स्वीकारते हुए

दर्शनात्। यदि मन्यसे, मङ्गलाद्याचारस्येवानुमेयवेदमूलकत्वम्, तदप्याशामात्रम्, लिङ्गधारणस्य सकलशिष्टानाचरितत्वेन कतिपयजनाचारस्य वेदानुमापकत्वाभावात्। तथा च निखिलप्रमाणबहिर्भूतस्य लिङ्गधारणस्य कथं वैदिकपरिग्राह्यत्वमिति ? तन्न, "वेदशास्त्रपुराणेषु कामिकाद्यागमेषु च। लिङ्गधारणमाख्यातं वीरशैवस्य निश्चयात्॥"

शम्भोः शिरसि बिभ्राजच्चन्द्रमश्चन्द्रिकेव सा।
इमां शरदमासाद्य प्रकाशं परमेष्यति॥ १५॥
पतिं गणानामथ सेशगौरीं
सारस्वतं चापि महः प्रणम्य।
सम्प्रार्थ्य बोधं शिवतत्त्ववेत्त्रीन्
व्याख्यानमस्याः समुपक्रमेऽद्य॥ १६॥

सर्वप्रथम मंगलाचरण करना ही है, ऐसी श्रुति की परिकल्पना जैसे कर लेते हैं, वैसे ही यहाँ पर भी लिंगधारण और मोक्ष इन दोनों का कार्यकारणभाव होने से उसके कारणस्वरूप शिवलिंग को अपने गले में धारण करे, ऐसी श्रुति की कल्पना लिंगधारण के लिए कर सकते हैं। किन्तु इस पर वे सन्देह करते हैं कि यह लिंगधारण शास्त्रसंमत नहीं है, क्योंकि वन्दना करने के बाद ग्रन्थ का आरम्भ करने की विधि कहीं पर किसी श्रुति में न होने पर भी अनादि काल से शिष्टाचार परम्परा के अनुसार रूढ़ होकर आ रही है। इसलिए वैसे एक श्रुतिवाक्य की कल्पना करने का मौका मिल जाता है, लेकिन यहाँ पर अनादिकाल से मोक्ष चाहने वाले शिष्टजनों के लिए शिवलिंग को धारण करने की परम्परा के न होने से आजकल के कुछ लोगों के स्वतन्त्र रूप से अपने गले में शिवलिंग धारण करने मात्र से ऐसी श्रुति की कल्पना करने का अवकाश नहीं है। इस प्रकार मनमाने ढंग से विवाद करने वाले भ्रमित व्यक्तियों के भ्रम का युक्ति, प्रमाण और अनुभव से परिहार करते हुए वीरशैवों के लिए मुख्यतया ग्रहण करने योग्य लिंगधारण मुक्ति के साधन के रूप में वेद और उपनिषदों में प्रतिपादित है, सम्पूर्ण वैदिक, शास्त्रों में स्वीकृत है और अनादिसिद्ध है, इस अभिप्राय को सिद्ध करना ही ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है।

ग्रन्थकार का यह प्रतिज्ञावाक्य है कि ऋक् आदि वेदों में, मनु आदि स्मृतियों, लिंग आदि महापुराणों और कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त अट्ठाईस शिवागमों

इति सिद्धान्तोक्तेः। अस्यार्थः—वेदा ऋगादयः। अनेन भारतस्याप्युपलक्षणम्, "भारतः पञ्चमो वेदः" इत्यभियुक्तोक्तेः। शास्त्राणि स्मृतयः। पुराणानि स्कन्दवायुलैङ्गिकादीनि। आगमाः कामिकादयः। तत्र यजुर्वेदतैत्तिरीयशाखायां ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानरूपान्तर्लिङ्गधारणं विधीयते। तत्र तैत्तिरीयके तु—"दहरं विपाप्मम्" (तै. आ. १०।१०।३)

तत्रादौ लिङ्गधारणस्याऽऽभ्यन्तरबाह्यलिङ्गधारणात्मकतया द्वैविध्येनोभयविधस्यापि तस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वे साम्प्रतं निरूपणीये प्रथममाभ्यन्तरलिङ्गधारणस्य श्रुतिसिद्धत्वं बोधयितुं दहरविद्याया हृत्पुण्डरीकान्तरालवर्तिज्योतिर्लिङ्गविषयकत्वं प्रसाधयति—तैत्तिरीयक इत्यादिना। दहरं विपाप्ममिति। इदमत्रोपनिषन्मन्त्रस्वरूपम्—"दहरं विपाप्मं वरवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्। तत्रापि दह्रे गगनं विशोकस्तस्मिन् यदन्तस्तदु-

में निरूपित होने के कारण वीरशैव को शिवदीक्षापूर्वक शिवकला से विशिष्ट इष्टलिंग को अपने शरीर में धारण करना चाहिए। लिंग शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए अनुभवसूत्र में कहा गया है कि जडाजडात्मक यह प्रपंच सृष्टि के पूर्व नाम, रूप, क्रिया आदि से रहित होकर जिस ब्रह्म में रहनेवाली अनन्य विमर्शशक्ति के स्फुरण से नाना प्रकार के नाम-रूपों में अभिव्यक्त होकर दीख रहा है, उसी लिंगरूपी ब्रह्म को शिव कहते हैं। "लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्" इस व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ स्पष्ट होता है। इस प्रकार सबका अधिष्ठानस्वरूप लिंग ही परशिव है। इस लिंग के धारण का मतलब यह है कि परशिव शब्द का जो वाच्य है, ऐसे शिवलिंग को निरन्तर हृदय के स्थान पर धारण करना चाहिए।

अन्तर्लिंगधारण का निरूपण

यह लिंगधारण अन्तर्लिंगधारण और बाह्यलिंगधारण नाम से दो प्रकार का है। दहराकार (हृदय पुण्डरीक) में ज्योतिस्वरूप शिवलिंग का निरन्तर ध्यान करना ही अन्तर्लिंगधारण है। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए 'घृतकाठिन्य' (अर्थात् पिघले हुए घी का जम जाना) इस न्याय के अनुसार वही ज्योतिर्लिंग जब इष्टलिंग के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तो उसी को हृदय पर धारण करना ही बाह्यलिंगधारण है। बाह्यलिंगधारण के बिना अतिसूक्ष्म अन्तर्लिंगधारण नहीं सिद्ध हो सकता। इसलिए मुमुक्षु के लिए दोनों प्रकार के लिंगों का धारण अत्यावश्यक होने से ये दोनों लिंगधारण श्रुतिप्रतिपाद्य

इत्यारभ्य "तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्" (तै. आ. १०।१०। ३) इत्यन्तेन उपासना विधीयते। तत्किमित्याकाङ्क्षायाम्—

पासितव्यम्॥" (तै०आ० १०।१०।३) इति। अत्र भाष्यम् —"यदेतत् पुण्डरीकमष्टदलं हृदयकमलमस्ति। कीदृशम्? दहरम् अल्पम्, अङ्गुष्ठमात्रपरिमितत्वात्। विपाप्मं चित्तैकाग्र्यस्थानत्वेन पापरहितम्। वरवेश्मभूतं वरस्य श्रेष्ठस्य परमात्मन उपलब्धिस्थानत्वेनोपास्तिस्थानत्वेन च गृहरूपम्। पुरमध्यसंस्थं हस्तपादादिभिः सर्वैरवयवैः पूर्यत इति पुरम्, तस्य मध्ये कुक्ष्युरसोरन्तरावस्थितम्। तत्रापि तस्मिन्नपि पुण्डरीके दह्रेऽल्पप्रदेशे गगनमाकाशवदमूर्तं ब्रह्मरूपमस्ति। ब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि घटाकाशवत् पुण्डरीकस्थानापेक्षयाऽल्पत्वमुपचर्यते। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" (छा. उ. ८।१।१) इति। दहराकाशस्य च ब्रह्मत्वं दहराधिकरणे (ब्र. सू. १।३।५) निर्णीतम्। अत एव विशोकः, छान्दसं पुंस्त्वम्, शोकरहितं गगनशब्दवाच्यं ब्रह्म। एवं सति तस्मिन् पुण्डरीकेऽन्तः मध्ये यद् ब्रह्मतत्त्वमस्ति, तदुपासितव्यं विजातीयप्रत्ययरहितेन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण चिन्तनीयम्" (सा. भा. १०।१०।३) इति। अस्यां श्रुतौ "तत्रापि दह्रे गगनं विशोकस्तस्मिन् यदन्तस्तदुपासि-

हैं। इस बात को सिद्ध करने का उपक्रम करते हुए ग्रन्थकार प्रथम तैत्तिरीयोपनिषत् के प्रमाण से अन्तर्लिंगधारण की सिद्धि करने के बाद बाह्यलिंगधारण की सिद्धि का प्रयत्न करते हैं।

दहरं = सूक्ष्म, विपाप्मं = दुःख के हेतुभूत पाप से अलग, वरवेश्मभूतं = जो श्रेष्ठ परशिव है उनका निवास स्थान, पुरमध्यसंस्थं = पुर "पूर्यत इति पुरम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार हस्त, पाद आदि अवयवों से विशिष्ट इस देह के, मध्ये = छाती और पेट के बीच में, संस्थं = चमकने वाला, यत् = जो, पुण्डरीकं = हृदयकमल है, तत्रापि = इस प्रकार के हृदय-कमल के, दह्रे = सूक्ष्म प्रदेश में, गगनं = आकाश की तरह एक अमूर्त दिव्य ज्योति है, तत् = वैसी दिव्य ज्योति तो, विशोकः = शोक और मोह से अतिदूर है, तस्मिन् = ऐसी दिव्य ज्योति के निवास स्वरूप हृदय चक्र में, यत् = जो वस्तु है, तत् = उस वस्तु का, उपासितव्यम = सोऽहं भाव से ('वह मैं हूँ' ऐसी भावना से) निरन्तर ध्यान करना चाहिए।

इस मन्त्र में 'गगनं विशोकः' अर्थात् हृदयकमल पर गगन शब्द से निरूपित ब्रह्मतत्त्व है, ऐसा वाक्य तो है, लेकिन इससे आगे "तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्" ऐसा वाक्य होने से उस ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु है, ऐसी भ्रान्ति हो जाती है।

"यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः। तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥" (तै. आ. १०।१०।३) इत्यनेन "शिवः शूली महेश्वरः" (अ. को. ९।९।३०) इति

तव्यम्" इत्युक्त्या गगनस्यापि मध्ये वर्तमानं गगनशब्दवाच्यब्रह्मतत्त्वातिरिक्तमेव किञ्चिद्वस्तूपासितव्यमिति भ्रमः सम्भाव्यते, तन्मा सम्भावीति भाष्यकारेण विशोकान्तं व्याख्याय मध्ये "एवं सति" इति योजितम्। ततश्च तस्मिन् यदन्तरित्यत्र तत्पदेन गगनं न परामर्शनीयम्, अपि तु व्यवहितमपि पुण्डरीकमेव परामृष्टव्यम्। ततश्चायमर्थः फलति—यतो हृत्पुण्डरीके ब्रह्मतत्त्वस्य वासस्थानम्, अतस्तस्मिन् वर्तमानं ब्रह्मतत्त्वमुपासितव्यमिति।

यो वेदादाविति। वेदस्य अध्येतव्यस्य, आदौ प्रारम्भे, स्वरः स्वरघटितः प्रणवरूपः शब्दः, प्रोक्तः—"ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति॥" इति मानववाक्ये उच्चारयितव्यत्वेन विहितः, वेदान्ते माण्डूक्योपनिषदादौ, प्रतिष्ठितः मात्राविभागेन व्याख्यातः, तस्य प्रणवस्य, प्रकृतौ कारणे मात्रात्मकेऽवयवे, लीनस्य संहितयाऽविभागं प्राप्तस्य अ उ म् इति विभक्तावस्थातः ॐ इत्यविभागावस्थां प्राप्तस्येति

ऐसी भ्रान्ति होने न पावे इसलिए भाष्यकार "गगनं विशोकः" यहाँ तक एक वाक्य को पूरा करके इससे आगे "तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्" इस वाक्य के 'तस्मिन्' शब्द के पूर्व में स्थित अव्यवहित गगन पद को न लेकर, इस गगन पद के पूर्ववर्ती व्यवहित पुण्डरीक पद को ही लेकर मन्त्र का अर्थ करते हैं।

इसके अनुसार दहराकाश में अतिसूक्ष्म, पापरहित, परिच्छेदशून्य, पूर्णकुम्भ की तरह शान्त एवं ज्योतिस्वरूप वस्तु की ही अनवरत उपासना करनी चाहिए, ऐसा सिद्ध हो जाता है। इससे उपास्य वस्तु क्या है? इसका कोई निर्णय नहीं हो पाता। कोई उपासक जिस किसी भी वस्तु को उपासना करना चाहे तो वह वस्तु क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसका नाम और रूप क्या है? इन प्रश्नों का समाधान हो जाने पर ही उसकी उस वस्तु के प्रति प्रवृत्ति हो पाती है। इसलिए दहराकाश में देदीप्यमान ज्योति क्या है? उसका स्वरूप बताने के लिए उसी श्रुति के आगे वह उपास्य वस्तु क्या है? उसका वर्णन किया जाता है—

यः = जो स्वर, वेदादौ = वेदों के आदि में, च = और, वेदान्ते = ईश, केन आदि उपनिषदों में है, प्रकृतिलीनस्य = अकार, उकार, मकार आदि अवयव विशिष्ट, तस्य = उस ॐकाररूप स्वर के, यः = जो देवता, परः = वाच्यार्थ होकर है, सः = वह देवता, महेश्वरः = परशिव ही है।

कोशावगतरूढ्या शिवैकान्तिकमहेश्वरपदावरुद्धवाक्येन उपास्य-

यावत्, यः परो मुख्यत्वेन प्रतिपाद्यः, स महेश्वर इत्यर्थः। प्रणवस्यैकैक-मात्रया ब्रह्मविष्णुरुद्रा देवाः, ऋग्यजुःसामानि वेदाः, भूः भुवः स्व इत्येते त्रयो लोकाः, एवंरूपेण विशकलिताः पदार्था अभिधीयन्ते। ओमिति समस्तेन तु सर्वसमष्ट्याश्रयरूपं माहेश्वरं तत्त्वमुच्यत इत्याशयः। इदं च माण्डूक्योपनिषदि गौडपादाचार्यकारिकासु च स्पष्टम्। वेदभाष्ये तु—"यो वेदादौ स महेश्वरः" इति प्रतीकमुपादाय—"वेदानाम् "अग्निमीले पुरोहितम्" (ऋ. १।१।१), "इषे त्वोर्जे त्वा" (शु. य. १।१) इत्यादीनाम्, आदिः उपक्रमः, तस्मिन्नुपक्रमे यः स्वरः यो वर्णः प्रणवरूपोऽस्ति, स च स्वरः प्रणवः, वेदान्ते चोपनिषदि—"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्" इत्यादिकायाम्, प्रतिष्ठितः प्रतिपादितः। स च स्वरः प्रणवः, ध्यानकाले प्रकृतौ अव्याकृते जगत्कारणे लीनो भवति। अकारोकारमकारेषु विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृतानि ध्यात्वा विराड्रूपमकारमुकारे प्रविलाप्य तं चोकारं हिरण्यगर्भमूलप्रकृतिरूपे मकारे प्रविलापयेत्। तस्य च प्रकृतौ लीनस्य प्रणवस्य यः परः स चतुर्थमात्रारूपेण नादे ध्यातव्य उत्कृष्टोऽस्ति, सोऽयं महेश्वरो विज्ञेयः। अनेन मन्त्रेण पूर्वोक्तगगनशब्दवाच्यं वस्तु प्रपञ्चितम्" इति व्याख्यातम्।

शिवैकान्तिकमहेश्वरपदावरुद्धवाक्येनेति। शिवैकान्तिकं नियमेन शिव एव प्रयुज्यमानं यन्महेश्वर इति पदम्, तद्युक्तेन यो वेदादौ स्वरः प्रोक्त

शङ्का—इस मन्त्र में आये हुए पदों को लेकर विचार करने पर इसके पहले मन्त्र में बताई गई दहराकाश में उपासना की जानेवाली वस्तु महेश्वर रूप वस्तु है, ऐसा लगता है। महेश्वर पद का अर्थ तो 'महाँश्चासौ ईश्वरश्च' इस कर्मधारय समास का आश्रय लेकर उसके अवयवों के आधार पर विष्णु, इन्द्र आदि जिस किसी देवता की भी उपासना करना हो सकता है, न कि नियमपूर्वक एक परशिव की ही उपासना करना ?

समाधान—महेश्वर पद के अवयवार्थ से दूसरी देवता को ग्रहण करने का अवकाश है, लेकिन "रूढिर्योगमपहरति" इस प्रमाण से रूढ्यर्थ द्वारा योगार्थ के दुर्बल बना देने के कारण मन्त्र में स्थित महेश्वर पद शिव में रूढ है, न कि किसी अन्य देवता में। इसलिए महेश्वर पद का शिव अर्थ करना ही समुचित है। इस अर्थ के समर्थन में बहुत से पूर्व वाक्य हैं, फिर भी "शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः" इस अमरकोश के वाक्य से भी महेश्वर पद परशिव का पर्याय है, न

वस्तुविधानात्, उपासनाया गुणविषयकत्वेन तत्किगुणकमित्या-काङ्क्षायाम्—"ऋतं सत्यं परं ब्रह्म" (तै. आ. १०।१२।१)

इत्यादिवाक्येन। उपास्यवस्तुविधानादिति। तदुपासितव्यमिति विहितामुपासनामनूद्य सा किं विष्णुविषयिणी शिवविषयिणी वेति जिज्ञासायां "यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः" (तै. आ. १०।१०।३) इत्यनेन महेश्वरविषयिणी सेति निर्णयस्य प्रत्यासत्तिन्यायसहायेन करणादित्यर्थः। तेन विधेयताबोधक-लिङादिपदाभावेऽपि न क्षतिः।

गुणविषयकत्वेनेति। "तं यथा यथोपासते तत्तदेव भवति" (श. ब्रा.) इति श्रुतेः, उपासनायाः स्वप्रकारीभूतगुणानुरोधेनैव तत्तत्फलप्रयोजकतया निर्विकल्पकातिरिक्तज्ञानस्य सप्रकारकत्वनियमाच्चोपासनाया गुणविषयकत्व-मिति भावः।

ऋतं सत्यं परं ब्रह्मेति। "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः॥" (तै.आ. १०।१२।१) इत्यस्मिन्नेव प्रकरणे पठितमन्त्रेण कृष्णपिङ्गलत्वोर्ध्वरेतस्त्वविरूपाक्षत्वरूपाणां त्रयाणां धर्माणां "विरूपाक्षस्त्रिलोचनः" (अ. को. १।१।३२) इति कोशवशात् शिवैक-

कि किसी अन्य देवता का। इसलिए एक शिव में सामर्थ्य रखने वाला यह महेश्वर पद इस मन्त्र में प्रधानभूत विशेष्य पद होने के कारण इसके निकट में रहने वाले महेश्वर शब्दवाच्य शिव को छोड़कर विष्णु आदि किसी अन्य देवता के दहराकाश में उपास्य वस्तु के रूप में स्वीकार करने पर "अव्यवहित उत्तर शब्द का अर्थ पूर्व से सम्बन्धित रहता है" इस प्रत्यासत्तिन्याय के विरुद्ध हो जाता है। इसलिए इस न्याय के अनुसार पिछले मन्त्र के दहराकाश मे प्रकाश्यमान ज्योतिस्वरूप वस्तु शिवस्वरूप वस्तु ही है, ऐसा निश्चय होता है। उपासक परमात्मा को जिन-जिन गुणों और आकारों से विशिष्ट मानकर उपासना करता है, वह उन-उन गुणों और आकारों को प्राप्त कर लेता है, ऐसा श्रुति कह रही है। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु में ऐसा असाधारण गुण नहीं होता, उस वस्तु में उपासक की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए महेश्वर को अनन्त कल्याणगुणविशिष्ट निरूपित करने की अपेक्षा इस मन्त्र से पहले के मन्त्र में तैत्तिरीय श्रुति महेश्वर के गुणों का निरूपण करती है।

ऋतं = वाणी का अविषय, सत्यं = मन से अगम्य, परं = श्रेष्ठ, ब्रह्म = व्यापक से व्यापक, खुद प्रपंच के रूप में परिणत, पुरुषं = सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में निवास करने वाला, कृष्णपिङ्गलं = दायें काले और बायें लाल वर्ण से युक्त,

निष्ठत्वेन निर्णीतानामुपास्यविशेषणतया विधानात् परमशिवविषयिण्येव दहरविद्येति गम्यते। ऋतमित्यादिमन्त्रार्थस्तु भाष्ये एवं दर्शितः—यदेतत्परं ब्रह्म तत्सत्यम् अबाधयम्। सत्यं च द्विविधम्—व्यावहारिकं पारमार्थिकं च। हिरण्यगर्भादिकं रूपं व्यावहारिकं सत्यम्। तन्निवारणेन पारमार्थिकसत्यं प्रदर्शयितुमृतं सत्यमिति विशेष्यते, अत्यन्तं सत्यमित्यर्थः। तादृशं ब्रह्म स्वभक्तानुग्रहायोमामहेश्वरात्मकं पुरुषरूपं भवति। तत्र दक्षिणे महेश्वरभागे कृष्णवर्णः। उमाभागे पिङ्गलवर्णः। स च योगेन स्वकीयं रेतो ब्रह्मरन्ध्रे

ऊर्ध्वरेतं = द्युलोक पर्यन्त देदीप्यमान, विरूपाक्षं = सूर्य, चन्द्र और तेज ही जिनका नेत्र है वह वस्तु, तस्मै = उस, विश्वरूपाय = जगत्स्वरूप ब्रह्मपदवाच्य महेश्वर के निमित्त, नमः = नमस्कार है।

विचार—इस मन्त्र में 'ऋतं सत्यं' ऐसे दो विशेषण हैं। इन दोनों पदों के सत्यार्थ के ही प्रतिपादक होने से 'ऋतं' इस पद का व्यावहारिक सत्य और 'सत्यं' इस पद का पारमार्थिक सत्य, ऐसा कुछ लोग अर्थ करते हैं। यह अर्थ शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के विरुद्ध है, अतः इस सम्प्रदाय के भाष्यकार उस पद का अलग ही अर्थ स्वीकार करते हैं। जैसा कि प्रपंच के सभी मनुष्य अल्पमति होने के कारण अपनी अपनी वाणी में, अपने अपने मन के विचारों में वैविध्य रखते हैं। ब्रह्मशब्दवाच्य परशिव तो वैसे वाग्विपर्यास का आस्पद नहीं है, यह अर्थ 'सत्यं' इस पद से व्यक्त होता है और 'पुरुषं' इस पद से "पुरि शेत इति पुरुषः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ समस्त प्राणियों के हृदय में भासता है। ब्रह्मपद की "बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च" इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह व्यापक से व्यापक होकर अपने आप प्रपंच के रूप में बदल गया है। 'कृष्णपिङ्गलम' इस विशेषण से अग्नि में जैसी दाहकत्व शक्ति रहती है, वैसी शक्ति के विकास से शिव प्रपंच के रूप में बदल जाते हैं। "सर्वो वै रुद्रः" इस प्रकार की श्रुतियाँ इसी अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार की शक्ति से परशिव अनेक (चित्र) वर्ण से युक्त होने के कारण दायें काला एवं बायें पिंगल वर्ण वाला है। 'ऊर्ध्वरेतं' इस पद का कुछ भाष्यकार ऐसा अर्थ लिखते हैं कि योगबल के कारण ऊर्ध्वरेता है। यहाँ पर "कृशानुरेताः सर्वज्ञः" इस प्रामाणिक अमरकोश वाक्य के अनुसार शिव का रेतस् अग्निरूप ही है। इसलिए 'कृशानुरेताः' ऐसा कहा गया है। इस प्रकार का अग्निरूप तेज तो लम्बी सी प्रकाश की रेखा है, अतः परशिव ब्रह्म को ऊर्ध्वरेता कहा गया है। 'विरूपाक्षं' इस पद का "विरूपाक्षस्त्रिलोचनः" इस कोश

इति मन्त्रेण परमशिवासाधारणगुणविधानाच्च शिवतत्त्वस्वरूपं तदित्यवगम्यते ।

धृत्वा ऊर्ध्वरेता भवति। त्रिनेत्रत्वाद्विरूपाक्षः। तादृशं परमेश्वरमनुसृत्येति शेषः। विश्वरूपाय जगत्कारणत्वेन सर्वजगदात्मकाय विरूपाक्षाय पुरुषायैव नमस्कारोऽस्त्विति।

वाक्य के अनुसार सम्पूर्ण जगत् के आधारभूत सूर्य, चन्द्र और अग्नि ही नेत्र हैं। 'विश्वरूपाय' इस पद का अर्थ है—खुद विश्व के रूप में परिणत होने से वह उपादानकारण है और जगन्नियन्ता होने से निमित्तकारण भी है। "सर्वो वै रुद्रः" आदि श्रुतियाँ भी शिव तो "विश्वरूप है, विश्वाधिपति है" ऐसा प्रतिपादन करती हैं। इसलिए उस शिव के लिए नमस्कार है, कहकर श्रुति परशिव की ही स्तुति करती है। इस प्रकार मन्त्र में आये हुए ऋत, सत्य, पुरुष, कृष्गपिङ्गल, ऊर्ध्वरेतस्, विरूपाक्ष और विश्वरूप ये सब विशेषण शिव में रहनेवाले असाधारण गुणों का बोध कराते हैं, अतः दहर पुण्डरीक में उपासना की जानेवाली वस्तु शक्तिविशिष्ट परशिव ही है, न कि दूसरी कोई वस्तु, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

शङ्का—ओह! यह क्या है? दहराकाश में उपासना की जानेवाली वस्तु परशिव है, ऐसा हम मान लेते हैं, लेकिन वह शिव तीन नेत्रवाला है, उमारूप स्थूल परिणाम को प्राप्त शक्तिविशिष्ट है, कृशानुरेता है और मनुष्यों की तरह वाग्विन्यास एव मनोविकारवाला है, इस कथन से शिव के साथ शरीर का सम्बन्ध जोड़ा गया है। इस प्रकार शिव का स्थूल शरीर है, तो मनुष्यों की तरह उसका भी सुख-दुःख आदि भोगों का सम्बन्ध है, ऐसा मानना पड़ेगा?

समाधान—शरीर धारण करने पर सुख-दुःख आदि भोगों का अनुभव तो करना ही है, लेकिन सुख-दुःख आदि भोगों का अनुभव जीवात्मा के शरीर को होता है, न कि इससे भिन्न शरीरवालों को। परशिव ब्रह्म के शरीर और सुख-दुःख आदि भोगों के आस्पद जीवों के शरीर में बहुत अन्तर है। परशिव में त्रिलोचनत्व, कृष्णपिङ्गलत्व, ऊर्ध्वरेतस्त्व आदि गुण अपनी इच्छा से आये हैं और जीवों का शरीर उन लोगों के द्वारा किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मों से आया हुआ है। परशिव त्रिलोचनत्व आदि शरीरवाला होने पर भी छान्दोग्य श्रुति के अनुसार पापरहित है, वृद्धावस्था से परे है। मरण-शोक, भूख-प्यास आदि परमात्मा में नहीं हैं। वह सत्यकाम और सत्यसंकल्पवाला है। जीवात्मा पाप-पुण्य आदि कर्मों के द्वारा सम्पादित शरीरवाला होकर उन पाप-पुण्यों के

नन्वस्यामेवोपनिषदि "सहस्रशीर्षं देवम्" (तै. आ. १०।११।१) इत्यनुवाकेन सहस्रशीर्षत्वादिगुणकस्य नारायणस्या-

---

नन्वस्यामेवोपनिषदि सहस्रशीर्षं देवमित्यनुवाकेनेति। अयमस्ति सोऽनुवाकः—"सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशम्भुवम्। विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं प्रभुम्॥ विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्। विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति॥ पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्। नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम्॥ नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः। नारायणपरं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः॥ नारायणः परो ध्याता ध्यानं नारायणः परः। परादपि परश्चासु तस्माद्यस्तु परात्परः॥ यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥ अनन्तमव्ययं कविं समुद्रेतं विश्वशम्भुवम्। पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्॥ अधोनिष्ट्या वितस्त्यां तु नाभ्यामुपरि तिष्ठति। ज्वालामालाकुलं भाति विश्वस्यायतनं महत्॥ सन्ततं शिराभिस्तु लम्बत्याकोशसन्निभम्। तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः। सोऽग्रभुग् विभजंस्तिष्ठन्नाहारमजरः कविः॥तिर्यगूर्ध्वमधःशायी रश्मयस्तस्य सन्तता। सन्तापयति स्वं देहमापादतलमस्तकम्॥ तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता। नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा॥ नीवारशूकवत् तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा। तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥" (तै. आ. १०।११।१-२) इति। यद्यपि पूर्वानुवाकः "यः परः स महेश्वरः" (तै. आ. १०।१०।३) इत्यत्रैव समाप्तः, नारायणानुवाकश्च ततो भिन्न एव। एतावन्मात्रेणैव पूर्वोक्तदहरोपासनाया महे-

अनुसार सुख-दुःखों का अनुभव करने वाला होता है। परशिव तो वैसे निम्न शरीर को धारण नहीं करता, बल्कि अपनी इच्छा से अप्राकृत दिव्य मंगल लीलाओं के आस्पद शरीर को धारण करता है। इसलिए कर्म जन्य जीवों के शरीर में जो दोष देखा जाता है, वह दोष परशिव को स्पर्श नहीं कर सकता। "स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रः" यह ऋक्संहिता भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करती है।

शङ्का—दहराकाश में उपासना की जानेवाली वस्तु परशिव है, ऐसा निश्चय हो जाने पर भी उसी तैत्तिरीय श्रुति में—"जो हजारों शिर वाला है, हजारों नेत्र वाला है, प्रपंच के लिये सुखदेनेवाला है, प्रपंच स्वरूप है, नाश रहित है,

भिहितत्वेन तस्यैव दहरोपासनोपास्यत्वं किं न स्यादिति

श्वरविषयकत्वं सिद्धम्, तथापि हृदयपद्मकोशादीनां चर्चाया अस्मिन्नप्यनुवाके सत्त्वेनैतच्छङ्कोत्थानं बोध्यम्।

अत्रैतत्समाधानाय चन्द्रिकाकारः कैवल्योपनिषदथर्वशिरःकठवल्लीवाक्यानि समानविषयाण्याश्रित्य दहरविद्यायाः परमशिवविषयकत्वं प्रसाध्योक्तोपासनाया अनियतविषयकत्ववारणायोपासनाधिकरणीभूतहृदयप्रतियोगित्वेन नारायणस्योपनिबन्धमुपासकाकाङ्क्षाशान्त्यर्थं वर्णयति, नारायणस्य स्वहृदयपुण्डरीकेऽनितरसाधारणज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानेन ब्रह्मभावापन्नतया "नारायणपरं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः" (तै. आ. १०।११।१) इत्यादिवाक्यान्यपि योजयति, नारायणात् परमिति पञ्चमीसमासेऽपि कस्यचिच्छैवस्याशयं दर्शयति, परन्तु नारायणोपनिषद्गतानां सर्वेषां वाक्यानां स्वारस्येनैवंप्रकारेण योजयितुमशक्यत्वान्निष्पक्षपातबुद्धिभ्य इदं व्याख्यानं न रोचिष्यत इति नराणां समूहोऽयनं यस्येति व्युत्पत्तिमाश्रित्य अनुवाकत्रयस्योपक्रमोपसंहारपर्यालोचनेन च परमशिवमेव नारायणपदेन गृहीत्वा प्रकृतोपासनाया अनियतविषयकत्वं वारणीयम्। उपासनाया मानसक्रियारूपतया एकस्मिन्नेव प्रतीकेऽनेकोपासनायाः शास्त्रेषु दृष्टतया दह्रोपासनाया अप्यनियतविषयकत्वे न काचित् क्षतिरित्यपि शक्यते वक्तुम्। तथा सत्याभ्यन्तरलिङ्गधारणं न सिद्ध्येदिति तु न भ्रमितव्यम्, प्रथमानुवाकतृतीयानुवाकानुसारेणोपासकानामाभ्यन्तरलिङ्गधारणसिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात्। देवयोरैक्येन समाधानं तु वीरशैवागमविरुद्धमित्युपेक्षितमिति बोध्यम्।

श्रेष्ठ है, निग्रह-अनुग्रह समर्थ है, व्यापक है, सत्यस्वरूप है, विश्व का कारण है, पुरुष शब्द वाच्य है, पति शब्द वाच्य है, जीवाधिपति है, शाश्वत है, नित्य मंगल स्वरूप है, अच्युत है, नारायण नामवाला वही आत्मा है, वही ज्योतिस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परवस्तु ध्येयस्वरूप-ध्यानस्वरूप-ध्यातृस्वरूप है, परिदृश्यमान चराचरात्मक यह जगत् नारायण स्वरूप वाला ही है। वैसा नारायण ही परब्रह्म है" ऐसा कहने से दहराकाश में ध्येय वस्तु नारायण स्वरूप ही है, न कि परशिवस्वरूप। इस प्रकार का निश्चय होने से पहले लिखे हुए "यः परः स महेश्वरः" इस मन्त्र में आया हुआ महेश्वर पद शिव में रूढ होनेपर भी आगे के अनुवाक में आये हुए नारायण हरि, अच्युत आदि पदों की पर्यालोचना से महेश्वर शब्द का "महाँश्चासौ ईश्वरश्च महेश्वरः" ऐसा कर्मधारय समास का आश्रय लेकर महेश्वर

चेन्न, "हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्। अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं

इतः परं यथालेखं मूलमनुसरामः। नारायणस्येति। तथा च "यः परः स महेश्वरः" (तै. आ. १०।१०।३) इति महेश्वरपदमेव महांश्चासावीश्वरश्चेति योगमाश्रित्य नारायणपरकत्वेनैव कथञ्चिन्नेयमिति शङ्कितुर्भावः। निराकरोति —नेति। "हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धम्" (कै. उ. ६) इत्यादि हृत्पुण्डरीकं यदस्ति, तस्य मध्ये इत्येवमध्याहारेण योजनीयम्। विरजं रागद्वेषादिरजोविकारशून्यम्। विशुद्धं यास्कमहर्षिणा निरुक्तकारेण—"जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति" (नि. १।२) इति सूत्रेण दर्शितैः षड्भिर्भौतिकविकारैर्हीनम्। विचिन्त्य ध्यात्वा। मध्ये अर्थात् पुण्डरीकस्य। विशदं निर्मलज्योतिस्वरूपम्। विशोकं नाशादिशङ्काविरहेण स्वात्मारामतयेष्टवियोगाद्यभावेन च चिन्ताशून्यम्। अचिन्त्यं कियत्परिमाणकमिदं वस्त्वस्तीत्येवं चिन्ताया अविषयीभूतम्। कुत इत्याहाव्यक्तं जीवानामज्ञानावृतचित्ततयाऽप्रकाशम्, "तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" (बृ. उ. ४।४।२२) इति श्रुतेर्निष्कामयज्ञाद्यनुष्ठानक्षपितकल्मषेतरज्ञानाविषयीभूतमित्यर्थः। अनन्तरूपम्। कालकृतोऽन्तो नाशः, देशकृतोऽन्तः सर्ववस्त्वव्यापकत्वम्। एतदुभयविधान्तरहितं रूपं यस्य तथाभूतम्। शिवं कल्याणस्वरूपम्, शेते सर्वमस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सर्वाधारभूतं वा। प्रशान्तं निर्वातदीपशिखावदेकाकारम्। अमृतं नित्यम्। ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वेदस्य विरिञ्चेश्च

पद के रूढ्यर्थ को छोड़कर अवयवार्थ को लेकर नारायण शब्द का अर्थ बताने के लिए उपक्रम और उपसंहार की एकार्थता सिद्ध होती लगती है।

समाधान—इसके लिए विभिन्न श्रुति-प्रकरणों का विचार करने के बाद इस महेश्वर पद के अर्थ का निर्णय हो सकता है। यह विषय कैवल्योपनिषद् आदि में इस तरह से वर्णित है—

हृत्पुण्डरीकं = जो हृदयकमल है, तस्य मध्ये = उसके मध्य भाग में, विरजं = रागद्वेष से रहित, विशुद्धं = उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और नाश रूप षड्र्मियों से रहित, विचिन्त्यं = इतना ही परिणाम है इस प्रकार मन का अगोचर, अव्यक्तं = अज्ञानावृत जीवात्मा से अगम्य, अनन्तरूपं = अपरिच्छिन्न आकार विशिष्ट, शिवं = सर्वाधार तथा मंगलस्वरूप, प्रशान्तं = वायुरहित स्थान पर रखे गये दीपक की तरह शान्त, अमृतं = नित्य स्वरूप, ब्रह्मयोनिं = ऋक् आदि वेदों और चतुर्मुख

ब्रह्मयोनिम् ॥ तदादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्द-मरूपमद्भुतम् । उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ॥" (६-७) इति कैवल्योपनिषद्वाक्येन, "बालाग्र-मात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वेदेवं जातवेदं वरेण्यम्" (ब. उ. १)

योनिं कारणं तत् प्रसिद्धम् । आदिमध्यान्तविहीनम् आदिरुत्पत्तिः, मध्यं वृद्धाद्यवस्था, अन्तः ध्वंसः, एतत्त्रितयरहितम् । एकं सजातीयद्वितीयरहितम्। विभुं व्यापकम् । चिदानन्दम् । अत्र नपुंसकनिर्देशेनार्शआद्यजन्ततया नित्य-ज्ञानसुखयोराश्रयमित्यर्थः । अरूपम् अनवयवम् । अद्भुतम् अणिमादिभि-र्लोकेऽदृश्यमानैरैश्वर्यैराश्चर्यमयम्। उमासहायम् ।अत्रोमापदमुकारमकाराकारैः प्रणवघटकैरेव वर्णैर्ब्रह्मविष्णुरुद्रवाचकैः शक्तिप्रधानत्वेन स्त्रीत्वविवक्षायां टाप्प्रत्ययं कृत्वा साधनीयम् । तेन मूर्तित्रयेण जगज्जन्मस्थितिप्रलयकारणी-भूता शक्तिः पार्वतीरूपेण परमशिवस्य वामाङ्कस्थोमापदेनोच्यते । सा सहायाऽयोगव्यवच्छेदेन सह अयते वर्तमाना येन तं परमेश्वरम्, ईश्वराणा-मीश्वरं स्वेतरपुरुषनिष्ठेश्वरत्वानिरूपकमित्यर्थः । प्रभुं समर्थम् । त्रिलोचनं सूर्यशशाङ्कवह्निनेत्रम् । नीलकण्ठं ब्रह्माण्डानुग्रहपारवश्येन निपीतहालाहल-जनितश्यामच्छविकण्ठम्, भक्तवात्सल्येन कण्ठासञ्जितविष्णुच्छायं वा । प्रशान्तं विक्षेपशून्यम् । कैवल्योपनिषद्वाक्येनोपक्रमोपसंहारमध्यपरामर्शशिवै-कान्तिकाथर्वशिरोवचनेन कण्ठवल्लीमन्त्रेण छान्दोग्यवाक्येनैतत्तृतीयान्तार्थ-चतुष्टयस्य दहरोपासनोपास्यत्वविधानेनेत्यत्रत्यविधानक्रियायामन्वयः । तदेक-वाक्यतापन्नेत्यस्य छान्दोग्यवाक्येनाभेदेनान्वयः। विधानेनेति तृतीयार्थहेतुत्वस्य चानियतविषयकत्वापत्तावन्वयः । बालाग्रमात्रमिति "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्-

ब्रह्मा की उत्पत्ति में कारण, तत् = प्रसिद्ध, आदिमध्यान्तविहीनं = उत्पत्ति, वृद्धि और हानि से रहित, एकं = सजातीय आदि भेद शून्य, विभुं = आकाश की तरह व्यापक, चिदानन्दं = नित्य ज्ञान तथा नित्य सुख का आश्रय, अरूपं = अवयवशून्य, अद्भुतं = अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यों से विस्मय का हेतुभूत, उमासहायं = सृष्टि, स्थिति आदि के लिए अनुकूल अपनी शक्ति से विशिष्ट, परमेश्वरं = निरतिशय ऐश्वर्य से युक्त, प्रभुं = निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ, त्रिलोचनं = सूर्य, चन्द्र और अग्नि नामक तीन नेत्रों से विशिष्ट, नीलकण्ठं = समुद्रमथन के समय उत्पन्न विष को अपने गले में धारण करने वाले, प्रशान्तं = पूर्ण कुम्भ (कलश) की तरह शान्त ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए ।

इत्युपक्रमोपसंहारमध्यपरामर्शशिवैकान्तिकाथर्वशिरोवचनेन, "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य"

मात्रचः" (पा. ५।२।३७) इति सूत्रेण मात्रचि बालाग्रपरिमाणं बालस्य केशस्य अग्रमिव सूक्ष्ममित्यर्थः। विश्वेदेवं सकलदेवस्वरूपम्। जातवेदं जाता उत्पन्ना वेदा यस्मात् तम्, जातं सर्वं वस्तु वेत्ति विन्दते वा यस्तं वा। वरेण्यं वरणीयम्, श्रेष्ठमिति यावत्।

उपक्रमोपसंहारमध्यपरामर्शशिवैकान्तिकाथर्वशिरोवचनेनेति। उपक्रमः प्रारम्भः, उपसंहारः समाप्तिग्रन्थः, मध्यः ग्रन्थस्य मध्यभागः, एषां त्रयाणां परामर्शेन विचारेण परस्परैकवाक्यतया तात्पर्यपर्यालोचनेन शिवैकान्तिकं शिवमात्रतात्पर्यकत्वेन निर्णीतं यदथर्वशिरोवचनम्, तेन शिवस्यैव दहरोपासनोपास्यत्वं सिद्ध्यतीति भावः।

अङ्गुष्ठमात्रः अङ्गुष्ठपरिमितः। अङ्गुष्ठपदेन सूक्ष्मतां लक्षयित्वा तेन रूपेण हृत्पुण्डरीकान्तर्वर्तिमहेश्वर एवोच्यते। पुरुषः पुंस्त्ववान्। तेन नपुंसकत्वस्त्रीत्वव्यावृत्तिः। यद्वा पृषोदरादित्वेन पुरि शेते इति व्युत्पत्त्याऽन्तर्यामी पुरुषपदार्थः। ज्योतिरिवाधूमकः। ज्योतिष्पदेन प्रज्वलद्वह्निरुच्यते। अत एवाधूमक इति विशेषणं सङ्गच्छते, "संयोगो विप्रयोगश्च" (वा. प. २।३१५) इत्यादिना

बालाग्रमात्रं = बाल के नोक की तरह अतिसूक्ष्म होकर रहने वाला, विश्वदेवं = समस्त देवता स्वरूप, जातवेदं = वेदों के उत्पत्तिस्थान व समस्त प्राणियों के आधार, समस्त चराचर प्रपंच के उत्पादक, वरेण्यं = श्रेष्ठ स्वरूप ब्रह्मशब्दवाच्य परशिव के, हृदयस्य = पेट और छाती के बीच में रहने वाले, सूक्ष्म कमल के, मध्ये = बीच में ध्यान करना चाहिए।

अंगुष्ठमात्रः = अंगूठे के बराबर, पुरुषः = 'पुरि शेत इति पुरुषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार हृदय के बीच के कमल पर रहनेवाला, अधूमकः = धुआँ रहित, ज्योतिरिव = अग्नि की तरह निर्मल प्रकाश से विशिष्ट परशिव, भूतभव्यस्य = भूतभविष्यद्वर्तमानकालिक सभी वस्तुओं का, ईशानः = नियामक है।

शंका—इस मन्त्र में 'अंगुष्ठमात्रः' अंगूठे के बराबर आकारवाला है, ऐसा शब्द है। यह शब्द परिच्छिन्न, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति से विशिष्ट जीव के धर्म का बोध कराता है, अपरिच्छिन्न, परिणामरहित, सर्वज्ञ, अनन्तशक्ति विशिष्ट परशिव के धर्म का बोध नहीं कराता। इसके अतिरिक्त श्वेताश्वतरोपनिषत् में भी जीवात्मा के लिए अंगूठे के बराबर की आकृति स्पष्ट रूप से बताई गई है। परशिव की कहीं भी

काव्यप्रकाशे (२।१९) संसर्गवद् विप्रयोगस्यापि "अशङ्खचक्रो हरिः" इत्यादौ विशेषावगतिहेतुत्वोक्तेः। तथा च धूमरहितप्रज्वलद्वह्निरिव निर्मलप्रकाश-स्वरूप इत्यर्थः। ईशानो भूतभव्यस्येति। अत्र भव्यपदेन वर्तमानं भविष्यच्चोच्यते। ततश्च भूतभविष्यद्वर्तमानकालभवानां वस्तूनां स्वामीत्यर्थः।

किसी श्रुति में अंगूठे के बराबर की आकृति नहीं बतायी गयी। इसलिए यह वचन परशिव का बोधक नहीं है, ऐसा निर्णण कर लेना चाहिए। "अंगुष्ठमात्रः पुरुषः" इस वाक्य के उत्तर में "ज्योतिरिवाधूमकः" ज्योति की तरह प्रकाशविशिष्ट है और "ईशानो भूतभव्यस्य" भूतभविष्यद्वर्तमान काल की सभी वस्तुओं का स्वामी है, सबका कर्ता है, नित्यशुद्ध है, ऐसे परमात्मा के अर्थ को बताने वाले शब्द हैं। इस प्रकार पूर्वोत्तर के वाक्य जीवात्मा और परमात्मा के बोधक हैं, अतः दहराकाश में प्रकाशमान वस्तु परशिवरूप वस्तु ही है, ऐसा कैसे निश्चय किया जा सकता है?

समाधान—ब्रह्मसूत्र के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद के तेईसवें सूत्र में अंगूठे के बराबर की आकृति परशिव की बताई गई है, यह आकृति जीवात्मा की नहीं है। क्योंकि कठोपनिषत् के अनुसार भी अंगूठे के बराबर की आकृतिवाला पुरुष परमात्मा ही है, न कि जीवात्मा, क्योंकि परमेश्वर बोधक शब्द होने से, अर्थात् "अंगुष्ठमात्रः पुरुषः" इस वाक्य के उत्तर में "ईशानो भूतभव्यस्य" (पहले, अब और आगे भी जो पदार्थ थे, हैं और रहेंगे उन सबका स्वामी है) इस वाक्य में समस्त वस्तुओं का नियामक है, ऐसा असाधारण धर्म है। ईशानपदवाच्यत्व तो अल्पज्ञ जीवात्मा के लिए कभी भी संभव नहीं है। ऐसा धर्म वास्तव में अपरिच्छिन्न परशिव में ही रह सकता है, क्योंकि उस मन्त्र के पूर्व वाक्य में निर्दिष्ट अंगूठे के बराबर का परिणाम परशिव में कैसे संभव है? अतः कहना पड़ेगा कि अंगुष्ठ परिणाम का यह धर्म परशिव में रहनेवाला (विशिष्ट) स्वाभाविक धर्म न होने पर भी औपाधिक धर्म है। सभी मनुष्यों का हृदयाकाश अपने अपने अंगूठे के बराबर है। इस प्रकार के उपासकों के अंगूठे के बराबर के हृदयाकाश में सर्वानुग्राहक परशिव निरन्तर निवास करते हैं। इसलिए उस हृदयाकाश के अन्तर्वर्ती परशिव के लिए भी उस औपाधिक अंगूठे के बराबर की बात सिद्ध होती है, न कि अणु परिमाणवाले जीवात्मा की। इसके अलावा इस मन्त्र में 'ईशान' यह विशेष पद है, अतः "ईश्वरः शर्व ईशानः" इस कोशवाक्य के प्रमाण से भी यह अर्थ अकेले शिव में ही प्रसिद्ध है, अतः इस कठवल्ली मन्त्र से दहर पुण्डरीक में उपासित वस्तु शिवरूप वस्तु ही है, न कि अन्य कोई, ऐसा निश्चय होता है।

(कठो. ४।१३) इति कठवल्लीमन्त्रेण च छागपशुन्यायेन

छागपशुन्यायेनेति। अयमाशयः—"अग्निषोमीयं पशुमालभेत" (तै. सं. ६।१।११।६) इति पश्वालम्भविधौ पशुपदेन पशुसामान्यस्यैवोपादानात् "पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात्" (मी. ६।८।३०) इति पूर्वपक्षसूत्रेण पशुसामान्यस्य प्राप्तिमुपन्यस्य "छागो वा मन्त्रवर्णात्" (मी. ६।८।३१) इति सिद्धान्तसूत्रेण "छागस्य हविषो वपाया मेदसः" (तै. ब्रा. ३।६।८।१) इति मन्त्रे छागरूपपशुविशेषस्य श्रुतत्वात् पश्वालम्भनविधौ सामान्यरूपेण पशोरुपादानेऽपि मन्त्रविध्योरेकवाक्यत्वानुरोधेन छाग एव पशुर्गृह्यत इति व्यवस्थापितम्। तन्न्यायेन—"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" (छा. उ. ८।१।१) इत्यादिछान्दोग्यवाक्ये यत्तच्छब्दाभ्यामुपास्यस्वरूपस्य विशेषरूपेणाप्रतीतावपि तैत्तिरीयवाक्ये हृत्पुण्डरीकान्तर्वर्त्युपासनाबोधके—"यः परः स महेश्वरः" (तै. आ. १०।१०।३) इति महेश्वरपदेन

इस प्रकार भिन्न-भिन्न उपनिषदों में आये हुए परशिव के बोधक विशेष शब्दों को लेकर विचार करने पर "तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्" इस तैत्तिरीय श्रुति में आये हुए सामान्य 'यत् तत्' पदों से शिवरूप वस्तु ही सिद्ध होती है। इस बात को न मानने पर उसी तैत्तिरीय उपनिषत् के आगे के मन्त्रों में महेश्वर, विरूपाक्ष, कृष्णपिङ्गल आदि विशेष शब्दों का कोई अर्थ ही नहीं है, ऐसा निश्चय होने के अतिरिक्त कैवल्य, अथर्वशिर, कठवल्ली आदि अनेक उपनिषदों में आये हुए—शिव, अमृत, उमासहाय, परमेश्वर, नीलकण्ठ, त्रिलोचन, जातवेद, ईशान आदि शिव में रूढ़ विशेष पद भी व्यर्थ होंगे।

अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पूर्वमीमांसा का छागपशुन्याय उदाहरण के रूप में दिया जा रहा है। अग्नीषोमीय याग में पशु की बलि देनी चाहिए, इस प्रेरक (विधि) वाक्य में 'पशु' ऐसा सामान्य पद होने से वह वाक्य चार पैरों से विशिष्ट किसी पशु की बलि देने का अर्थ बता रहा है, किसी विशेष पशु का निर्देश नहीं दे रहा है। इसलिए उस अग्नीषोमीय याग में बलि दिये जाने वाले पशु का स्वरूप वर्णित न होने से उस स्थान पर सन्देह होता है। किन्तु "छागस्य हविषो वपाया मेदसः" अर्थात् बकरे की चर्बी का हवन करना चाहिए, इस अर्थ को बतानेवाले विनियोग मन्त्र से और इस मन्त्र में छाग नामक विशेष पद के आने के कारण सामान्य पशु पद का छाग नामक अर्थ निश्चित हो जाता है। इस प्रकार सामान्य पशुपद के छागरूप विशेष अर्थ का विधान न करने पर 'अग्नीषोमीय' इस विधिवाक्य की

तदेकवाक्यतापन्नेन—"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं "हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धम्" (६) इति कैवल्योपनिषद्वाक्ये शिवमुमासहायं परमेश्वरं त्रिलोचनं नीलकण्ठमिति पञ्चभिः पदैः, वालाग्रमात्रमित्यथर्वशिरोवाक्ये रुद्रात्मकाग्निरूढजातवेदपदेन, अङ्गुष्ठमात्र इति कठवल्लीमन्त्रे ईशानपदेन विशिष्य शिवस्यैवोमापतेर्हृदयमध्ये उपास्यत्वबोधनाच्चतसृणामुपनिषदामनुरोधेन भगवदुमापतेरेव दहरोपासनोपास्यत्वं दृढं भवतीति निष्पक्षपातदृष्ट्या द्रष्टव्यमिति। नारायणस्यास्मिन् प्रकरण उल्लेखप्रयोजनं त्वनुपदमेव स्फुटीभविष्यति।

अथ यदिदमिति। पूर्वोक्तविद्योपदेशानन्तरं दहरविद्योपदिश्यत इति शेषः। यदिदं यद् इदं सन्निहितं ब्रह्मपुरम् आत्मस्थानं शरीरं वेश्म गृहम्, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति दहरः सूक्ष्मः पापदहनक्षमो वा अस्मिन् हृदयपुण्डरीके अन्तराकाशः अन्तः मध्ये आकाशवदपरिच्छिन्नं ब्रह्म, अस्तीति शेषः। तैत्तिरीयकव्याख्याने सायणोक्त्यनुसारेणात्रापि 'एवं सति' इति शेषः करणीयः। ततश्च तस्मिन् यदन्त इत्यत्र तत्पदेन पुनरपि हृत्पुण्डरीकमेव

और 'छागस्य हविषो" इस विनियोग वाक्य की एकवाक्यता नहीं हो सकती। इसलिए सामान्यरूप पशुपद का छागरूप विशेषार्थ स्वीकार करना चाहिए। इस अभिप्राय की सिद्धि के लिए पूर्वमीमांसा का "छागो वा मन्त्रवर्णात्" यह सूत्र प्रवृत्त होता है। इसी को 'छागपशुन्याय' कहते हैं। इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न मन्त्रों में आये हुए उन उन विशेष पदों का विचार कर सामान्य पदों के अर्थ का निश्चय करना चाहिए। तदनुसार "तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्" इस मन्त्र के सामान्य बोधक 'यत् तत्' पदों से दहरपुण्डरीक में जो वस्तु है, वही सिद्ध होती है।

भिन्न-भिन्न विद्याओं का उपदेश देने के बाद दहरविद्या का उपदेश करते समय ऋषि उद्दालक श्वेतकेतु नामक अपने पुत्र को बुला कर कहते हैं कि हे श्वेतकेतो! अथ = भिन्न-भिन्न विद्याओं के उपदेश के बाद, यदिदं = समीप में स्थित ब्रह्म के निवासस्थान के रूप में स्वीकृत जो शरीररूप गृह है, अस्मिन् ब्रह्मपुरे = उस ब्रह्म पुर नामक शरीर में, दहरं = अतिसूक्ष्म, पुण्डरीकं = जो दहराकाश, वेश्म = उस ब्रह्म का गृह है, अस्मिन् = इस दहराकाश में, अन्तराकाशः = आकाश की तरह व्यापक, अमूर्त ब्रह्म है, ऐसा रहने पर, तस्मिन् = उस हृदयाकाश में, यद् अन्तः =

तद्भाव जिज्ञासितव्यम्" (छा. उ. ८।१।१) इति छान्दोग्य-

गृह्यते। यत्पदेन च आकाशपदाभिहितं ब्रह्मैव ग्राह्यम्। ततश्च तस्मिन् पुण्डरीके यद् अन्तः अन्तर्गतम् अन्तर्यामिस्वरूपं सदाशिवतत्त्वं तदन्वेष्टव्य-मित्यर्थः।

अन्वेषणमेव बिवृणोति—तद्भाव जिज्ञासितव्यमिति। ज्ञातुमेष्टव्यम्, विचारेण निर्णेतव्यमित्याशयः। उपासनायाः स्वरूपनिर्णयपूर्वकत्वाद् हृत्पुण्डरीके पारमेश्वरं तत्त्वं निश्चित्योपासितव्यमिति तात्पर्यम्। छान्दोग्यवाक्येन चेति। यद्यपि छान्दोग्यवाक्ये शिवासाधारणं किञ्चित्पदं नास्ति, तथापि देवतान्तररूढपदस्याप्यभावे हृत्पुण्डरीकान्तर्गतोपासना-विषयककैवल्योपनिषदादिगतशिवासाधारणोमासहायत्रिलोचननीलकण्ठादिपदै-र्हृत्पुण्डरीके शिवस्यैवोपास्यत्वनिर्णयेन तदेकवाक्यतया तस्मिन् यदन्तस्तद-न्वेष्टव्यमिति छान्दोग्यवाक्यगतयत्तच्छब्दाभ्यां शिवस्यैव ग्रहीतुमौचित्यमित्यनु-पदोक्तमत्रानुसन्धेयम्।

अन्तर्यामी जो वस्तु है, तत् = वह ब्रह्मस्वरूप वस्तु, अन्वेष्टव्यम् = खोजने योग्य है, तद्भाव = उस अन्वेषणीय वस्तु को, जिज्ञासितव्यम् = विचारपूर्वक निर्णय करके समझ लेना चाहिए।

इस मन्त्र में हृदय पुण्डरीक में स्थित वस्तु को समझ लेने की बात कही गई है। वहाँ शिव या अन्य देवता को बताने वाला पद नहीं दीखता। हृदयाकाश में जो वस्तु है, उस वस्तु को खोजना चाहिए और उसी वस्तु को समझना चाहिए, ऐसा कहने पर भी कैवल्य, अथर्वशिर, कठ आदि अनेक उपनिषदों में आये हुए ये पद शिव में ही रूढ़ हैं, क्योंकि उमासहाय, त्रिलोचन, नीलकण्ठ आदि असाधारण विशेष पदों से हृत्पुण्डरीक में उपासना की जाने वाली वस्तु शिव-रूप ही सिद्ध होती है। उसी तरह "दहरं····तदुपासितव्यम्" यह तैत्तिरीय वाक्य भी शिवरूप वस्तु की ही दहराकाश में उपासना करने का विधान करता है।

शंका—तैत्तिरीय श्रुति के प्रथम तथा द्वितीय अनुवाक में 'नारायण' पद आने से हृदय पुण्डरीक में उपासना की जाने वाली वस्तु नारायणरूप वस्तु है, ऐसा क्यों न निर्णय किया जाय?

समाधान—इसी तैत्तिरीय श्रुति में और कैवल्य, कठ आदि अनेक श्रुतियों में महेश्वर, कृष्णपिङ्गल, विरूपाक्ष, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, उमासहयाय, आदि विशेष पद आये हैं। इन पदों का शिव अर्थ तो करना ही है, क्योंकि अन्य

वाक्येन च शिवस्य दहरोपासनोपास्यत्वविधानेनात्र देवतान्तरविधानेऽनियतविषयकत्वापत्तेः ।

अनियतविषयकत्वापत्तेरिति। ननु शालग्रामे जलादौ चैकस्मिन्नेव स्थानेऽनेकदेवानां पूजादिदर्शनेन प्रतीकैक्येऽप्युपासनाभेदेनानियतविषयकत्वं न दोष इति चेन्मैवम्, तत्तद्दैवतैकान्तिकभिन्नभिन्नपदैरुपासनाभेदस्य निर्णीतत्वेनानियतविषयकत्वस्यादोषत्वेऽपि नियतविषयकैकोपासनाया उपपत्तिसंभवेऽनियतविषयकत्वपक्षस्य हेयत्वावश्यम्भावाद् जलादिप्रतीके भिन्नानामेव वाक्यानां तत्तदुपासनाबोधकत्वेन सन्दिग्धार्थकत्वाभावान्निष्प्रत्यूहप्रवृत्तिप्रयोजकत्वोपपत्त्या तथोपगमेऽपि प्रकृते तैत्तिरीयकवाक्यस्यैकस्यैवोपास्यद्वयांशाकृष्यमाणत्वे सन्दिग्धार्थकतया प्रवर्तकत्वमेवोच्छिद्येतेति नानियतविषयकत्वं स्वीकर्तुं शक्यम्, अनुवाकत्रयस्यैकोपासनाविषयकत्वाऽभिप्रायेणाऽयं दोषो बोध्यः।

देवताओं का अर्थ यहाँ पर सम्भव नहीं है। इसलिए 'सहस्रशीर्ष' अनुवाक में आए हुए 'नारायण' पद का "नरा अयनं अस्य", "नराणां समूहः अयनम् अस्य" इस व्युत्पत्ति के बल से अवयवार्थ स्वीकार करने से वह नारायण पद शिवपरक हो जायेगा, तो शेष सभी वाक्यों का समन्वय भी हो जाता है। त्रिलोचन, नीलकण्ठ, उमासहाय आदि पदों में रहने वाले रूढ्यर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ लेना साध्य नहीं है। इसलिए अकेले नारायण पद का यौगिकार्थ मानकर शेष सभी वाक्यों का समन्वय कर लेना ही न्यायसंगत है।

इस प्रकार दहराकाश में रहनेवाली उपास्य वस्तु का निर्णय न कर लेने पर अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार जिस किसी देवता को भी उपासना का विषय बताने पर विष्णु की उपासना करनी है? अथवा शिव की उपामना करनी है? या अन्य किसी देवता की उपासना करनी है? ऐसे अनेक संशय उत्पन्न होने पर सन्देह के अधीन हो जाना पड़ेगा। शास्त्रकार इस प्रकार अनेक प्रकार से कहने को 'अनियतविषयत्व' ऐसा दोष कहते हैं। इस प्रकार के दोष को अवकाश न देकर दहराकाश में प्रकाशमान वस्तु शिवरूप वस्तु है, ऐसा निर्णय कर उपासक ध्यान करता हुआ परमपुरुषार्थ को प्राप्त करे।

शंका---सालिग्राम आदि एक-एक स्थान में अनेक देवताओं की पूजा करने का सम्प्रदाय लोक में देखा जाता है। इसलिए प्रतीक (विग्रह) एक होने पर भी उपासनाएँ अनन्त होने से अनियतविषयकत्व (एक में अनेक देवताओं की पूजा) दोष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान—ऐसे स्थलों में नियमपूर्वक उन उन देवताओं का बोध करानेवाले भिन्न-भिन्न पद दीखने से अनेक देवताओं की उपासना का भेद निश्चित हो जाता है। इसलिए उस स्थान पर 'अनियतविषयकत्व' दोष नहीं है। लेकिन नियमपूर्वक एक ही देवता की उपासना करनी है, ऐसे सिद्ध स्थान में अनियत-विषयकत्व दोष को मान लेना ही न्याय्य है। यहाँ पर एक तैत्तिरीय वाक्य में अनेक प्रकार की उपासनाओं का विधान मानने पर उससे उपासक के लिए और भी सन्देह उत्पन्न हो जाने से किसी की भी उपासना में प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए तैत्तिरीय के तीनों अनुवाकों में एक ही देवता को उपास्य वस्तु कहना ही मुख्यांश है। इसलिए इस 'अनियतविषयकत्व' को दोष के रूप मानना ही है।

शंका—इस प्रकार का निर्णय कर लेने पर तैत्तिरीय में आये हुए नारायण पद के अवयवार्थ को स्वीकार करने पर शिव के विशेषण के रूप में हम उसको स्वीकार नहीं करेंगे। नारायण ही दहराकाश में उपासनायोग्य वस्तु है, ऐसा हम कहेंगे।

समाधान—तैत्तिरीय श्रुति में "नारायणः परं ब्रह्म" इस प्रकार नारायण को परब्रह्म सिद्ध करने वाला पद तो है, लेकिन उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—इन छः प्रकार के लिङ्गों से श्रुतियों के तात्पर्य का निश्चय किया जाता है। यहाँ पर "अणोरणीयान्" से लेकर "महिमानमीशः" यहाँ तक सम्पूर्ण प्राणियों की हृदयरूपी गुफा में ईश अन्तर्वर्ती होकर रहता है और उस ईश के अनुग्रह से उपासक सभी प्रकार के दुःखों से रहित होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं। इस ईश के महत्त्व का वर्णन करने का उपक्रम करके फिर आगे अपरा शक्तिविशिष्ट वह परमेश्वर ही जगत् का उपादानकारण है, ऐसा प्रतिपादन करके, जो विश्वाधिक है और सर्वज्ञ है, उस ईश ने प्रपञ्च से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी की सृष्टि की है, ऐसा कहने से वह ईश्वर जगत् का निमित्तकारण भी है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद वे ही दहर-पुण्डरीक में रहकर निष्काम कर्म का अनुष्ठान करने वाले को, सम्पूर्ण वेदान्त के तात्पर्य को समझे हुए जितेन्द्रिय यतियों को बन्धन से निवृत्त कराकर सर्वोत्कृष्ट मुक्ति को देते हैं, ऐसा वर्णन किया गया है। बाद में वैसी मुक्ति को प्राप्त करने के लिए उपाय बतलाने के उद्देश्य से "दहरं विपाप्मम्" इस प्रकार दहरपुण्डरीक की उपासना का आरम्भ करके "तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्" इस प्रकार दहर-पुण्डरीक में जो रहता है, उसी की उपासना करनी चाहिए, ऐसा सामान्य रूप से उपदेश देकर और उपास्य वस्तु का स्वरूप क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर दहरा-

किञ्च, उपासनाविधिस्थले उपास्योपासनोपासकानां त्रयाणामपि विधेयत्वेनोपासकाकाङ्क्षायाम्—"नारायणं महाज्ञेयम्" (तै. आ. १०।११।१) इत्याद्यभिधाय "पद्मकोशप्रतीकाशम्" (तै. आ. १०।११।२) इति दहरपुण्डरीकप्रदर्शनेन "अपरिमाणे शिष्टस्य" (मो. ६।७।२१) इत्यपरिमिताधि-

---

एतावता प्रबन्धेन शिवस्यैव दहरोपासनाविषयत्वमित्युपपाद्य तत्प्रकरणपठितनारायणपदसङ्गतिमुपपादयति—किञ्चेत्यादिना। उपासकाकाङ्क्षायामिति। उपासनाया उपास्योपासकोभयसंबन्धित्वनियमेनोपनिषदन्तरैकवाक्यतयोपास्यस्वरूपनिर्णये जाते परिशेषान्नारायणपदमुपासकस्वरूपसमर्पकमेव मन्तुमुचितमिति तद्ग्रन्थकृत्तात्पर्यम्। अत्रैव हेत्वन्तरमपि क्रोडी-

काश में रहनेवाला महेश्वर ही है, इस प्रकार उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार आगे के मन्त्रों में भी कृष्णपिंगलत्व, विरूपाक्षत्व आदि लक्षण दिखा कर उपसंहार किया गया है। इस प्रकार के उपक्रम और उपसंहार के बीच में "नारायणपरं ब्रह्म" इस विशेष वाक्य के आने से इस नारायण पद का पूर्वाधिकरण न्याय से उपासक ही है, ऐसा अर्थ कहना चाहिए, यह सिद्ध होता है। लेकिन सभी लोक उपासक ही हैं, तो यहाँ पर केवल नारायण को उपासक कहने पर सभी उपासकों से नारायण श्रेष्ठ उपासक हैं, ऐसा सिद्ध होता है। इसलिए यहाँ पर उपास्य और विरूपाक्ष शब्दवाच्य जो ब्रह्म है और जो ब्रह्मोपासक नारायण है, इस वाक्य से उन दोनों का अभेद दिखलाया गया है। ऐसा न मानने पर उपक्रमोपसंसार आदि षड्विध लिंगों से ज्ञापित तात्पर्य का विरोध होता है, ऐसा अभिप्राय ब्रह्मसूत्र भाष्य में दिखाया गया है।

शंका—इस प्रकार पूर्वोत्तर वाक्यों का विचार करने से दहराकाश में उपासना को जानेवाली वस्तु शिवरूप वस्तु ही है, ऐसा निर्णय होने पर भी लोक में कोई भी उपासना करना चाहे तो उपासक, उपास्य और उपासना इन तीनों की आवश्यकता होती है। यहाँ पर दहराकाश में उपास्य वस्तु शिव है, ऐसा कहने के बाद इस शिव की उपासना करनेवाला उपासक कौन है?

समाधान—तैत्तिरीय में "नारायणं महाज्ञेयम्" ऐसा बताते हुए "पद्मकोशप्रतीकाशम्" इससे कमलसदृश दहरपुण्डरीक दिखलाया है। इस वाक्य के सान्निध्य में "नारायणं महाज्ञेयम्" ऐसा वाक्य होने से नारायण का हृदयकमल है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए, क्योंकि समीप के पद को छोड़ कर दूरवर्ती पद को लेने

करणन्यायेन सन्निधिश्रुतनारायणपरित्यागेनान्यनिरीक्षणायो-

करोति—अपरिमाणे शिष्टस्येत्यादिना। आधाने श्रूयते—"एका देया षड्देया द्वादश देया चतुर्विंशतिर्देया शतं देयं सहस्रं देयमपरिमितं देयम्" इति। तत्रापरिमितपदे सन्देहः—किमपरिमितपदेन सन्निहितानामेकत्वादिसंख्यानां प्रतिषेधः क्रियते? आहोस्वित् परिमाणसामान्यस्येति। तत्रेदं पूर्वपक्षसूत्रम्—"अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्तच्छ्रुतित्वात्" (मी. ६।७।२१) इति। अयमर्थः—अपरिमितपदे शिष्टस्यैकत्वादिना विहितस्यैकत्वादिसंख्यारूपपरिमाणस्य प्रतिषेध उच्यते। कुत इत्याह—तच्छ्रुतित्वादिति। तस्या एकत्वादिसंख्यायाः श्रुतित्वात्, कर्मणि क्विना श्रूयमाणत्वादित्यर्थः। प्रत्यासन्नत्वादिति यावत्। एवमेव प्रकृते पद्मकोशप्रतीकाशमित्युपास्याधिकरणे हृदये वर्ण्यमाने कस्य हृदयमिति प्रतियोग्यपेक्षायां नारायणं महाज्ञेयमिति नारायणस्य प्रत्यासन्नत्वात् तत्संबन्ध्येव ग्राह्यमिति भावः। यद्यपीदं पूर्वपक्षसूत्रम्, "अनियमः" (मी. ६।७।२३) इत्याद्युत्तरसूत्रद्वयेनापरिगणितत्वस्यैव सिद्धान्तितत्वात्, तथापि तत्रैका देया इत्यादिवाक्यमर्यादामाहात्म्यादपरिमितपदजन्यस्वारसिकप्रत्ययबलाच्च प्रत्यासत्तिन्यायबाधेऽपि तादृशबलवद्विरोधि-

पर 'अपरिमिताधिकरण' न्याय का विरोध होगा। उस न्याय का स्वरूप तो यागीय आधान में—"उनको एक देना है, इनको छः देना है, दूसरे को बारह देना है, इनसे दूसरे को चौबीस देना है, दूसरे को सौ देना है, दूसरे को हजार देना है और अन्य को अपरिमित देना है" ऐसा कहा गया है। यहाँ पर आया हुआ अपरिमित पद समीप में आये हुए हजार, सौ, एक आदि पदों का निषेध कर रहा है, अथवा लोकव्यवहृत संख्यासामान्य का निषेध कर रहा है? इस प्रकार का सन्देह होने पर, वह अपरिमित पद निकटवर्ती केवल एकत्व आदि संख्या का ही निषेध कर रहा है, न कि लोक-व्यवहार में रहने वाली सभी संख्याओं का। इसी प्रकार "पद्मकोशप्रतीकाशम्" इस वाक्य के निकट में नारायण पद के होने से नारायण का हृदयकमल ही है, वैसा निर्णय होने से, अपने हृदय में अपनी ही उपास्यता के न हो सकने के कारण नारायण उपासक है और शिव उपास्य है, ऐसा सिद्ध हो जाता है।

शंका—नारायण अपने हृदयकमल में शिव की उपासना करते हैं, ऐसा अर्थ क्यों लेना? इस दहर वाक्य के समीप में ही वेदान्त-विचार से तत्त्व का निर्णय करके परिशुद्ध गुणों से विशिष्ट सर्वसंग परित्याग किये हुए संन्यासी लोग जीवन

गात् तस्यैव दहरपुण्डरीकप्रतियोगित्वापत्त्या स्वीयहृदये स्वस्योपास्यत्वायोगाच्च शिवस्यैव नारायणहृद्युपास्यत्वं सिद्ध्यति ।

न च "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (तै. आ. १०।१०।३) इत्येतद्वाक्यश्रवणेन यतीनामेव हृदयपुण्डरीकप्रतियोगित्वेनान्वयः किं न स्यादिति वाच्यम्, दर्शपूर्णमासप्रकरणपठित-

---

प्रमाणाभावस्थले प्रकृतपूर्वपक्षसूचितप्रत्यासत्तिन्यायेन नारायणस्य हृत्पुण्डरीकप्रतियोगित्वनिर्णये न किञ्चिद्बाधकमिति भावः। वस्तुतस्त्विदमभ्युच्चयमात्रम्, हृदयप्रतियोगित्वेनोपासकमात्रस्यैव ग्रहीतुमौचित्यात्। नारायणपदोत्थितशङ्कासमाधानं तु पूर्वोक्तं नरा अयनमस्येति व्युत्पत्त्या, प्रज्ञाद्यणि नराणां समूहोऽयनमस्येति व्युत्पत्त्या वा, "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृत ॥" (१।१०) इति मनुस्मृत्युक्तदिशा नारा अयनमस्येति व्युत्पत्त्या वा यौगिकत्वमाश्रित्य शिवभगवत्परत्वमेव प्रकृते नारायणपदस्य वक्तुं शक्यमित्येवोचितम्। वैपरीत्यं तु वक्तुमशक्यम्, नीलकण्ठं त्रिलोचनमुमासहायमित्यादिबहूनां पदानां रूढ्यर्थपरित्यागेनान्यार्थकत्वक्लिष्टकल्पनापेक्षया एकस्मिन् नारायणपद एव तथा कल्पनौचित्यात्।

न च वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति। "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परि-

---

काल पर्यन्त जीवन्मुक्तों की तरह रहकर देह का वियोग होने पर परमात्मा को प्राप्त कर नित्य सुख को पा लेते हैं। इस अभिप्राय के तैत्तिरीय श्रुति मन्त्र के होने से संन्यासी ही दहराकाश में उपासना करने का अधिकारी है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है। तब सर्वसंग परित्यागी संन्यासी ही उपासक है, ऐसा कहना छोड़कर नारायण उपासक है, ऐसा कहना उचित नहीं है।

समाधान—पूर्णिमा के दिन और अमावास्या के दिन किये जाने वाले याग को 'दर्शपूर्णमासेष्टि' कहते हैं। इस प्रकरण में "समिधो यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, तनूनपातं यजति, स्वाहाकारं यजति" इस प्रकार पाँच वाक्य कहे गये हैं। दर्शपूर्णमास प्रकरण में कहे जाने के कारण ये उस दर्शपूर्णमास याग के अंग हो सकते हैं, न कि अन्य यागों के—ऐसा मीमांसाशास्त्र में निर्णय किया गया है। उसी प्रकार "नारायणं महाज्ञेयम्, नारायणं परं ज्योतिः, नारायणं परो

"समिधो यजति" इतिवाक्यविहितप्रयाजानां दर्शपूर्णमासाङ्गत्ववन्नारायणप्रकरणपठितहृदयस्य नारायणसम्बन्धित्वावश्यंभावात् ।

अपि च, "ततोऽव्ययात्मा स हरिः स्वहृत्पङ्कजशायिनम् । दर्शयामास देवानां मुरारिर्लिङ्गमैश्वरम् ॥" (६२।२३) इति वामनपुराणवचनेन नारायणस्य हृदयान्तर्वर्तिप्राणलिङ्गोपासनाप्रदर्शनेन, भगवद्गीतासु—"तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी" (भ. गी. १४।४) इति कृष्णेन स्वप्रपदनीयपुरुषं प्रदर्श्य कोऽसावित्युक्ते—"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय

मुच्यन्ति सर्वे ॥" (तै. आ. १०।१०।३) इति दहरवाक्यादव्यवहितपूर्वमेव पठितमस्ति । यतीनामिति । तेषां विद्यावत्त्वेनोपासकत्वयोग्यतया तत्सम्बन्ध्येव हृदयं ग्राह्यमिति प्रश्नकर्तुराशयः । "समिधो यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, तनूनपातं यजति, स्वाहाकारं यजति" (तै. सं. २।६।१।१) इति पञ्चवाक्यविहितप्रयाजानां दर्शपूर्णमासाङ्गत्ववत् प्रकरणबलेन नारायणप्रकरणपठितहृदयस्य नारायणसम्बन्धित्वं स्वीकर्तव्यमित्युत्तराशयः ।

नारायणेन स्वहृदयपुण्डरीके लिङ्गस्वरूपः सदाशिव उपास्यत इत्यर्थं वामनपुराणेन भगवद्गीतावाक्याच्च साधयति—ततोऽव्ययात्मेत्यादिना । यद्यपि गीतायाम्—"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" (१५।१७) इत्युक्त्वा—"यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मिल्लोके

ध्याता इस नारायण प्रकरण में हृदयकमल को दिखलाने से नारायण सम्बन्धी हृदयकमल है, ऐसा निर्णय कर लेना उचित है । इस प्रकार का अर्थ छोड़ कर संन्यासियों के हृदयकमल का ग्रहण करने पर प्रकरण का विरोध हो जाता है ।

इतना ही नहीं, नारायण अपने हृदयकमल में शिव की उपासना करते हैं, यह बात वामनपुराण एवं भगवद्गीता से भी स्पष्ट हो जाती है । "नाशरहित उस नारायण ने अपने हृदयपुण्डरीक में रहने वाले लिंगरूपी सदाशिव को देवताओं को दिखलाया" । "हे अर्जुन ! जगत् के आदि में जिनकी कृपा से जगन्निर्माणरूप प्रवृत्ति हुई है, उस आदिपुरुष का मैं आश्रय लेता हूँ" । इस प्रकार श्रीकृष्ण अपने से उपासना की जानेवाली वस्तु को अर्जुन के निमित्त उपदेश देते हुए अपने लिए उपास्य क्या है ? उस वस्तु को अपने आप आक्षेप करके आगे कहते हैं—

ईश्वरः ।।" (भ. गी. १५।१७), "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (भ. गी. १८।६१) इति स्वोपास्यपुरुषस्य हृदयान्तर्वर्तिनः शिवैकान्तिकेश्वरपदेन निर्णयकरणेन च दहरोपासनाधिकरणहृदयसंबन्धिताया नारायणस्यावश्याभ्युपेयत्वात् ।

अथैवमुक्तप्रणाल्या परमशिवस्य दहरोपासनोपास्यत्वसिद्धावपि तत्रत्यस्य लिङ्गरूपत्वे प्रमाणाभावान्नान्तर्लिङ्गधारणसिद्धिः? इति चेन्मैवम्, हंसोपनिषदाद्यागमेषूदाहृतवामनपुराणेऽपि तस्य तद्रूपत्वावसायात् ।

वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।" (१५।१८) इति वाक्येन स्वस्यैवोत्तमपुरुषत्वमुक्तम्, तथापि श्रीकृष्णविग्रहान्तर्यामिणः परमेश्वरस्यैव तदुक्तित्वेन न कश्चिद्विरोधः ।

लिङ्गरूपत्वे प्रमाणाभावादिति । गीतायामिति शेषः । वामनपुराणे तत्प्रमाणस्य दर्शितत्वात् । हंसोपनिषदिति । मा भूद् गीतायां लिङ्गरूपत्वे प्रमाणम्, तथापि प्रमाणान्तरसद्भावे सप्रमाणकत्वे न किञ्चिद्धीयत इत्याशयः ।

"हे अर्जुन ! मुझसे उपासना किये जाने वाले पुरुष तो सर्वोत्तम हैं । वे मुझसे भिन्न हैं । उन्हीं को परमेश्वर कहते हैं । नाशरहित जो ईश्वर स्वर्ग, मर्त्य, पाताल नामक तीनों लोकों में अन्तर्यामी के रूप में रहकर रक्षा कर रहे हैं, वह सर्वनियामक ईश्वर हृदयकमल में निवास करता है ।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने निरन्तर अपने हृदयकमल में अपने से उपासना की जानेवाली शिवरूप वस्तु के बारे में अर्जुन को उपदेश किया है । इसके अतिरिक्त यहाँ पर केवल शिव में रूढ ईश्वर पद का श्रीकृष्ण प्रयोग करते हैं । इसलिए यह ईश्वर शब्द "ईश्वरः शर्व ईशानः" इस कोश के प्रमाण वाक्य से शिव में ही शक्ति वाला होने से श्रुति में दिखाया गया दहरोपासना का आश्रयस्वरूप कमल तो नारायण का हृदयकमल ही है, ऐसा सिद्ध हो जाने से शिव ही उपास्य हैं और नारायण ही उपासक हैं, ऐसा स्पष्ट हो जाता है ।

शंका—शिव उपास्य है, ऐसा सिद्ध होने पर भी, वह शिव लिंगस्वरूप में है, ऐसा स्पष्ट नहीं होता । इसलिए जिस अन्तर्लिंग के धारण का उपक्रम किया गया है, उसकी सिद्धि नहीं हो पाती ।

समाधान—पिछला जो उदाहरण वामनपुराण का है, उससे ही शिव के लिंग रूप की सिद्धि हो जाती है । इसी प्रकार हंसोपनिषत्, शिवागम, पुराण आदि से भी शिव लिंगरूप हैं, यह स्पष्ट हो जाता है । हंसोपनिषद् में कहा गया है कि

तथाहि—"एषोऽसौ परमो हंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं व्याप्तम् । तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति—पूर्वदले पुण्यवृत्तिः, आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति, याम्ये क्रौर्यमतिः, नैर्ऋते पापे मनीषा, वारुण्यां क्रीडा, वायव्ये गमनादौ बुद्धिः, सौम्ये रतिप्रीतिः, ऐशान्ये द्रव्यादानम्, मध्ये वैराग्यम्, केसरे जाग्रदवस्था,

---

हृत्पुण्डरीकान्तर्वर्तिनः परमेश्वरतत्त्वस्य लिङ्गरूपत्वे वामनपुराणं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य हंसोपनिषद्वाक्यमप्युपन्यस्यति—एषोऽसाविति । परमो हंस इति स्वरूपतः स्वच्छनीरक्षीरविवेककर्तृहंसप्रतियोगिकविवेकनिर्मलत्वसाधर्म्यादात्मविदि हंसत्वपरमहंसत्वव्यवहारं शास्त्रकाराः कुर्वन्ति । तस्याष्टधा वृत्तिरिति हृदयपुण्डरीकस्य द्वादश भागाः कल्प्यन्ते । अष्टसु दिक्षु अष्टदलानि । मध्यकेसरकर्णिकालिङ्गरूपाश्चत्वारो भागा दलमध्ये कल्प्यन्ते । एतेष्वात्मनस्तत्तदंशाभिमानित्वेन तत्तद्वृत्तिस्तत्तदवस्था च भवतीत्यत्रोच्यते—पूर्वदले पुण्यमतिरित्यादिना । पूर्वदलेऽभिमानलक्षणसम्बन्धे पुण्यमतिः पुण्यकरणेच्छा भवतीत्येवंरूपेणाग्रिममपि व्याख्येयम् ।

येन = जिस हृदयकमल में रहनेवाले ईश्वर से, इदं = चेतनाचेतनात्मक जगत्, व्याप्तं = व्याप्त है, एषः = यह, असौ = परमेश्वर, परमः = निरतिशय उत्कृष्टस्वरूप वाला है, हंसः = दूध और पानी को अलग करने वाले हंसपक्षी की तरह यह विवेचक हंस निर्मल आदि सद्‌गुणों से भूषित है, तस्य = उस परम हंसरूप शिव के निवासस्थानस्वरूप हृदयकमल की, अष्टधा = आठ प्रकार की, वृत्तिः = पंखुडियाँ हैं । उन पंखुडियों में विहार करने वाले आत्मा के पूर्वदले = पूरब के दल में आने पर पुण्य कर्मों में प्रवृत्त करने वाली बुद्धि का उदय होता है, आग्नेये = आग्नेय नामक दिशा के दल में आने पर, निद्रालस्यादयः = नींद एवं आलस्य आदि दोषों का उदय हो जाता है । याम्ये = दक्षिण दिशा के दल में आने पर, क्रौर्यमतिः = क्रूर बुद्धि का उदय होता है । नैर्ऋत्ये = नैर्ऋत्य नामक दिशा के दल में आने पर पापे = पाप कर्म करने की मनीषा = बुद्धि का उदय होता है । वारुण्यां = पश्चिम दिशा के दल में आने पर, क्रीडा = विहार करने की इच्छा होती है । वायव्ये = वायव्य दिशा में आने पर, जाने-आने आदि की बुद्धिः = इच्छा होती है । सौम्ये = उत्तर दिशा में आने पर, रतिप्रीतिः = काम की इच्छा होती है । ऐशान्ये = ईशान्य दिशा में आने पर, द्रव्यादानं = रुपये कमाने की इच्छा होती है । मध्ये = बीच में रहने पर, वैराग्यं = विषयों में विरक्ति होती है । केसरे = किंजल्क में रहने

कर्णिकायां स्वप्नः, लिङ्गे सुषुप्तिः, पद्मत्यागे तुरीयम् । यदा हंसो नादे विलीनो भवति, तदा तत्तुरीयातीतमपि" (हं. उ. २)। अत्र लिङ्गे सुषुप्तिरिति हृदयान्तर्वर्तिनः शिवस्य लिङ्गरूपत्वं स्पष्टम् ।

अत्रात्मगतत्रयोदशभागप्रदर्शनेऽपि तस्याष्टधा भवतीत्यष्टत्वोक्तिस्तु जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तितुरीयतुरीयातीतावस्थानां वृत्तित्वव्यवहाराभावमात्रेण बोध्या। शिवस्य लिङ्गरूपत्वमिति। अन्यथा पद्ममध्ये मध्यकेसरकर्णिकातिरेकेण चतुर्थस्य कस्यचिदभावाल्लिङ्गे सुषुप्तिरिति निर्विषयं स्यादिति भावः।

पर, जाग्रत् = जाग्रदवस्था रहती है। कर्णिकायां = कमल के बीच की कर्णिका में रहने पर, स्वप्नः = सपने में प्रवेश हो जाता है। लिङ्गे = लिंग में रहने पर, सुषुप्तिः = गहन निद्रा में प्रवेश हो जाता है। पद्मत्यागे = उस हृदयकमल को छोड़ देने पर, तुरीयः = तुरीय अवस्था में प्रवेश हो जाता है। यदा = जब, हंसः = हंस पक्षी की तरह गुण दोषों का विवेचक आत्मा, नादे = नादस्वरूपात्मक ब्रह्म में, विलीनः = पूर्णतया लीन, भवति = हो जाता है, तदा = उस समय, तत् = वह, तुर्यातीतं = तुरीयातीत अवस्था में रहेगा।

भावार्थ—हृदय कमल में संचार करने वाला हंसरूपी आत्मा उस कमल की जिस जिस पंखुडी में संचार करता है, तब तब उस उस वृत्ति का उदय हो जाता है। कमल के बीच की केसर में संचार करने पर आत्मा जागता रहेगा। कर्णिका में प्रवेश करने पर स्वप्नावस्था में रहेगा। लिंग में प्रवेश करने पर सुषुप्त्यवस्था में रहेगा। उस हृदय स्थान से अलग होने पर तुरीयावस्था में रहेगा और ब्रह्म में लीन हो जाने पर तुरीयातीत अवस्था में रहेगा। इन्हीं अवस्थाओं को इस तरह से भी बताया गया है कि आत्मा के मुख में रहने पर जाग्रदवस्था, हृदय में रहने पर स्वप्नावस्था, नाभि में होने पर सुषुप्त्यवस्था, बस्ति में (मूत्रसंग्रह कोश में) प्रवेश करने पर तुरीय अवस्था और लिंग में प्रविष्ट हो जाने पर तुरीयातीत अवस्था होती है। प्रथम जाग्रदवस्था में त्वक्, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियां; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच तन्मात्राएँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियां; वचन, आदान, गमन, रेचन और विसर्जन नामक पाँच विषय; दस वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार नामक अन्तः-करणचतुष्टय और क्षेत्रज्ञ—ये पैंतीस तत्त्व रहते हैं। स्वप्नावस्था में शब्द आदि पांच तन्मात्राएँ, वचन आदि पाँच विषय, प्राण आदि दस वायु, अन्तःकरणचतुष्टय और

आगमवाक्यानि तु—"आधारे कनकप्रख्यं हृदये विद्रुमप्रभम्।
भ्रूमध्ये स्फटिकच्छायं लिङ्गं योगी विभावयेत् ॥" (६।३९)
इत्यादिसिद्धान्तशिखामण्यादिवचनान्यनुसन्धेयानीति।

अथास्यामुपनिषदि दहरोपासनाविषये नारायणस्योपासकत्वं शिवस्योपास्यत्वमिति निर्णयेन सहस्रशीर्षमित्यनुवाकगत-"नारायणपरं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः" (तै.आ.१०।११।१) इत्यादिवाक्यानि विरुध्येरन्निति तु मा शङ्किष्ठाः, तद्भावभावनापन्नस्य नारायणस्यानितरसाधारणहृदयान्तर्वर्तिज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानसामर्थ्यलिङ्गेन तथा स्तुतिरिति योजयितुं शक्यत्वात्।

आधारे कनकप्रख्यमिति। आधारे बाह्यपूजास्थाने नाभिचक्रे वा। विद्रुमप्रभं प्रवालच्छायम्। अनितरसाधारणेति। इतरोपासकापेक्षया नारायणे शिवलिङ्गानुसन्धानस्यात्यन्तोत्कर्षशालित्वेन शिवभावापत्त्या तस्यापि परब्रह्मत्वोक्तिरित्याशयः।

क्षेत्रज्ञ—ये पचीस तत्त्व माने गये हैं। जाग्रदवस्था में तो विषयों का अनुभव होता है, स्वप्नावस्था में केवल विषयों की स्फूर्ति होती है। सुषुप्ति अवस्था में प्राण, चित्त और क्षेत्रज्ञ नामक केवल तीन तत्त्व माने जाते हैं। तुरीयावस्था में प्राण और आत्मा नामक दो तत्त्व माने गये हैं और तुरीयातीत अवस्था में केवल आत्मा रहती है। इस प्रकार ये पाँच प्रकार की अवस्थाएँ मल से सम्बद्ध आत्मा को होती हैं। इसके बाद निर्मल आत्मस्वरूप शिव के साथ समानता को प्राप्त कर लेने पर शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार के आत्मस्वरूप में समल जाग्रदादि अवस्थाएँ न होने पर भी अमल जाग्रदादि अवस्थाएँ होती हैं। इसी प्रकार बीजाक्षर का उच्चारण ही जाग्रदवस्था है, बिन्दु का परिग्रह ही स्वप्नावस्था है, नाद का संयोग ही सुषुप्त्यवस्था है, शक्ति का समागम ही तुरीयावस्था है और परशिव के तेज में शान्त परमसमानता को प्राप्त होकर लय हो जाना ही तुरीयातीत अवस्था है। यहाँ पहले आठ पंखुडियाँ हैं, ऐसा बता कर बाद में तेरह भाग दिखाये गये हैं, अतः पहले के आठ भाग केवल पंखुडियों के हैं, ऐसा भेद समझ लेना चाहिए।

इस मन्त्र में "लिङ्गे सुषुप्तिः" ऐसा वाक्य होने से इस प्रकार के हृदयकमल के बीच केसर और कर्णिका को छोड़ कर चौथे किसी भाग को स्थिति न होने से

केचित्तु नारायणपरं ब्रह्मेत्यस्य नारायणात् परं ब्रह्मेत्यर्थः। अत एव नारायणः परं ब्रह्मेत्यनुक्त्वा नारायणपरं ब्रह्मेत्येवाभिहितम्। तथा चोक्तरीत्या तत्परत्वं शिवस्यैवेति न कश्चिद् विरोध इति प्राहुरित्यलमतिविस्तरेण।

एवमस्यामुपनिषदि ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानरूपान्तर्लिङ्गधारणं विधाय इष्टलिङ्गरूपबाह्यलिङ्गधारणमपि विधीयते— "सर्वलिङ्गं स्थापयति" (तै. आ. १०।१६।१) इति।

केचित्त्विति। एतन्मते नारायणपरमित्यत्र पञ्चमीसमासो मन्तव्यः।

सर्वलिङ्गं स्थापयतीति। "निधनपतये नमः। निधनपतान्तिकाय नमः। ऊर्ध्वाय नमः। ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः। हिरण्याय नमः। हिरण्यलिङ्गाय नमः। सुवर्णाय नमः। सुवर्णलिङ्गाय नमः। दिव्याय नमः। दिव्यलिङ्गाय नमः। भवाय नमः। भवलिङ्गाय नमः। शर्वाय नमः। शर्वलिङ्गाय नमः। शिवाय नमः। शिवलिङ्गाय नमः। ज्वलाय नमः। ज्वललिङ्गाय नमः। आत्मने नमः। आत्मलिङ्गाय नमः। परमाय नमः। परमलिङ्गाय नमः। एतत् सोमस्य सूर्यस्य सर्वलिङ्गं स्थापयति पाणिमन्त्रं पवित्रम्" (तै. आ. १०।१६) इति तैत्तिरीयके षोडशानुवाके पठ्यते। एषां च मन्त्राणां सायणाचार्यकृतव्याख्यानस्यानुपलम्भात् क एषां नियोगोऽस्तीति स्पष्टं वक्तुं न शक्यते, तथापि

"लिङ्गे सुषुप्तिः" यह वाक्य व्यर्थ होने लगेगा। इसलिए लिंग शब्द का शिवरूप अर्थ कहना ही उपयुक्त है। इससे शिव का लिंगरूपत्व सिद्ध हो जाता है। इस अभिप्राय के समर्थक अनेक शिवागम बाक्य हैं।

"शिवध्यानासक्त शिवयोगी लिङ्गवाच्य शिव को आधार चक्र में सोने की तरह चमकने वाला, अनाहत चक्र में बिजली की तरह चमकने वाला और आज्ञा चक्र में स्फटिक की तरह चमकने वाला मान कर ध्यान करे। जो इस प्रकार शिव को हृदय में धारण करते हैं, वे लोग भवसागर को पार कर लेते हैं"। ऐसा शिवागम कह रहे हैं। इससे हृदयपुण्डरीक के बीच में गगनशब्दवाच्य शिव लिंगरूप के हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

शंका—"नारायण ही परब्रह्म है, नारायण ही परतत्त्व है" इन तैत्तिरीय वाक्यों का कोई अर्थ ही नहीं है, ऐसा निर्णय हो गया है न ?

समाधान—नारायण समस्त देवता और मानवों की अपेक्षा श्रेष्ठ शिवोपासक हैं। निरवधिक ध्यान में तल्लीन होने के कारण अपने हृदय स्थान में अवस्थित

मन्त्रलिङ्गपर्यालोचनेन नमोऽन्तानामीश्वरप्रणामेऽङ्गत्वप्राप्तौ—"ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" (मै. सं. १।५।११) इति प्रत्यक्षश्रुतिविहितगार्हपत्योपस्थानाङ्गत्वेन लिङ्गप्राप्तेन्द्रोपस्थानाङ्गत्वबाधवत् "एतत्सोमस्य सूर्यस्य" इति वाक्यशेषश्रुतौ पूर्वमन्त्रसमुदायपरामर्शकेनैतत्पदेन लुप्ततृतीयान्तेन सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनः सोमस्य उमासहितस्य सर्वस्य सर्वविधस्य सौवर्णमणिमयनार्मदादेर्लिङ्गस्य स्थापने विनियोगलाभाल्लिङ्गप्राप्तप्रणामाङ्गत्वं बाध्यत इति प्रतीयते।

ज्योतिर्लिंग के साथ वे अपनी धाराकारात्मक अहंग्रहोपसना की बुद्धि से सभी अवस्थाओं में शिवभावना में सुस्थिर हो जाते हैं। इस तरह से यहाँ शिव और नारायण का अभेद बताया गया है। ऐसा अभेद स्वीकार न होने पर "नारायणपरं ब्रह्म" यहाँ पर "नारायणात् परं ब्रह्म" इस प्रकार पञ्चमी तत्पुरुष का आश्रय लेकर परब्रह्म नारायण से भिन्न है, इस प्रकार का अर्थ ले सकते हैं। यदि परब्रह्मतत्त्व नारायण के लिए ही प्रयुक्त है, तो श्रुति में "नारायणः परं ब्रह्म" इस प्रकार भिन्न-भिन्न पद होने चाहिए। ऐसा न होने से उस नारायण पद का "नराणां समूहं नारम् अयनं अस्य" इस रीति से बहुव्रीहि समास का आश्रय लेकर उस नारायण पद को शिव पद का विशेषण बना कर एकवाक्यता कर लेनी चाहिए। इससे प्रकरण का विरोध अपने आप सुलझ जाता है।

इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में आये हुए मन्त्रार्थ का विचार करते हुए अन्तर्लिंगधारण को सिद्ध करके आगे आने वाले "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस मन्त्र के आधार पर बाह्यलिङ्ग के धारण की सिद्धि करेंगे।

बहिर्लिंग (इष्टलिंग) का निरूपण

निधनपतये = कालरूप शिव के लिए, नमः = नमस्कार है। निधनपतान्तिकाय = मृत्यु के बिस्तर पर लेटे हुए आदमियों के अन्तिकाय = निकट में रहकर रक्षा करने वाले शिव के लिए, नमः = नमस्कार है। ऊर्ध्वाय = शिवादि पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के ऊपर रहनेवाले शिव के लिए, नमः = नमस्कार है। ऊर्ध्वलिङ्गाय = उन छत्तीस तत्त्वों के ऊपर रहने वाले शून्यलिङ्ग के लिए, नमः = नमस्कार है। हिरण्याय = सुन्दर रूपवाले अथवा सोने के जैसे स्वरूप वाले शिव के लिए, नमः = नमस्कार है। हिरण्यलिङ्गाय = सुवर्णमय व सुवर्णाक्षरों से विशिष्ट लिंग के लिए, नमः = नमस्कार है। दिव्याय = प्रकाशस्वरूप लिंग के लिए, नमः = नमस्कार है। भवाय नमः = प्राणियों की उत्पत्ति के निमित्त कर्तृस्वरूप शिव के लिए नमस्कार है।

नन्वत्र स्थापयतीति लडन्तत्वेन लिङाद्यभावान्न विधिसंभवः ? न च "व्रीहीन् प्रोक्षति, व्रीहीनवहन्ति" (आप. श्रौ. १।१९।१) इत्यत्र लिङाद्यभावेऽपि विधिप्रयोजकरूपसत्त्वेन यथा विधिसम्भवस्तद्वदत्र किं च स्यादिति वाच्यम्, अत्र विधिप्रयोजकरूपाभावात्। तथाहि—"विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥" (त. वा. १।२।४) इति कारिकयेदमवगम्यते यत्र प्रमाणान्तराप्राप्तस्यानेनैव विधिस्तत्रापूर्वविधिः। यथा व्रीहीन् प्रोक्ष-

---

लिङाद्यभावादिति। लिङ्लोडादीनामेव विधेयताबोधकत्वादिति भावः। विधिप्रयोजकरूपसत्त्वेनेति। अप्राप्तत्वमेव तद्रूपम्।

अत्यन्तमप्राप्त इति। यथा व्रीहीन् प्रोक्षतीति। पाक्षिके सतीति। यथा व्रीहीनवहन्तीति। अत्र तुषविमोकसाधनत्वेन नखदलनयोरिवावघातस्यापि

भवलिंगाय नमः = प्राणधारियों के प्राणस्वरूप लिंग के लिए नमस्कार है। शर्वाय नमः = सब के लयकर्ता के लिए नमस्कार है। शर्वलिङ्गाय नमः = लयकर्ता के आधारस्वरूप लिंग के लिए नमस्कार है। शिवाय नमः = सत्पुरुषों के मन में निवास करने वाले के लिए नमस्कार है। शिवलिङ्गाय नमः = समस्त मंगलस्वरूप लिंग के लिए नमस्कार है। ज्वलाय नमः = अग्निस्वरूप के लिए नमस्कार है। ज्वललिङ्गाय नमः = अग्नि के मध्यवर्ती लिंग के लिए नमस्कार है। आत्मने नमः = जीवात्मस्वरूप के लिए नमस्कार है। आत्मलिङ्गाय नमः = जीवान्तर्गत लिंगरूप परमात्मा के लिए नमस्कार है। परमाय नमः = उत्कृष्ट गुणों से सुशोभित के लिए नमस्कार है। परमलिङ्गाय नमः = उत्कृष्ट गुणों से विशिष्ट व्यक्तियों में सुशोभित ज्ञानस्वरूप के लिए नमस्कार है। सोमस्य = उमासहित, सूर्यस्य = सूर्यमण्डलान्तवर्ती पर शिव के, सर्वलिङ्गं = विश्वात्मक, पाणिमन्त्रं = हस्तकमल को शुद्ध करने वाले, पवित्रं = सर्वपावनस्वरूप, एतत् = इस इष्टलिंग को, स्थापयति = शिर, कण्ठ आदि उत्तम अंगों में धारण करना चाहिए।

पूर्वपक्ष

शंका—इस मन्त्र में 'स्थापयति' ऐसा लडन्त क्रियापद है। लिङ्, लोट्, तव्य आदि प्रत्यय जिस क्रिया में रहते हैं, उन्हीं क्रियाओं को विधिबोधकता शास्त्रसंमत है। "स्थापयेत् स्थापयितव्यम्" ऐसा कहते तो सभी शिव भक्तों के लिए कण्ठ, हाथ आदि अंगों में शिवलिंग को धारण करना है, ऐसा सिद्ध हो जाता,

तीत्यत्र। यत्र प्रकृतकार्ये उभयोः पक्षतः प्राप्तावनेनैव कर्तव्यं न तेनेति विधीयते, तत्र नियमविधिः। यथा व्रीहीनवहन्तीत्यत्र। तत्र चान्यत्र चेति समुच्चयप्राप्तौ यत्र विधीयते सा परिसंख्या। यथा "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" (वा. रा. कि. १७।३९) इत्यत्र—"शशकः शल्यको गोधा खड्गी कूर्मस्तु पञ्चमः" इति वचनेनैषामन्येषां च पञ्चनखानां भक्षणप्राप्तौ एते पञ्चैव पञ्चनखा भक्ष्या नेतर इति परिसंख्याविधिरिति।

पक्षे प्राप्तेः। तत्र चान्यत्र चेति। यथा पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्यत्र। तेषां

लेकिन 'स्थापयति' यह क्रिया विध्यर्थबोधक नहीं है, अतः इससे लिंगधारण करने की विधि कैसे सिद्ध हो सकती है ?

समाधान—पूर्वमीमांसा के "व्रीहीन् प्रोक्षति, व्रीहीनवहन्ति" इन वाक्यों में 'प्रोक्षति, अवहन्ति' यहाँ पर लडन्त प्रयोग होने पर भी, दूसरे वाक्यों के द्वारा व्रीहिकर्मक प्रोक्षण व अवहनन के न आने के कारण 'अप्राप्तत्व' रूप विधि-प्रयोजन को ध्यान में रखकर जैसे लडन्त 'प्रोक्षति, अवहन्ति' इन वाक्यों को विधिवाक्य मान लिया जाता है, वैसे ही "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य के लडन्त 'स्थापयति' इस क्रिया पद में भी दूसरे किसी श्रुति वाक्य द्वारा लिंगधारण अर्थ न प्राप्त होने से विध्यर्थ को स्वीकार कर लिया जाता है।

आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रोक्षति, अवहन्ति' इनमें प्रमाणान्तरों से जैसा अप्राप्तत्व है, वैसा यहाँ पर नहीं है। विधि—अपूर्व, नियम और परिसंख्या नाम से तीन प्रकार की है। इनमें—एक वाक्य में बताया हुआ अर्थ दूसरे में न बताया गया हो तो उसे अपूर्वविधि कहते हैं। व्रीहि (धान) का प्रोक्षण किसी दूसरे वाक्य में न आने से लडन्त प्रोक्षति पद में अपूर्व विधि का स्वीकार करना ही इसका उदाहरण है। इस नियम से यह कार्य करना है या दूसरी विधि से करना है, ऐसे दो पक्ष होने पर 'इसी विधि से करना है' ऐसा कहना ही नियम विधि का लक्षण है। जैसा कि 'व्रीहीनवहन्ति' इस स्थान पर नाखून से धान के छिलके निकालना है अथवा उलूखल से कूट कर छिलके निकालना है ? ऐसा विकल्प प्राप्त होने पर कूट कर ही छिलके निकालना है, ऐसा विधान करना ही इस नियम विधि का उदाहरण है। वहाँ और यहाँ दोनों स्थानों पर प्राप्त होने पर एक में प्रवृत्त करा कर दूसरे का निषेध करना ही परिसंख्या विधि का लक्षण है। शशक (खरगोश), शल्यक (साही), गोधा (गोह), खड्गी (गैंडा), कूर्म (कछुआ) आदि

प्रकृते सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यत्र नापूर्वविधिः, लिङ्ग-धारणस्य "सर्वाननशिरोग्रीवः" (३।११) इति श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्यप्राप्तत्वेन प्रमाणान्तराप्राप्त्यभावात् । "सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी च भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥" इति । अस्यायमर्थः—सर्वेषां लिङ्गधारणयोग्या-

---

विधिप्रकाराणां मध्ये कस्यापि प्रकृते प्राप्तिर्नास्तीत्युपपादयति—प्रकृते सर्वलिङ्गमिति ।

श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्यप्राप्तत्वेनेति । यद्यप्येकस्यैव सन्ध्यातर्पणादि-धर्मस्यानेकासु स्मृतिष्वेकस्यैवाग्निहोत्रधर्मस्यानेकासु शाखासु विधिर्दृश्यते, कस्यापि स्मृत्यन्तरशाखान्तरबोधितार्थबोधकत्वेन विधित्वं न व्याहन्यते, सर्वेषामेव वाक्यानां पृथक् पृथक् तत्तत्स्मृतितत्तच्छाखाध्येतारं प्रत्यज्ञातज्ञापकत्वेन विधित्वोपगमात् । एवं श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्येन सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यस्य विधित्वव्याघात आशङ्कितुं न शक्यते, तथापि सामान्यविशेषभावापन्नार्थबोधकत्वेन परस्परापेक्षितार्थकत्वमेव व्यवस्थापयितुं विधित्वव्याघात-शङ्कोत्थापनमिति मन्तव्यम् ।

जानवरों के पाँच-पाँच नाख़ून होते हैं । इस प्रकार के पाँच नाखूनों से विशिष्ट जानवरों का भक्षण करना चाहिए अथवा नहीं ? इस प्रकार का सन्देह होने पर इन खरगोश आदि पाँच मृगों का ही भक्षण करना है, दूसरों का नहीं। इस प्रकार का निषेध ही इस परिसंख्या विधि का उदाहरण है ।

प्रकृत स्थल में लिंगधारण तो इन तीन प्रकार की विधियों से किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो पाता । माना जाय कि अपूर्व विधि से इस लिंगधारण की सिद्धि होगी, किन्तु तब इसे तैत्तिरीय वाक्य को छोड़ कर दूसरे किसी उपनिषत् वाक्य से नहीं निर्दिष्ट होना चाहिए । यहाँ तो अन्य भी अनन्त श्रुतियाँ इस लिंग धारण का विधान कर रही हैं । जैसा कि श्वेताश्वतर श्रुति कहती है—शिवः = लिंगरूप शिव, सर्व = समस्त भक्तों के, आननः = मुख में, शिरः = शिर पर, ग्रीवः = गरदन पर, इष्टलिंग के रूप में धारण करने योग्य है । सर्वभूतगुहाशयः = समस्त प्राणियों के हृदयकमल में प्राणलिंग के रूप से रह रहा है । च = और, सर्वव्यापी = वस्तुपरिच्छेद, कालपरिच्छेद और देशपरिच्छेद से रहित है, अर्थात् सर्वव्यापक है । तस्मात् = इसलिए भगवान् = अणिमा आदि ऐश्वर्यों से विशिष्ट होकर, सर्वगतः = आकाश की तरह सभी वस्तुओं में है ।

नाम् आननशिरोग्रीवा अधिकरणं यस्य सः सर्वाननशिरोग्रीवः, धार्यमाणः सन् तत्रेष्टलिङ्गरूपेण स्थितः शिव इत्यर्थः । सर्वभूतगुहाशय इत्यस्य सर्वभूतानां गुहायां दहरपुण्डरीके शेते "लिङ्गे सुषुप्तिः" (हं. उ. २) इति पूर्वोदाहृतहंसोपनिषत्प्राप्तलिङ्गरूपः शिवोऽन्तर्लिङ्गरूपेण स्थित इत्यर्थः । सर्वव्यापीति त्रिविधपरिच्छेदरहितः । अत एव सर्वगत इति ।

नन्वत्र "सर्वाननशिरोग्रीवः" (श्वे. उ. ३।११) इत्यस्य स्वविशेष्यभूतशिवपदेन समानविभक्तिकत्वात् तस्य चाभेद-

---

आननशिरोग्रीवम् अधिकरणं यस्येति । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । सर्वाननशिरोग्रीवम् अधिकरणत्वेनाऽस्ति यस्येति मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तत्वाभिप्रायेणेदं व्याख्यानं बोध्यम् । बहुव्रीहिसमासत्वं तु न भ्रमितव्यम्, अधिकरणपदस्याभावात्, उत्तरपदलोपस्य च शाकपार्थिवादितत्पुरुषे प्रादिभ्यो धातुजस्य वा केवलं विधानात् । हंसोपनिषत्प्राप्तेति । तद्बोधितेत्यर्थः ।

त्रिविधपरिच्छेदरहित इति । परिच्छेदस्य तिस्रो विधाः—कालपरिच्छेदो देशपरिच्छेदो वस्तुपरिच्छेदश्चेति । कालपरिच्छेदो यथा—"शतायुर्वै पुरुषः" इति । देशपरिच्छेदः—"शतयोजनविस्तीर्णो मकरालयः" इति । वस्तुपरिच्छेदो यथा—इदं पार्थिवमिदं जलीयमिति । एतैस्त्रिविधपरिच्छेदै रहितः । एतावत्कालवृत्तिः, एतावद्देशवृत्तिः, एतद्वस्तुमात्रस्वरूप एवंरूपेण यो वक्तुं न शक्यते, अर्थात् सार्वकालिकसर्वदेशवृत्तिसर्ववस्त्वात्मकः शिव इत्यर्थः । अयमत्र निष्कर्षः—प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं कालपरिच्छेदशून्यत्वम्, अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं देशपरिच्छेदशून्यत्वम्, भेदाप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छेदरहितत्वमिति ।

सर्वाननशिरोग्रीव इत्यत्रार्शआद्यजन्तत्वाद्यजानान आधाराधेयभावसम्बन्धेन शिवपदार्थेऽन्वयादुक्तार्थलाभाभिप्रायं मन्यमानः शङ्कते—

आक्षेप—इस वाक्य में 'सर्वाननशिरोग्रीवः' ऐसा लिखा गया है । यहाँ पर 'सर्वेषां शिवभक्तानाम् आननशिरोग्रीवम् अधिकरणं यस्य' इस अधिकरण बहुव्रीहि समास का समाश्रय लेकर कण्ठ में लिंगधारण, 'सर्वभूतगुहाशयः' यहाँ पर 'सर्वेषां भूतानां गुहायां शेते' इस सप्तमी तत्पुरुष समास से प्राणलिंगधारण, 'सर्वव्यापी च'

बोधनियामकत्वेन कथं भेदगर्भीकृताधिकरणताप्रतीतिरिति चेत् ? मैवं मंस्थाः, समानविभक्तिकयोरप्यधिकरणताप्रत्यायकत्वस्य "आनन्दमयोऽभ्यासात्" (१।१।१२) इत्यधिकरणे नीलकण्ठाचार्यचरणैरङ्गीकृतत्वात् । तत्र च मयटः प्राचुर्यार्थ-

---

नन्वत्रेति । कथमिति प्रथमान्तपदयोरभेदातिरिक्तसम्बन्धेनान्वयबोधजनकताया अव्युत्पन्नत्वादिति भावः । भेदगर्भीकृत इति । स्वस्मिन् स्वनिरूपिताधेयताया बाधितत्वाद् अधिकरणाधेययोर्भेदस्य नियमेनापेक्षकत्वमेवाधिकरणताया भेदगर्भितत्वं बोध्यम् । भ्रान्तस्य प्रश्नकर्तुर्ज्ञानानुसारेणैवोत्तरमाह—मैवं मंस्था इत्यादिना । वस्तुतस्तु सर्वाननशिरोग्रीव इत्यस्यार्शआद्यजन्ततयाऽभेदसम्बन्धेनाऽन्वस्यैव स्वीकारात् स्वमते आधाराधेयभावसम्बन्धेनान्वय एव नास्तीति नास्त्येवानयोः शङ्कासमाधानयोरवसरः । अच्प्रत्ययश्च षष्ठ्यर्थे कार्यः, आधेयतासम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वात् । नील-

यहाँ पर 'सर्वं व्याप्नोतीति' इस द्वितीया तत्पुरुष समास से भावलिंगधारण नामक लिंग का धारण बतलाया गया है। इसी तरह से श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य ने कहा है कि श्रीगुरु वेधा, क्रिया और मनु नामक तीनों दीक्षाओं से आणव, मायीय और कार्मिक नामक तीनों मलों को निवारण करके इष्ट, प्राण और भाव नामक तीन लिंगों को धारण करने की आज्ञा देते हैं। इस तरह से तैत्तिरीय के "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य से निरूपित इष्टलिंगधारण श्वेताश्वतर आदि में सिद्ध हो जाता है। इसलिए अप्राप्तत्वरूप अपूर्व विधि में लिंगधारण की सिद्धि नहीं हो सकती । 'सर्वानन' इस मन्त्र का अन्तिम शिवपद यहाँ विशेष्य है, शेष सभी पद विशेषण हैं। सभी विशेषणपद विशेष्य के अधीन होकर रहते हैं। विशेष्य और विशेषण पद एक ही विभक्ति के होने पर अभेद अर्थ मान लेना है, ऐसा शास्त्र का नियम है। यहाँ पर एक ही विभक्ति से विशिष्ट सर्वाननशिरोग्रीव पद और शिव पद है। इसलिए अभेद अर्थ स्वीकार करने पर आधार और आधेय भाव को समर्थन करने वाले अधिकरण बहुव्रीहि समास का आश्रय नहीं ले सकते, तब तो 'सर्वाननशिरोग्रीवः' यह पद इष्टलिंगधारणपरक है, ऐसा कहने का अवकाश ही नहीं मिलता ।

समाधान—समान विभक्ति के स्थान पर भी पूर्वाचार्यों ने अधिकरणार्थ स्वीकार कर लिया है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्य ने "आनन्द-

कत्वस्वीकारेणानन्दब्रह्मणोर्धर्मधर्मिभावप्राप्तौ "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै. उ. ६।६) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिवाक्य-गतानन्दब्रह्मपदयोरेकविभक्तिकत्वेनाभेदबोधनात् कथं धर्म-धर्मिभाव इति पूर्वपक्षं प्रापय्य "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्" इत्यादिभेदबोधकवाक्याविरोधेन आनन्दाधिकरणं ब्रह्मेति राद्धान्तितम् ।

कण्ठाचार्यचरणैरिति। अयं भावः—विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते "आनन्दमयः", "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्" इत्यादौ मयटः षष्ठ्यादिदर्शनेनानन्द-ब्रह्मणोर्भेदस्यैवोपगमेनानन्दो ब्रह्मेति व्यजानादित्यत्र समानविभक्तिकविशेष्य-विशेषणवाचकपदसमभिव्याहारस्थलेऽपि क्वचिद् भेदः प्रतीयत इत्यभ्युप-गन्तव्यं भवति। यद्यपि प्रकृतेऽप्यानन्दपदस्यार्शआद्यजन्तत्वस्य स्वीकारेण स्वाश्रये लक्षणाया एवोपगमेन वाऽभेदसम्बन्धेनान्वयेऽपि नास्ति बाधः, तथापि च्छन्दसि "व्यत्ययो बहुलम्" इति शास्त्रेण सप्तम्यर्थेऽपि प्रथमाया विधानेना-ऽनायासत एव समानविभक्तिकस्थलेऽप्याधाराधेयभावो लभ्यत इति किमर्थमर्शआद्यजन्तताऽऽश्रये लक्षणा वा स्वीकरणीयेत्याशयेन नीलकण्ठाचार्यै-रेवमुक्तम्। वस्तुतस्तु नीलो घट इत्यादिलोकसाधारणेनोपायेनोपपत्तौ छान्दसत्वेन व्यत्ययकल्पनया समाधानस्यान्याय्यतया तत्र च गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्ट इति महाभाष्योक्तप्रक्रियया नैयायिकोक्तलक्षणया वा आश्रयबोध

मयोऽभ्यासात्" इस सूत्र में आत्मा अभ्यासात् = निरन्तरलिंगोपासना से, आनन्द-मयः = आनन्दप्रचुर होता है। यहाँ पर आनन्द शब्द के आगे मयट् प्रत्यय आया है। इस प्रत्यय का विकार या प्राचुर्य अर्थ कह सकते हैं। इन दो अर्थों में से श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्य आनन्द और ब्रह्म का गुणगुणिभाव मानते हैं। अतः वे यहाँ विकारार्थ को न मानकर प्राचुर्यार्थ को स्वीकार करते हैं। इससे शिवयोगाभ्यास से अंगपदवाच्य जीवात्मा आनन्दप्रचुर हो गया है, ऐसा सिद्ध हो जाता है। इसके लिए उसी आनन्दाधिकरण में "विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्" अर्थात् मयट् प्रत्यय की विकारार्थता स्वीकार करने पर मृण्मय घट मृद्विकार हो जाता है, ऐसे ही आनन्दमय आत्मा आनन्दविकार हो जाता है, इस प्रकार कहना होगा। परमेश्वर के लिए ऐसा विकार कहने का अवसर न मिलने से वह जीवात्मा ही है, ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है। यहाँ पर आनन्द शब्द से आगे के मयट् प्रत्यय से हम प्राचुर्यार्थ को ही स्वीकार करते हैं। इसीलिए तैत्तिरीय वचन में अन्नमय शब्द से

भेदवादिभिरानन्दतीर्थीयादिभिरपि—"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु. उ. १।१।९) इति वाक्यविरोधेन

इति सर्वैरेव ग्रन्थकारैः स्वीकृतत्वेनात्रापि मत्वर्थीयाच्प्रत्ययेनाश्रयबोधः स्वीकरणीय इत्येव युक्तम्, नीलकण्ठाचार्याणामुक्तिस्तूपायस्योपायान्तरादूषकत्वमात्राभिप्राया।

यः सर्वज्ञः सर्वविदिति। "यस्य ज्ञानमयं तपः" इति वाक्याविरोधाय "विज्ञानं ब्रह्म" इत्यत्र विज्ञानाधिकरणं ब्रह्मेत्यानन्दतीर्थीयव्याख्यानमप्येवमेव

मनोमय शब्द पर्यन्त के मयट् प्रत्ययों से विकारार्थ को स्वीकार करके इससे आगे के विज्ञानमय, आनन्दमय पदों को प्राचुर्यार्थक मानकर विज्ञानप्रचुर जीव है और आनन्दप्रचुर ईश्वर है, ऐसा अर्थ करते हैं। इसी प्रकार "अन्नमयो यज्ञः, अंशुमयः सूर्यः, विप्रमयो ग्रामः, विहङ्गमयो वृक्षः" इस प्रकार के अनेक स्थानों में मयट् को प्राचुर्यार्थक बताया गया है। इस प्रकार कहने से परशिव भूतभविष्यद्वर्तमान कालों में होने वाले दुःखों में से किसी एक से भी सम्बद्ध न होकर सत्य और प्रकाशमय होकर रहता है, इस वास्तविकता की सिद्धि हो जाती है। तापत्रयग्रस्त जीवात्मा में इस प्रकार के नित्यानन्द की सिद्धि नहीं हो पाती। इससे आनन्द और ब्रह्म का धर्मधर्मिभाव सिद्ध हो जाता है। ऐसा मानने पर "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्", "नित्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस प्रकार के अनन्त श्रुतिवाक्यों में एक ही विभक्ति के वाक्य आने से उस आनन्द और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार न करके भेदप्रतिपादक धर्मधर्मिभाव कहने का अवसर नहीं है, ऐसा आक्षेप करने पर "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्" इस प्रकार श्रुतियों में षष्ठ्यन्त ब्रह्मपद होने से आनन्द और ब्रह्म का अत्यन्त भेद दीखने से भेद वाक्यों का विरोध आवश्यक होने से "आनन्दो ब्रह्म" यहाँ के समानविभक्तिक ब्रह्म पद को आनन्दार्थक स्वीकार करके 'आनन्दाधिकरणं ब्रह्म' ऐसा समर्थन करने पर "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्" इस प्रकार के भिन्नविभक्तिक वाक्यों का और समानविभक्तिक वाक्यों का विरोध न होकर समन्वय हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

इस सन्दर्भ में "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः" अर्थात् जो सर्वज्ञ है, सर्ववेत्ता है, जिनका तप ज्ञानमय है, इस प्रकार के विभिन्न विभक्तियों से विशिष्ट श्रुतिवाक्य भेद को बतला रहे हैं। "विज्ञानं ब्रह्म", "आनन्दं ब्रह्म" इस प्रकार के समानविभक्ति वाले श्रुतिवाक्य अभेद भी दिखला रहे हैं। इन श्रुतिवाक्यों में परस्पर विरोध दीखने के कारण समानविभक्तिक आनन्द, विज्ञान आदि पदों की

"विज्ञानं ब्रह्म" (तै. उ. ३।५) इत्यत्र विज्ञानाधिकरणं ब्रह्मेत्युक्तम् । लौकिकेऽपि बहुकपालो घट इत्यादौ तथा दृष्टमिति ।

न चाननशिरोग्रीव इत्यस्याननशिरोग्रीवमात्राधिकरणकलिङ्गार्थकत्वे तस्मात् सर्वगतः शिव इति वाक्यविरोध इति वाच्यम्, भक्तानुग्रहार्थमौपाधिकपरिच्छिन्नेष्टलिङ्गरूपेणानन-

---

बोध्यमिति सर्वमनवद्यम् । बहुकपालो घट इत्यादाविति । वृक्षे शाखेतिवद् लोकदृष्ट्यनुसारेणावयविन्यवयवनिरूपिताधिकरणत्वमारोप्य बहुकपालाधिकरणो घट इति बोधः । तथा दृष्टमिति । समानविभक्तिकस्थलेऽप्याधाराधेयभावसम्बन्धेनान्वयो दृष्ट इति भावः। यद्यप्यत्र बहुव्रीहिणैव तादृशबोधो निर्वहति, तथाप्येकार्थीभावानङ्गीकर्तृमते उत्तरपदेऽन्यपदार्थलक्षणाया एव स्वीकारेण तत्स्थानीयकल्पान्तरस्याप्यवसरोऽस्तीत्याशयेनैवमुक्तम् ।

वाक्यविरोध इति । परिच्छिन्नत्वमपरिच्छिन्नत्वं चैकस्मिन्न सम्भवतीति तयोरेकत्रोक्तिर्बाधिता भवतीति भावः। भक्तानुग्रहार्थमिति । तथा च अधिकरणार्थता स्वीकार करके सभी वाक्यों का समन्वय करके विरोध परिहार कर लेना उत्तम समझ कर जीव और ब्रह्म के भेद को बताने वाले श्री आनन्दतीर्थ समान विभक्ति के स्थान पर अधिकरणार्थ स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार 'सर्वाननशिरोग्रीवः' यह प्रथमान्त पद 'सर्वगतः शिवः' इस आगे के प्रथमान्त पद का विशेषण है। इस विशेषण पद का, समस्त भक्तों के शिर, कण्ठ आदि स्थान ही अधिकरण (आश्रय) हैं, ऐसे भिन्नार्थ को बतलाने वाले व्यधिकरण बहुव्रीहि समास का आश्रय लेकर कण्ठ में इष्टलिंग को धारण करे, ऐसा निर्णय कर लेना चाहिये ।

आक्षेप—लेकिन इस प्रकार परिच्छिन्नत्वबोधक अधिकरणार्थ को स्वीकार कर शिवभक्त अपने कण्ठ आदि अवयवों में शिवलिंग को धारण करे, ऐसा अर्थ करने पर आगे के अपरिच्छिन्नत्वबोधक वाक्य का विरोध होता है। एक ही वस्तु में भेद और अभेद दोनों नहीं रह सकते। इसलिए इष्टलिंगधारण की सिद्धि के लिए 'सर्वाननशिरोग्रीवः' इस वाक्य की अधिकरणार्थता स्वीकार नहीं की जा सकती ।

समाधान—परशिव अपरिच्छिन्न वस्तु है, ऐसा सभी सिद्धान्ती स्वीकार करते हैं, तो भी वह परशिव उपासक भक्तों का उद्धार करने के लिए उपाधिस्वरूप

शिरोग्रीवासु सूक्ष्मज्योतिर्लिङ्गरूपेण गुहारूपदहराम्भोजे पूर्व-वाक्येन स्थितिं प्रदर्श्य वास्तविकापरिच्छिन्नरूपप्रदर्शनपरः "सर्वव्यापी च भगवान्" इत्युत्तरवाक्यसन्दर्भ इति योजयितुं शक्यत्वात् । अत एव पूर्ववाक्यावगतपरिच्छिन्नरूपसमुच्चयार्थः "सर्वव्यापी च भगवान्" इत्यत्र चकारः सार्थकः ।

अथैवमपि—"उत्तमाङ्गे गले वापि कुक्षौ वक्षस्थलेऽपि वा । तथा हस्ततले वापि प्राणलिङ्गं धरेत् सुधीः ॥" (६।५१) इति सिद्धान्तशिखामणिवचनेन "कृत्वा निधेहि सततं लिङ्गं वस्त्रेण वेष्टितम् । मस्तके कन्धरे कुक्षौ वक्षस्यथ करस्थले ॥" इति स्कान्दे शङ्करसंहितावचनेन च शिरो-

---

वस्तुतोऽपरिच्छिन्न एवेश्वरो भक्तानुग्रहार्थं स्वेच्छया परिच्छिन्नरूपं परिकल्प्या-धितिष्ठतीति परिकल्पितरूपगतमेव परिच्छिन्नत्वम्, अपरिच्छिन्नत्वं चात्मगत-मिति न कश्चिद् विरोध इति भावः ।

इष्टलिंग के रूप में शिवभक्तों के मुंह में, मस्तक पर, कण्ठ पर निवास करता है । ज्योतिर्लिंग के रूप में भक्तों के हृदय-पुण्डरीक में रहता है । इस प्रकार एक एक कल्पित रूप से भक्तों के हृदय में निवास करने पर भी वह आकाश की तरह सर्वव्यापक होकर रहता है । इस अभिप्राय को पुष्ट करने के लिए "सर्वानन-शिरोग्रीवः, सर्वभूतगुहाशयः, सर्वव्यापी स भगवान्" इन तीन वाक्यों द्वारा क्रम से इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग को दिखलाने से परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व का विरोध नहीं रहेगा । भक्तों की उपासना के सौकर्य को ध्यान में रखकर शिव का पहले कल्पित रूप बतला कर आगे निजस्वरूप के रूप में स्वीकृत अपरिच्छिनत्व को बताने के उद्देश्य से यह श्रुति अन्त में 'सर्वव्यापी च' इस प्रकार के समुच्चयार्थक चकार का उपादान करती है, अतः 'सर्वानन-शिरोग्रीवः' यह पद इष्टलिंगधारणपरक है, यह हम निश्शंक होकर कह सकते हैं ।

इस विषय पर—"दीक्षित शिवभक्त गुरु के द्वारा प्रसादित पञ्चसूत्र से घटित शिवलिङ्ग को शिर, कण्ठ, छाती, वक्षस्थल व भुजा (हाथ) पर धारण करना चाहिए" ऐसी श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य की आज्ञा है । शिर, कण्ठ, छाती, पेट, हाथ—इन पांच स्थलों में शिवलिंग को धारण करना चाहिए, इस प्रकार व्यास जी के द्वारा लिखित स्कन्दपुराण में भी कहा गया है ।

ग्रीवे लिङ्गधारणप्रसिद्धावप्यानने तदभावात् कथमेतदित्यनाकलितरमणोयम्, "मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रोऽयमोरितः। वाच्यवाचकरूपेण द्विधा मन्त्रः प्रकोर्तितः ॥ वाचको वर्णरूपः स्याद् वाच्यश्च परमः शिवः। मनुदेवतयोरैक्यं तस्मादाहुर्महर्षयः॥" इति व्यासनिरुक्त्या, "नमः पोठमिति प्रोक्तं शिकारं मध्यमोरितम् । वाकारं गोमुखं वृत्तं यकारं गोलकं स्मृतम् । ओङ्कारं लिङ्गमाख्यातं षड्वर्णं लिङ्गमुच्यते ॥" इति सिद्धा-

---

नमः पीठमिति। लिङ्गस्याधारभूतं योनिमण्डलाद्यवयवकं पीठमित्युच्यते। तद्रूपत्वं मन्त्रावयवे नमःशब्दे आरोप्यते। मध्यरूपत्वं मन्त्रावयवे शिशब्दे आरोप्यते। गोमुखपदेन तदन्तर्गतं जलप्रवहणमुच्यते, तद्रूपत्वं वाशब्दे आरोप्यते। गोलकपदेन लिङ्गाधारभूतं विवरं कथ्यते, तद्रूपत्वेन मन्त्रावयवो यकारः कल्प्यते। ॐकारश्च लिङ्गरूपेण कल्प्यते। एवं लिङ्गमन्त्रयोरेकत्वसिद्धौ मन्त्ररूपेणाऽऽननवृत्तित्वात् सर्वाननशिरोग्रीवेत्यत्राननस्य शिवधारणस्थानत्वोक्तिर्न विरुद्ध्यत इति भावः।

ननु—"उत्तमाङ्गे गले वापि कुक्षौ वक्षस्थलेऽपि वा। तथा हस्ततले वापि प्राणलिङ्गं धरेत् सुधीः॥" इति वाक्येन लिङ्गधारणाधिकरणत्वेन बहूनां

आक्षेप—ऐसा मानने पर 'सर्वाननशिरोग्रीवः' इस वाक्य में मुंह, शिर, कण्ठ—ये तीन स्थान बताने पर भी ऊपर बताये गये प्रमाण के अनुसार उपलक्षणात्मक विधि से पेट, छाती और हाथ इन तीनों का ग्रहण कर लेना है। इस मन्त्र में 'सर्वानन' ऐसा एक आनन पद मिला है। शिवलिंग को कण्ठ आदि पाँच स्थानों पर जैसा धारण कर सकते हैं, वैसा आनन (मुंह) में धारण करना साध्य नहीं है, इसलिए यह उपयुक्त नहीं है।

समाधान—युक्ति से ध्यान करने का नाम मनन है। ऐसे मनन के द्वारा रक्षा करने योग्य होने से मन्त्र कहा जाता है। वह रक्षक मन्त्र वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) के भेद से दो प्रकार का है। इनमें अक्षरस्वरूप वाचक मन्त्र है और अर्थ (लिंग) के रूप में वह वाच्य मन्त्र कहा जाता है। इस प्रकार के अक्षरस्वरूप (नमः शिवाय) वाचक पद और अर्थ रूप (परशिव) वाच्य पद का महर्षियों ने अभेद माना है।

तात्पर्य—सिद्धान्तसारावली के अनुसार महामन्त्र के पहले 'नमः' यह दोनों अक्षर शिवलिंग के पीठ हैं। 'शि' यह उस लिंग का मध्यभाग है। 'वा' यह उस

न्तसारावलीवचनेन च पञ्चाक्षरीमन्त्रलिङ्गयोरैक्येन मन्त्ररूपेणानने लिङ्गरूपेण शिरोग्रीवयोरधिष्ठित इति वक्तुं शक्यत्वात् ।

अत्र च—"व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत" (आप. श्रौ. ६।३१ १३) इत्यत्र पुरोडाशनिष्पादनप्रयोजनस्यैकत्वेन यथा विकल्पः, तद्वत् कदाचिच्छिरसि कदाचिद् ग्रीवादिषु वा धार्यमित्यवगन्तव्यम् ।

स्थानानामुक्तेः किं सर्वत्र तद्धारणं कर्तव्यमाहोस्वित् क्वचिदेवेत्याशङ्क्य समाधत्ते—अत्र च व्रीहिभिरिति । प्रयोजनस्यैकत्वेनेति । तथा च व्रीहियवयोः पुरोडाशनिष्पादनस्येवोत्तमाङ्गादिषु लिङ्गधारणानां मोक्षरूपस्य प्रयोजनस्यैकत्वमस्तीति भावः । समानफलकत्वादैच्छिको विकल्प एवात्र स्थानानामस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

लिंग का गोमुख है । 'य' यह गोलक है । 'ओं' यह लिंग है । इस तरह से पीठ, मध्य, गोमुख, वृत्त और गोलक नामक पाँच सूत्रों से विशिष्ट लिंग और वर्णरूप पंचाक्षरी मन्त्र का यहाँ अभेद मान लिया गया है ।

इसलिए वाचकरूप मन्त्र को मुंह में और वाच्यरूप मन्त्र (इष्टलिंग) को हस्त, कण्ठ आदि स्थानों में धारण करने के गूढार्थ को दिखलाने के लिए श्रुति 'सर्वाननशिरोग्रीवः' ऐसा उपदेश करती है ।

शङ्का—इस सर्वानन वाक्य से कण्ठ, शिर, कुक्षि आदि पाँच स्थानों में लिंग धारण करना चाहिए, ऐसा कहने के बाद इन पाँचों स्थानों में अलग-अलग एक-एक लिंग धारण करना है ? अथवा किसी एक स्थान पर लिंग धारण करना है ?

समाधान—श्रुति में धान से यज्ञ करें, जौ से यज्ञ करें । इस प्रकार दो वाक्य बताये गये हैं । इन दोनों वाक्यों का पुरोडाश (लीटी-बाटी) उत्पादनरूप प्रयोजन तो एक ही है । अतः धान से याग करने के बाद जौ से करने की आवश्यकता नहीं है, जौ से याग करने के बाद धान से करने की जरूरत नहीं है । ऐसा निर्णय किया गया है । उसी प्रकार यहाँ पर भी इष्टलिंग धारण से मोक्षरूप महाफल की प्राप्ति हो जाने से उस लिंग को शिर, छाती या अन्य किसी स्थान पर धारण करने पर भी मोक्षरूप प्रयोजन एक ही होने के कारण इन पाँच स्थानों में से किसी एक स्थान पर धारण करना है, न कि सभी स्थानों पर । श्रुति कहती है—प्रधानं =

अपि चास्यामुपनिषदि "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः" (श्वे. उ. १।१०) इति परमेश्वरमुपक्रम्य "लिंगधारणमाख्यातं द्विधा सर्वार्थसाधकम्। बाह्यमाभ्यन्तरं चैव मुनिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ आधारे हृदये वापि भ्रूमध्ये वा निरन्तरम्।

क्षरं प्रधानमिति। प्रधानं प्रकृतिपदवाच्यं साम्यावस्थापन्नं गुणत्रयं क्षरं विकारि। अमृताक्षरं हर इति। हरः परमेश्वरः, अमृतम् अनश्वरम्, अक्षरम् अविकारी प्रणवप्रतिपाद्यो वा। उपक्रम्य प्रस्तूय। आधारे नाभिचक्रे।

सत्त्वरजतमोगुणस्वरूपवाली माया, क्षरं = नाश होनेवाली है। हरः = परशिव, अमृत = नाशरहित और अक्षरं = विकारशून्य है। तस्य = उस दिव्य ज्योतिस्वरूप परशिव को, अभिध्यानात् = प्राणलिंग मानकर सूक्ष्म शरीर में धारण करने से, योजनात् = इष्टलिंग मानकर स्थूल शरीर में धारण करने से, तत्त्वभावात् = भावलिंग मानकर कारण शरीर में धारण करने से, भूयः = निश्चय ही, अन्ते = देह का वियोग होने के बाद, विश्वमायानिवृत्तिः = जननमरणरूप दुःख से मुक्त हो जाता है। इस श्वेताश्वतर वाक्य में 'योजनात्' यह पद देह में केवल इष्टलिंग धारण को बतला रहा है। लेकिन किस स्थान पर धारण करना है, इस बात को तो स्पष्ट नहीं किया गया है। उस स्थान को स्पष्ट करने के लिए 'सर्वाननशिरोग्रीवः' यह वाक्य आया है। इसके अतिरिक्त 'सर्वभूतगुहाशयः' यह वाक्य प्राणलिंग धारण के स्थान को बताता है। इष्टलिंग के धारण का स्थान न बताने पर प्रकरण का विरोध होगा। इस दोष का परिहार सिद्धान्तशिखामणि में किया गया है— मोक्ष को चाहनेवाले मुनि लोग लिंगधारण का बाह्यलिंगधारण और अन्तर्लिंगधारण के भेद से दो प्रकार का बताते हैं। इनमें से आधार, हृदय और भ्रूमध्य स्थान पर ज्योतिर्लिंग का निरन्तर ध्यान करना ही अन्तर्लिंगधारण है। अन्तर्लिंग को धारण करने को शक्ति न होने पर बाहर के इष्टलिंग को अन्तर्लिंग का ही स्वरूप मानकर हाथ, गले आदि उत्तम अंगों में निरन्तर धारण करना चाहिए।

'सर्वाननशिरोग्रीवः' यह पद शिवपद का विशेषण है, अतः शिव आनन, शिर और कण्ठ आदि से अभिन्न है? अथवा भिन्न है? इस प्रकार का विकल्प हो सकता है। अभेद को स्वीकार करने पर "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इस न्याय से शिव आनन, शिर और कण्ठ की केवल अभिन्नता है, ऐसा कहना पड़ेगा। तब शिव सभी जगह हैं, इस श्रुति वाक्य का विरोध होगा। भेद को मानने पर दायीं

ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानं तदेवान्तरमुच्यते ॥ "अन्तर्धारयितुं लिङ्गमशक्तः शक्त एव वा। बाह्यं च धारयेल्लिङ्गं तद्रूपमिति निश्चयात्" (६।२९,३८,४७) इति सिद्धान्तशिखामणिवचन-प्राप्तमुभयविधधारणमपि — "तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभा-वात्"(श्वे.उ. १।१०)इत्यनेन तस्याभिध्यानाद् ज्योतिर्लिङ्गरूपे-णान्तरमनुध्यानात् योजनादिष्टलिङ्गरूपेण संयोगादिति प्रदर्श्य कुत्र धर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां धारणाधिकरणप्रदर्शनार्थं प्रवृत्त-मिदं "सर्वाननशिरोग्रीवः" (श्वे. उ. ३।११) इत्यादिवाक्यम्। तत्र गुहाशय इत्यन्तर्लिङ्गधारणस्थानं प्रदर्श्य बहिर्लिङ्गधारण-स्थानाप्रदर्शने सन्दर्भविरोधो वज्रलेपायते।

ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानं ज्योतिर्मयस्य लिङ्गस्य अनुसन्धानं स्मरणमेवान्त-र्लिङ्गधारणं कथ्यत इत्यर्थः। तद्रूपमिति ज्योतिर्मयशिवस्वरूपमिति निश्चयादेतादृशं निश्चयं प्रगृह्येति ल्यब्लोपे पञ्चमी। सिद्धान्तशिखामणि-वचनप्राप्तमिति। एतद्ग्रन्थस्याप्येतन्मतेऽत्यन्तमभ्यर्हितत्वेनैतदीयवचनबलात् कर्तव्यतया प्राप्तमुभयविधलिङ्गधारणं तन्मूलभूतश्रुत्यापि बोधितमस्तीति भावः। अनुध्यानात् चिन्तनात्। एवं श्रुत्या द्विविधलिङ्गधारणं विहितत्वेन व्याख्याय क तत् धर्तव्यमिति स्थानापेक्षायां प्रवृत्तं सर्वाननशिरोग्रीव इति वाक्यं गुहाशय इत्यंशेनान्तर्लिङ्गधारणाय बुद्धिरूपां गुहां प्रदर्श्य सर्वाननशिरो-ग्रीव इत्यंशेन बाह्यलिङ्गधारणस्थानं प्रदर्शयतीति सर्वं समञ्जसं भवति। अन्यथाऽपेक्षितयावदंशाकथनेन प्रकरणस्य न्यूनत्वं सर्वाननेत्यंशस्य वैयर्थ्यं चेत्येतदाशयः।

आँख से देखता है, इस गाँव में क्षत्रिय (ठाकुर) धनिक है। इन स्थानों पर अवधारणात्मक एवकार के न होने पर भी दायीं आँख से ही देखता है, इस गाँव में केवल क्षत्रिय ही धनिक है, इस प्रकार का निर्णय हो जाता है। ऐसे ही शिव मुंह और कण्ठ में मात्र रहता है, इसके अतिरिक्त किसी स्थान पर नहीं रहता, इस प्रकार कहना होगा। ऐसा कहने पर 'सर्वानन' वाक्य के अन्त में शिव सभी स्थानों में रहता है, इस वाक्य का अर्थ निरर्थक होगा और वह सर्वव्यापक ब्रह्मलिंग हस्त, कण्ठ आदि इने-गिने स्थानों में रहता है, ऐसा कहने पर उस ब्रह्म का संकोच कहना होगा। इससे सर्वानन, सर्वभूत, सर्वगत यह तीन वाक्य क्रम से इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग को बता रहे हैं, ऐसा कहना ही ठीक होगा। इस अर्थ

यद्येवं नाङ्गीकरोषि, तदा सर्वाननशिरोग्रीव इत्येतन्निरर्थकमेव स्यात् । तथा हि—अनेन वाक्येन शिवस्याननशिरोग्रीवाभेदो विधीयते, आहोस्वित् तद्वृत्तित्वम् ? नाद्यः, सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेन तावन्मात्राभेदसिद्धौ सर्वो ह्येष रुद्र इति श्रुतिविहितसार्वात्म्यभङ्गापत्तेः । न द्वितीयः, तस्मात् सर्वगतः शिव इति वाक्यापादितसर्वगतत्वरूपब्रह्मलिङ्गस्य सङ्कोचापत्तेः । अस्मन्मते तु सार्थक्यमुक्तमेवेति ।

निरर्थकमेव स्यादिति । सर्वाननशिरोग्रीव इति विशेषणेन सर्वाननाद्यभेदो वा सर्वाननादिवृत्तित्वं वा बोधयितुं न शक्यते, सर्वात्मकत्वसर्वंगतत्वयोरन्यतरस्यावश्यं भङ्गापत्तेर्वामिनाक्ष्णा पश्यतीत्युक्तेरेवकारं विनापि वामेनैव पश्यतीत्यवधारणप्रतीतेरेतादृशस्थल इतरव्यावृत्तिलाभस्यौत्सर्गिकत्वादित्याशयः । तदेवोक्तम्—सर्वं वाक्यं सावधारणमिति । एवमेवास्मिन् ग्रामे क्षत्रियो धनिक इत्युक्तौ क्षत्रिय एवात्र धनिक इत्यादिप्रतीतिरप्युदाहर्तव्या । यद्यपि देवदत्तस्य चत्वारः पुत्राः सन्तीत्यत्र देवदत्तस्यैवेति न प्रतीयते, तथापि बाधनिश्चयोपस्थित्या तदंशेऽवधारणाप्रतीतावपि चत्वार एव सन्त्येवेत्यंशान्तरेऽवधारणप्रतीतिरस्त्येव । स्पष्टं चेदम्—"अथेदानीं गामभ्याज कृष्णां देवदत्त दण्डेन" इत्यत्र सर्वं निर्दिष्टम्—"गामेव कर्म अभ्याजैव क्रिया देवदत्त एव कर्ता" इत्यादिग्रन्थेन एवकारं विनापि तदर्थपरत्वप्रतीतिस्थलप्रदर्शकमहाभाष्ये । तच्चेत्यधिकरणताबोधकपदं चेत्यर्थः । आश्रयलक्षणादिकं तु विना प्रमाणमाश्रयितुं न शक्यत इति भावः ।

को ब्रह्मसूत्र स्पष्ट कर रहा है । वीरशैव भाष्यकार श्रीपति पण्डिताराध्य ने इस सूत्र की त्रिविध लिंगोपासनापरक व्याख्या की है ।

शङ्का—"सर्वाननशिरोग्रीवः" इस वाक्य में अधिकरणार्थ को बताने वाले पद के होने पर यह इष्टलिंगधारणपरक है, ऐसा कह सकते हैं । ऐसा कोई पद नहीं दीखता है । इसलिए वह वाक्य ही व्यर्थ होता है न ?

समाधान—इस वाक्य में स्पष्ट रूप से अधिकरणार्थ को बताने वाला पद न होने पर भी मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करके उस वाक्य को सार्थक बना सकते हैं, क्योंकि पूरे वाक्य को व्यर्थ बनाने की अपेक्षा उस वाक्य में रहनेवाले एक पद में लक्षणा स्वीकार करके उस वाक्य को सफल बनाना उपयुक्त (न्याय्य) है, ऐसा शास्त्रकारों का मत है । अतः "सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्, सहस्रशीर्षा पुरुषः, सर्वतः

ननु सर्वाननशिरोग्रीव इत्यत्राधिकरणताबोधकपदसत्त्वे सर्वमेतदेवं स्यात्, तच्चात्र नास्तीति चेन्मैवम्, आननशिरोग्रीवा अधिकरणत्वेनास्य सन्तीति मत्वर्थीयाच्प्रत्ययेन एतद्वाक्यवैयर्थ्यपरिहाराय वरं हि वाक्यवैयर्थ्यात् पदमात्रस्य लक्षणेति न्यायेन लक्षणया वा तद्बोधावश्यम्भावात् ।

अभ्युपगतं च पूर्वतन्त्रे—"एकादशपशोरवदानानि तानि द्विरवद्यति" (तै. सं. ६।३।१०।३) इत्यत्र पाशुके हविषि

तद्बोधावश्यम्भावादिति । लिङ्गधारणाश्रयप्रतिपादनपरत्वं विना सर्वाननेति वाक्यवैयर्थ्यापत्त्या तद्वाक्यमेवाश्रयलक्षणादौ प्रमाणं भवतीति भावः । वस्तुतः—"सहस्रशीर्षा पुरुषः" (ऋ० १०।९०।१) इतिवत्; "सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" (भ०गी० १३।१३) इतिवच्च सर्वेषामाननशिरोग्रीवं यस्येति व्यधिकरणबहुव्रीहिणा सर्वात्मकत्वबोधकमेवेदमपीति बोध्यम् ।

अभ्युपगतं च पूर्वतन्त्र इति । वाक्यवैयर्थ्यवारणायैकपदस्य लाक्षणिकत्वं पूर्वमीमांसायां स्वीकृतमस्तीत्यर्थः । तदेव दर्शयति—एकादशेति । पाशुके

पाणिपादम्" इत्यादि स्थानों में व्यधिकरण बहुव्रीहि समास का आश्रय लेकर "सर्वाननशिरोग्रीवः" इस वाक्य को सफल बनाना उत्तम है ।

पशु के ग्यारह अवयवों में से प्रत्येक का दो बार अवदान करना है (आहुति के निमित्त अवयव को लेना), ऐसा पशुप्रधान याग में बताया गया है । पशुयाग तो सोमयाग का विकृति याग (अंग याग) है, अतः जैसा प्रकृति याग किया जाता है, वैसा ही विकृति याग को करना है । चोदना (प्रेरणा) वाक्य होने के कारण अंगी (प्रधान) सोमयाग में बताये हुए वाक्य से ही पशुसम्बन्धी आहुति में द्विरवदान सिद्ध हो जाता है, तो फिर इस अंगभूत पशुयाग में 'द्विरवद्यति' ऐसा क्यों कहा गया ? यह दो बार अवदान बतानेवाला वाक्य व्यर्थ है ? ऐसी शङ्का होने पर मीमांसाशास्त्र में इसका समाधान दिया जाता है कि श्रुति में यागीय पशु के हृदय में रहनेवाली वपा से पाँच बार अवदान करने का विधान है । यहाँ आज्य (घी) के उपस्तरण के लिए एक अवदान, आहुति के लिए तीन अवदान और अभिघार के निमित्त एक अवदान, इस प्रकार पाँच अवदान पूर्ण हो जाते हैं । अब "तानि द्विरवद्यति" यह वाक्य व्यर्थ न होने पावे, इसके लिए वपा पद की पशुसम्बन्धी हविस्सामान्य में लक्षणा स्वीकार करने से पशु के हृदय आदि स्थानों में रहनेवाली

प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्येति चोदकेनैव द्विरवदानप्राप्तौ तानि द्विरवद्यतीत्यवदानद्वित्वविधायकवाक्यस्य वैयर्थ्यमिति पूर्वपक्षीकृत्य, "यद्यपि चतुरवत्ती यजमानः पञ्चावत्तैव वपा कार्या" इति वाक्ये वपापदस्य हृदयादिसाधारण्येन पाशुकहविर्मात्रे लक्षणां स्वीकृत्य हृदयादिष्वपि पञ्चावदानसिद्ध्यर्थमुपस्तरणाभिधारयोः सतोरवदानत्रितयप्राप्तौ हविर्द्विरवदातव्यम्,

---

हविषि श्रूयते—"एकादश पशोरवदादानि तानि द्विरवद्यति" इति। पाशुकयागे पशोरेकादशाङ्गानि तानि प्रत्येकं द्विरवद्यति, तेभ्योऽवदानपूर्वकं वारद्वयं हविरवयवं गृह्णातीत्यर्थः। अस्य च कर्मणः सोमविकृतित्वेन प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येति चोदकवाक्येनैवैतदीयहविष्षु द्विरवदानस्य प्राप्ततया द्विरवद्यतीति वाक्यस्य वैयर्थ्यं भवतीति पूर्वपक्षे, अस्मिन्नेव प्रकरणे—"यद्यपि चतुरवत्ती यजमानः पञ्चावत्तैव वपा कार्या" इति वपायाः पञ्चावदानानि विधीयन्ते। पञ्चावदानस्थले च प्रथमावदानमुपस्तरणार्थमाज्यस्य क्रियते, अनन्तरावदानत्रयं हविषः क्रियते, अन्तिममवदानमभिघारणार्थं पुनराज्यस्यैव क्रियते। एवं पञ्चत्वसंख्या पूर्यते। अत्र तानि द्विरवद्यतीति वाक्यवैयर्थ्यपरिहाराय वपापदस्य पाशुकहविःसामान्ये लक्षणया हृदयादिहविःष्वपि पञ्चावत्त्वं प्राप्नोति। तत्र चोपस्तरणाभिघारणाभ्यां द्वित्वसंख्याया निष्पन्नत्वेन पञ्चत्वसंख्यापूर्तये हृदयादीनां त्रिरवदानं प्राप्नोति। तद्बाधाय तानि द्विरवद्यतीत्युच्यते। तेन हविरवदानेषु पूर्वप्राप्तत्रित्वस्य द्वित्वेन बाधात् पञ्चावत्तैव वपा कार्येति प्राप्तपञ्चत्वसंख्यायाः पूर्तिरुपस्तरणार्थमवदानस्य वारद्वयकरणेनाभिघारणस्य वा वारद्वयकरणेन करणीयेति सिद्धान्तितम्। अत्र यथा तानि द्विरवद्यतीति

हवि से पंचावदान की सिद्धि हो जाती है। यहाँ उपस्तरण और अभिघार नामक दो अवदान एवं पशु के हृदय से तीन अवदान इस प्रकार पाँच अवदान हो जाने से वाक्यार्थ का बाध होने पर "तानि द्विरवद्यति" वैसा बताया गया है। इस कथन से हवि के तीन अवदान द्वित्वविधायक वाक्य से बाधित हो जाते हैं। "पञ्चावत्तैव वपा कार्या" यहाँ पर उपस्तरणात्मक दो अवदान मिलकर पाँच (अवदान) पूरे हो जाते हैं, ऐसा सिद्ध किया गया है। इससे "तानि द्विरवद्यति" इस वाक्य में आने वाले विरोध को दूर करने के लिए वपा पद की हविस्सामान्य में लक्षणा स्वीकार करना जैसे मीमांसाशास्त्र में प्रसिद्ध है, वैसे ही 'सर्वानन' वाक्य में अधिकरणबोधक पद न होने से इस वाक्य को व्यर्थ बनाने की अपेक्षा एक पद में लक्षणा वृत्ति

पञ्चसंख्यापूर्तिस्तूपस्तरणादिवृद्ध्या कर्तव्येति तत्सार्थक्यं साधितमिति सर्वं सुस्थमित्यास्माकीनः पन्थाः ।

पूर्वाचार्यास्तु सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यत्र नापूर्वविधिः, पाणिमन्त्रं पवित्रमिति विशेषणस्य वक्ष्यमाणरीत्या पाण्यधिकरणकपूजाप्रतिपादकत्वसमर्थनेन तदन्यथानुपपत्त्या लिङ्गधारणप्राप्तौ त्रैकालिकाप्राप्त्यभावादित्यूचुः ।

वाक्यस्य वैयर्थ्यवारणाय वपापदस्य हविस्सामान्ये लक्षणा स्वीक्रियते, तथा सर्वाननशिरोग्रीवेत्यादिवाक्यस्य वैयर्थ्यवारणाय सर्वाननशिरोग्रीवपदस्य सर्वाननाद्यधिकरणके लक्षणा स्वीकर्तव्येति तात्पर्यम् ।

पूर्वाचार्यास्त्विति । पाणिमन्त्रं पवित्रमिति पदद्वयं पाणौ मन्त्रः पूजनं यस्येति व्युत्पत्त्या पूयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या च पाण्यधिकरणकपूजाकर्मत्वमशुचिकाले धारणेऽपि पवित्रत्वं च लिङ्गस्य बोधयति । प्रतिदिनं तादृशपूजनं च लिङ्गधारणं विना नोपपद्यत इत्यन्यथानुपपत्त्याऽर्थापत्तिप्रमाणेन लिङ्गधारणस्य प्राप्ततया च स्थापयतीत्यस्याऽपूर्वविधित्वं न सम्भवतीति पूर्वाचार्या ऊचुरित्यर्थः । अत्रारुचिबीजं तु पार्थिवादिलिङ्गपूजनेनापि तन्निर्वाहादन्यथानुपपत्त्यभावः ।

से अधिकरण अर्थ को स्वीकार करके शिव इष्टलिंग के रूप से भक्तों के मुंह, शिर, कण्ठ आदि के आश्रय में रहते हैं, ऐसा कहना उत्तम पक्ष है । इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषत् से भी लिंगधारण के सिद्ध होने से "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यहाँ पर अपूर्व विधि के नियमानुसार लिंगधारण की सिद्धि नहीं हो पाती ।

किसी पूर्वाचार्य का कहना कि 'सर्वलिंग' मन्त्र में अपूर्व विधि नहीं है, "पाणिमन्त्रं पवित्रम्" यहाँ दो विशेषण आये हैं । 'पाणौ मन्त्रं पूजनं यस्य' इस व्युत्पत्ति से और 'पूयत इति पवित्रम्' इस व्युत्पत्ति से भी इष्टलिंग को हाथ में रखकर पूजा करनी चाहिये, यह अर्थ और पवित्र व अपवित्र काल में भी लिंग परिशुद्ध रहता है, यह अर्थ निकलता है । देह में उस प्रकार के लिंग को धारण किये बिना हाथ में पूजा कैसे हो सकती है ? अतः उस वाक्य में स्पष्ट रूप से लिंगधारण की बात न रहने पर भी अर्थापत्ति प्रमाण से यह सिद्ध हो जाती है । 'देवदत्त पुष्ट है, वह दिन में कभी भोजन नहीं करता' इस वाक्य में भोजन और पुष्टि इन दोनों का कार्यकारणभाव है । भोजन के बिना शरीर पुष्ट नहीं हो सकता । देवदत्त के शरीर के पुष्ट होने से दिन में भोजन न करने पर भी रात में भोजन जरूर करता

ननु मास्त्वपूर्वविधिः, परन्तु—"याजनाध्यापनप्रतिग्रहै-र्ब्राह्मणो धनमर्जयेत्" इत्यादाविव नियमविधिरेव स्यादिति चेत्? तदपि गगनकुसुममालिकाधारणमनुकरोति मुक्ते विषये, "भस्मच्छन्नो भस्मशय्याशयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः" इति शातातपस्मृत्यादिविहितभस्मरुद्राक्षादिधारणस्यैव लिङ्ग-धारणस्यापि पक्षतः प्राप्तौ लिङ्गधारणमेव कर्तव्यं न भस्मा-

---

एतावता प्रबन्धेन सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यत्रापूर्वविधित्वं निराकृत्य नियमविधित्वमाशङ्कते–नन्वित्यादिना। "याजनाध्यापनप्रतिग्रहैर्ब्राह्मणो धनमर्जयेत्" इत्यत्र धनार्जनस्य सुखदुःखाभावहेतुतया रागादेव प्राप्ततया याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरेवेति नियमार्थो यथाऽर्जनविधिर्भवति, एवमेवायमपि लिङ्गधारणमेव कुर्यादिति नियमार्थोऽस्त्वित्याशयः। निराकरोति—तदपि गगनकुसुमेत्यादिना। अत्र प्रकरणे नियमपदं परिसंख्यापरम्। मुक्ते विषय इति। मुक्तपुरुषरूपविषय इत्यर्थः। अयं भावः—नियमकल्पे सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यस्य सर्वलिङ्गमेव स्थापयतीति वचनव्यक्तिः स्यात्। तथा च मुक्तपुरुषे भस्मरुद्राक्षादिधारणानां व्यावृत्तिपरोऽयं विधिः स्यात्, शरीराधि-करणकस्थापनस्य धारणरूपतायां पर्यवसानात्। तच्चानिष्टमेवापद्येत,

होगा, इस बात का जैसे निश्चय कर लिया जाता है, वैसे ही देह में लिंगधारण की कल्पना हो जाती है। इससे (प्रमाणान्तर से) प्राप्तत्व की सिद्धि हो ही जाती है, न कि अप्राप्त की सिद्धि। इसलिए पूर्वाचार्य सर्वलिंग मन्त्र में रहनेवाले "पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस वाक्य से ही अपूर्व विधि का निषेध करते हैं।

ऐसा कहने पर नियम विधि को स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि "ब्राह्मण पूजा करा कर, दान लेकर, पढ़ा कर धन का संग्रह करे, इसके अतिरिक्त किसी मार्ग से न करें" इस धर्मशास्त्र के नियम को जैसे मान लिया जाता है, वैसे हो "मोक्ष को चाहने वाला पुरुष इष्टलिंग के धारण करने मात्र से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है और किसी मार्ग से नहीं" इस प्रकार से नियम विधि को अंगीकार करना चाहें, तो "जो भस्मधारण करता है, जो विभूति के बिस्तर पर लेटता है, जो रुद्राध्ययन करता है, वह सम्पूर्ण पापों से रहित होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है" ऐसा शातातप स्मृति में बताया गया है। यहाँ लिंगधारण से मोक्ष प्राप्त करता है अथवा

दीति नियमोऽङ्गीकरणीयः। सोऽप्यनिष्ट एव, "पिण्डता पिण्डविज्ञानं संसारगुणहेयता। दीक्षालिङ्गधृतिश्चैव विभूतेरपि धारणम्॥ रुद्राक्षधारणं चैव पञ्चाक्षरजपस्तथा। भक्तिमार्गक्रिया चैव गुरोर्लिङ्गस्य चार्चनम्॥ योगिनश्च तथा ह्येषां प्रसादस्वीकृतिस्तथा। एतानि शिवभक्तस्य कर्तव्यानि प्रत्यत्नतः॥" (५।२६-२९) इति सिद्धान्तशिखामणौ सर्वेषामप्यावश्यकत्वोक्तेः।

विभूतिरुद्राक्षादिधारणस्यात्यन्तावश्यकत्वात्। तदेव दर्शयति—पिण्डता पिण्डविज्ञानमित्यादिना। पिण्डतापदेन पापाभाव उच्यते। पिण्डपदेन तद्वान् शुद्धात्मा उच्यते। सांसारिकपदार्थस्य पुत्रकलत्रादेर्हेयत्वस्य त्याज्यत्वस्य ज्ञानम्। दीक्षायाः, लिङ्गस्य, विभूतेः, रुद्राक्षाणां धारणम्। पञ्चाक्षरजपः, भक्तिमार्गक्रिया श्रवणकीर्तनाऽऽलयपरिमार्जनादिक्रिया, गुरोर्लिङ्गस्य योगिनां चार्चनं पूजनम्, एषामेव प्रसादस्वीकारश्चैतानि शिवभक्तस्यावश्यकर्तव्यानीत्यर्थः। अत्र मुक्त इत्यधिकार्युपलक्षणम्।

भस्मरुद्राक्षधारण से, इस प्रकार के दो विकल्प प्राप्त होते हैं। नियम विधि के अनुसार यहाँ किसी एक का निषेध बताना ही होगा। लिंगधारण ही मुक्ति का कारण है, ऐसा कहने पर भस्मरुद्राक्षधारण मोक्ष का कारण नहीं है, ऐसा बताना होगा। इष्टलिंगधारक वीरशैवों के लिए लिंगधारण और भस्मरुद्राक्षधारण दोनों की आवश्यकता है। इन दोनों में से किसी का भी निषेध करें, तो वह अनिष्टदायक ही होगा।

सिद्धान्तशिखामणि में पिण्डस्थल, (शुद्ध जीव) पिण्डज्ञानस्थल (शरीर और जीव का विवेक), संसारगुणहेयस्थल, गुणकारुण्यस्थल (दीक्षा), लिंगधारणस्थल, भस्मधारणस्थल, रुद्राक्षधारणस्थल, पंचाक्षरजपस्थल, भक्तमार्गक्रियास्थल, उभयस्थल, त्रिविधसम्पत्तिस्थल, 'प्रसादस्वीकारस्थल, सोपाधिदानस्थल, निरुपाधिदानस्थल, सहजदानस्थल—इस प्रकार के पन्द्रह स्थल वर्णित हैं। इन सबका शिवभक्तों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक संग्रह करना है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लिंगधारण की तरह भस्मरुद्राक्षधारण भी शिवभक्त के लिए आवश्यक है। इस तरह से "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यह वाक्य नियमविधि में भी नहीं आ सकता।

तब तो तीसरी परिसंख्याविधि ही यहाँ स्वीकारनी पड़ेगी, किन्तु यह भी संभव नहीं है, क्योंकि चयनप्रकरण में यज्ञ की वेदि को तैयार करने के लिए गाड़ी के

ननु तर्हि लिङ्गधारणाकर्तव्यतानिषेधपूर्वककर्तव्यताफलकपरिसंख्यैव भूयादिति चेन्मैवम्, तत्कर्तव्यत्वाऽकर्तव्यतयोरेकाऽप्रसक्त्या समुच्चयासंभवे परिसंख्यायोगादिति पूर्वपक्षः ।।

ननु तर्हीति । अस्मिन् प्रकरणे नियमपरिसंख्यापदयोः प्रयोगौ वैपरीत्येनानवधानतः कृतौ, इतरव्यावर्तकाकारोपगमे पञ्चैव पञ्चनखा भक्ष्या इत्येतत्सदृशे नियमपदस्य लिङ्गधारणाकर्तव्यतानिषेधपूर्वककर्तव्यताफलकाकारस्वीकारे च "ऋतौ भार्यामुपेयादेव" (गौ० स्मृ० ५।१) इत्येतत्सादृश्यप्राप्तौ परिसंख्यापदस्य प्रयोगात् । वस्तुतः पूर्वत्रैव परिसंख्यापदस्य प्रयोग उचितः, समुच्चयासंभवे परिसंख्यायोगादिति । यद्यपि परिसंख्यायां नियमे वा कुत्रापि समुच्चयप्राप्तेरपेक्षा नास्ति, रागतः प्राप्तपञ्चपञ्चनखभक्षणविधानेन कदाचित् प्राप्ततदितरपञ्चनखभक्षणस्य, एवं तुषनिवृत्तिहेतुतया स्वयं प्राप्तावघातविधानेन कदाचित् प्राप्तस्योपायान्तरस्य नखविदलनादेश्च व्यावृत्तेर्बोधनात्, तथापि—"एतानि शिवभक्तस्य कर्तव्यानि प्रयत्नतः" (सि०शि० ५।२९) इत्यवश्यकर्तव्यतोक्तावकर्तव्यतायाः स्वत एव निषेधाद् नियमादेरपेक्षा नास्तीति भावः ।

एक तरफ घोड़े को और दूसरी तरफ गदहे को जोत कर ईंटा लाने के लिए जंगल में जाने पर "इमामगृभ्णन् रशनाम्" इस मन्त्र में जैसे बताया है, वैसे रस्सी को पकड़ना है । सामान्य रूप से यहाँ घोड़े की रस्सी और गदहे की रस्सी दोनों के एक साथ रहने पर भी "इमामगृभ्णन्" इस मन्त्र का अनुसरण करते हुए उन दोनों में से घोड़े की रस्सी को खींचते हुए गदहे की रस्सी को न खींच कर और मन्त्र का भी उच्चारण न करते हुए रहना है । यही परिसंख्या विधि का उदाहरण है । "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" यह भी इसी का उदाहरण है । यहाँ पर लिंगधारण और भस्मरुद्राक्षधारण के कर्तृत्व और अकर्तृत्व का एक ही बार समुच्चय न होने से परिसंख्याविधि भी नहीं बता सकते । इस प्रकार लिंगधारण की विधि आपकी दृष्टि में नित्य होने पर भी पूर्वमीमांसा शास्त्र में बताए हुई तीन विधियों में से किसी भी विधि के अन्तर्गत नहीं आती, अतः अवैदिक है, ऐसा हमारा मानना है ।

समाधान—इन तीनों ही विधियों से लिंगधारण सिद्ध होता है । प्रथम विधि में एक वाक्य से विधान किया हुआ अर्थ दूसरे वाक्य से विहित न होने पर ही अपूर्व विधि के अन्तर्गत आता है । यहाँ ऐसा नहीं है, ऐसा मानकर किया हुआ पूर्वपक्ष

अत्रोच्यते—सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यत्रापूर्वविधिरेव। न च धारणस्य सर्वाननशिरोग्रीव इति वाक्यविहितत्वेन न त्रैकालिकाप्राप्तिरिति वाच्यम्, अस्य स्वप्रतिपाद्याधिकरण-प्रतियोगिलिङ्गधारणविधायकसर्वलिङ्गवाक्यसापेक्षत्वेन उप-जीवकेनोपजीव्येऽन्यथासिद्ध्ययोगात्।

न त्रैकालिकाप्राप्तिरिति। तथा च "विधिरत्यन्तमप्राप्तौ" इति लक्षण-लक्षितं त्रैकालिकाप्राप्तप्रापकत्वरूपं विधित्वं न सम्भवतीति भावः।

स्वप्रतिपाद्याधिकरणेति। स्वं सर्वाननेति वाक्यम्, तत्प्रतिपाद्यान्य-धिकरणान्याननशिरोग्रीवरूपाणि तेषां प्रतियोगिसंबन्धितन्निष्ठाधिकरणता-निरूपकं यल्लिङ्गधारणम्, तद्विधायकं यत् सर्वलिङ्गं स्थापयतीति वाक्यम्, तत्सापेक्षत्वेन तद्बोध्याधेयज्ञाननिवर्त्याकाङ्क्षावदर्थबोधकत्वेन। अयं भावः—आधेयबोधनं विना केवलाधिकरणताबोधकवाक्यं स्वजन्यत्वेन तात्पर्यविषयी-

यहाँ टिक नहीं सकता, क्योंकि "सर्वाननशिरोग्रीवः" यह वाक्य इष्टलिंग को धारण करने योग्य कण्ठ, शिर आदि (आधेय) स्थानों को दिखाता है। "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यह वाक्य शरीर में सामान्य रूप से इष्टलिंग का विधान करने के बाद उस लिंग को धारण करने योग्य विशेष स्थानों को न बतावे तो वह वाक्य पूर्ण नहीं होता। इसलिए "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य के द्वारा सामान्य रूप से लिंगधारण का विधान करने के बाद "सर्वाननशिरोग्रीवः" यह मन्त्र लिंगधारण के लिए विशेष स्थान बताता है, ऐसा हम कहते हैं। इससे 'सर्वलिंग' वाक्य को उपजीव्य (प्रधान) वाक्य मानकर 'सर्वानन' वाक्य को उपजीवक (पोषक) वाक्य मानने पर ये दोनों वाक्य मिलकर एक ही वाक्य हो जाते हैं और इस तरह से यहाँ अपूर्वविधि मानने में कोई बाधा नहीं है। अग्नि में तपाई गई लिंग, शूल, डमरु, शंख, चक्र आदि मुद्राओं का निषेध कर वेदोक्त शिवलिंग, भस्म, रुद्राक्ष आदि के धारण का विधान करने से नियमविधि और परिसंख्याविधि से भी लिंगधारण की सिद्धि हो जाती है।

शङ्का—'सर्वलिङ्गम्' यह वाक्य तैत्तिरीय वाक्य है और 'सर्वानन' यह वाक्य श्वेताश्वतरोपनिषत् का है। इस प्रकार भिन्न भिन्न श्रुतिवाक्यों में उपजीव्य और उपजीवक भाव से एकवाक्यता को स्वीकार करने की अपेक्षा उसी श्वेताश्वतर के 'सर्वानन' वाक्य के समीप में स्थित लिंगधारण का विधान करने वाले "तस्याभिध्यानाद् योजनात्" इस वाक्य की और 'सर्वानन' इस वाक्य की एक-वाक्यता मान लेना उत्तम होगा।

न चास्य स्वसमानाधिकरण-तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावादिति वाक्यविहितधारणाधिकरणनिरूपकत्वेन न सर्वलिङ्गवाक्यसापेक्षतेति वाच्यम्, वैषम्यात्। अत्रानितरसाधारणलिङ्गश्रुतिसत्त्वेन स्थापयतीति धारणविधायकपदसत्त्वेन च विलम्बोपस्थितिकतद्वाक्यापेक्षया बलवत्त्वात्।

भूतबोधाय पर्याप्तं न भवतीत्याधेयबोधकं वाक्यान्तरमपेक्षत इति। प्रकृते सर्वाननेति वाक्यस्य सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यस्य च परस्परापेक्षितार्थबोधकत्वेनैकवाक्यतापन्नतया मिलित्वैवोद्देश्योभूतबोधपर्याप्ततया च नैकेनापरस्य प्राप्तप्रापकत्वं वा वैयर्थ्यं वा नियमत्वं वा शङ्कितुं शक्यत इति भावः।

न चास्येति। स्वसमानाधिकरणं यत् तस्याभिध्यानाद् योजनादिति वाक्यम्, तद्विहितं यद्धारणं तदधिकरणनिरूपकत्वेन। अत्र निरूपकत्वेनेत्यस्य बोधकत्वेनेत्यर्थः, स्वसमानाधिकरणेत्यस्य च स्वप्रकरणस्थेत्यर्थः। इदमेवैतच्छङ्कायां बीजम्। स्वसन्निहितेन स्वोत्थापिताकाङ्क्षापूरणसम्भवे विप्रकृष्टेन तत्पूरणस्यात्यन्तानौचित्यादिति च भावः। वैषम्यादिति। तस्याभिध्यानादिति वाक्यात् सर्वलिङ्गवाक्यस्य वैलक्षण्यादित्यर्थः। वैलक्षण्यमेव दर्शयति— अनितरसाधारणेति। लिङ्गपदं शिवादितरदेवे न प्रयुज्यते, एवं स्थापय-

समाधान—दूर-दूर रहनेवाले दो वाक्यों में उपजीव्य और उपजीवकभाव को स्वीकार करने की अपेक्षा समीपवर्ती वाक्यों में उपजीव्य और उपजीवक भाव मान लेना उत्तम है। ऐसा स्वीकार करने पर भी यहाँ वैसा उपजीव्य और उपजीवकभाव इन दोनों में नहीं बता सकते, क्योंकि "तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावात्" यहाँ यद्यपि इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग इन तीनों लिंगों के धारण की बात कही गई है, तो भी 'तस्य' इस पद के पीछे के वाक्यों को लेकर विचार करने पर पूर्णतया शिवलिंग है, ऐसा अर्थ करना होगा। केवल वाच्यार्थ से स्पष्टतया लिंगधारणपरक है, ऐसा नहीं बता सकते। इसलिए "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस श्रुतिवाक्य के दूसरी श्रुति का वाक्य होने पर भी इसमें शिव के अलावा अन्य किसी देवता के निमित्त अप्रयुक्त, केवल शिव में ही नियमित रूप से योग और रूढ़ होकर रहनेवाला 'लिंग' नामक पद होने से तथा धारण के विधायक 'स्थापयति' पद के होने से हाथ में रखकर पूजा करनी चाहिए, ऐसे अर्थ के सूचक 'पाणिमन्त्रम्' पद के होने से "सर्वाननशिरोग्रीवः" इस दूरवर्ती वाक्य से उपजीव्य और उपजीवकभाव को बताना ही ठीक है।

न च लोकवेदाधिकरणेन व्याकरणादिना गृहीतशक्तिक-लौकिकशब्दानामेव वैदिकत्वनिर्णयेन पशुना यजेतेत्यादौ

तीति पदं च स्थापनादन्यत्र न प्रयुज्यते। एतत्पदद्वयस्यानितरसाधारणतया विशेषार्थबोधकस्याधेयाकाङ्क्षाशमनार्हस्योपलम्भे तस्याभिध्यानादिति सामान्यवाक्येन विलम्बेनार्थोपस्थापकेन तदपेक्षाशमनमनुचितमिति भावः।

लोकवेदाधिकरणेनेति। पूर्वमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे—"प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्" (१।३।३०) इति त्रिंशे सूत्रे लौकिक-वैदिकशब्दानामेकार्थकत्वं सिद्धान्तितम्। तत्र देवा इत्यत्र देवासः, भवतीत्यत्र भवाति, कर्णैरित्यत्र कर्णेभिरिति लौकिकप्रयोगापेक्षया वेदे विलक्षण-

---

शङ्का—लोकवेदाधिकरण न्याय से "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य का "सर्वाननशिरोग्रीवः" यह वाक्य सापेक्ष न होने पर भी "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यह वाक्य विधिवाक्य ही है, क्योंकि मीमांसाशास्त्र के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद में वैदिक और लौकिक शब्दों का एकार्थत्व निर्णीत है। यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि लौकिक शब्द और वैदिक शब्दों में बहुत ही अन्तर दीखता है। जैसे कि लोकव्यवहार में 'देवाः' और वेद में 'देवासः' रूप बनता है। लोक में 'भवति' और वेद में 'भवाति' क्रिया प्रयुक्त होती है। लोक में 'कर्णैः' और वेद में 'कर्णेभिः' प्रयोग होता है। इस प्रकार लौकिक प्रयोगों की अपेक्षा वैदिक प्रयोगों की विलक्षणता के कारण लौकिक शब्दों का अर्थ एक प्रकार का है और वैदिक शब्दों का अर्थ दूसरे प्रकार का। यदि हम इस पूर्वपक्ष को मान लें, तो लौकिक वैदिक शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ करने पर इन शब्दों की इसी अर्थ में शक्ति है, ऐसा निर्णय करने वाले व्याकरण आदि शास्त्रों का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा। जब शब्द की शक्ति ही स्वीकार नहीं है, तब अर्थ का बोध न हो पाने के कारण सभी वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिए शक्तिग्राहक व्याकरण आदि के आधार पर लौकिक शब्द और वैदिक शब्दों का एक ही अर्थ स्वीकार किया जाता है, न कि भिन्न भिन्न अर्थ। जैसा कि—"पशुना यजेत" इस स्थान पर 'पशुना' यहाँ तृतीयानिष्ठ शक्ति और 'यजेत' यहाँ यजिनिष्ठ शक्ति और लिंगनिष्ठ शक्ति व्याकरण आदि से ही जानी जाती है। इस तरह से "पशुना यजेत" इस वैदिक वाक्य की व्याकरण आदि की सापेक्षता होने पर भी जैसे विधि का लोप नहीं होता,

पश्वादिशब्दानां शक्तिग्रहार्थं व्याकरणादिसापेक्षत्वेऽपि यथा विधायकत्वं स्वीकृतम्, तद्वदिहापि किं न स्यादिति वाच्यम्,

प्रयोगदर्शनेन लोकापेक्षया वैदिकशब्दानामन्यार्थत्वं भविष्यतीति पूर्वपक्षीकृत्य सिद्धान्तबोधनायेदं सूत्रं प्रणीतम्—प्रयोगेति। अयमर्थः—प्रयोगस्य कर्मानुष्ठानस्य चोदनाया विधायकवाक्यस्याभावादर्थाबोधकत्वप्रसङ्गादर्थैकत्वं लौकिकवैदिकशब्दयोरेकार्थत्वम्। हेत्वन्तरमुच्यते—अविभागात्। एकानुपूर्वीकशब्दानां मीमांसकमतेऽभेदात्। शब्दाभेदादप्यर्थाभेद उचित इति तात्पर्यम्। अयं भावः—लोके व्यवहारादिना गृहीतशक्तिकानां पदानां वेदेऽपि सत्त्वोपगमेऽर्थबोधकत्वमुपपद्यते। वैदिकशब्दानां लौकिकशब्देभ्यो भिन्नत्वभिन्नार्थकत्वोपगमे तु शक्तिग्रहाभावादर्थबोध एव तेभ्यो न स्यादिति व्यर्थान्येव वाक्यानि भवेयुरित्यवश्यमेकार्थकत्वं लौकिकवैदिकशब्दानां मन्तव्यम्। शक्तिग्रहार्थं व्याकरणादिसापेक्षत्वेऽपीति। पशुनेत्यत्र तृतीयानिष्ठा, यजेतेत्यत्र यजनिष्ठा लिङ्निष्ठा च शक्तिः कर्तृकरणयोस्तृतीया, विधिनिमन्त्रणामन्त्रेणत्यादिशास्त्रैर्बोध्यत इति तत्सापेक्षत्वमत्र बोध्यम्। तद्वदिहापि किं न स्यादिति। यथा पशुना यजेतेति वाक्यस्य व्याकरणसापेक्षत्वेऽपि विधित्वं न हीयते, एवं सर्वाननशिरोग्रीव इति वाक्यस्य सर्वलिङ्गैः स्थापयतीति वाक्यसापेक्षत्वेऽपि विधित्वं कस्मान्न भविष्यतीत्यर्थः। पशुना यजेतेति वाक्यव्याकरण-

वैसे ही "सर्वाननशिरोग्रीवः" इस वाक्य के "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य का सापेक्ष होने पर भी विधिवाक्यता क्यों नहीं स्वीकार की जा सकती ? ऐसा आक्षेप हो जाता है। यह आक्षेप विचार की दृष्टि से उचित नहीं है, क्योंकि व्याकरण आदि शास्त्र केवल शक्तिग्रह में ही उपयुक्त होते हैं। इसलिए "पशुना यजेत" इस प्रकृत वाक्यार्थ-बोध के लिए उपयुक्त वृत्तिज्ञानाधीनपदजन्योपस्थिति आदि से विशिष्ट कारण सामग्री के रहने से तात्पर्यविषयीभूत ज्ञान हो जाता है। अतः वहाँ किसी अन्य वाक्य की अपेक्षा नहीं रहती। इस "सर्वाननशिरोग्रीवः" वाक्य से तो लिंगधारण के बोधक पदजन्योपस्थिति से विशिष्ट, कारणसमुदाय के होने पर भी लिंगधारण करने के स्थान (आधेय) को बताने के निमित्त इससे भिन्न "सर्वानन" वाक्य की अपेक्षा है। इस तरह से पशुविधि की व्याकरण आदि सापेक्षता के होने पर भी उसकी व्याकरण आदि के साथ एकवाक्यता नहीं रहती। "सर्वाननशिरोग्रीवः" के प्रसंग में तो 'सर्वलिंग' वाक्य और 'सर्वानन' वाक्य की एकवाक्यता अवश्य माननी पड़ेगी। इसमें लिंगोपासनानुष्ठान की उपयोगिता

व्याकरणादीनां शक्तिग्रहमात्रोपयोगित्वेन तथात्वेऽप्यत्र याव-द्वाक्यार्थविचारं विना लिङ्गधारणाप्राप्तेस्तत्काल एव सर्व-लिङ्गवाक्यस्य विधायकत्वासिद्धेः। किञ्चात्र—"सर्वव्यापी च

सूत्रयोरेकवाक्यत्वाभाववत् सर्वाननसर्वलिङ्गवाक्ययोरेकवाक्यत्वाभावात् स्वैकवाक्यतानापन्नवाक्यप्रापितमात्रप्रापकत्वेनापूर्वविधित्वं न संभवतीति तात्पर्य्यम्।

शक्तिग्रहमात्रोपयोगित्वेनेति। वाक्यार्थविचारं विनेति। अयं भावः—पशुना यजेतेत्यत्र प्रकृतवाक्यार्थबोधोपयोगिवृत्तिज्ञानाधीनपदजन्योपस्थित्यादि-घटितकारणकलापसद्भावे स्वजन्यत्वेन तात्पर्यविषयीभूतबोधे जननीये वाक्यान्तरस्य कस्याप्यपेक्षा नास्ति। सर्वाननशिरोग्रीव इत्यनेन तु स्वघटक-पदजन्योपस्थित्यादिघटितकारणसमुदायसत्त्वेऽप्याधेयांशबोधाय सर्वलिङ्ग-वाक्यस्यापेक्षाऽस्त्येवेति। ततश्च व्याकरणेन पशुविधेः पदैकवाक्यता नास्ति। इह त्वनुष्ठानोपयोगिबोधे उभयोरेकवाक्यताया आवश्यकत्वेन स्वैकवाक्यता-नापन्नाप्रापितप्रापकत्वेनापूर्वविधित्वे न किञ्चिद् बाधकमित्याह—विधाय-कत्वासिद्धेरिति। सर्वाननेत्येकवाक्यतानापन्नस्य सर्वलिङ्गवाक्यस्येत्यर्थः।

होने से एकवाक्यतानापन्न से प्राप्त प्रापकत्व रूप अपूर्व विधि है, ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं हो सकती। इस प्रकार इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता स्वीकार करने में 'सर्वानन' वाक्य विधिविषयक ही नहीं हो सकता है। इसलिए 'सर्वानन' और 'सर्वलिंग' इन दोनों वाक्यों की अलग अलग विधिविषयकता के होने पर भी ये दोनों मिलकर एकवाक्यता को प्राप्त होकर विधिविषयक होते हैं, ऐसा मानना उचित होगा।

इसके अतिरिक्त इसी मन्त्र के आगे "सर्वव्यापी च भगवान्" इस प्रकार से लिंग की स्तुति करने से इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता के आधार पर उस वाक्य के एक-एक भाग को लेकर दूसरे भाग में अन्यथासिद्धि नामक दोष को बताने का कोई अवकाश नहीं है। लेकिन "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य के आगे "पाणिमन्त्रं पवित्रम्" जैसा वाक्य है। "मन्त्रोऽस्यास्तीति मन्त्रम्" इस प्रकार मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर मन्त्र शब्द का लिंग अर्थ होता है। "पाणौ मन्त्रं पाणिमन्त्रम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर हाथ में रखकर पूजा जाने वाला लिंग, ऐसा अर्थ हो जाता है। इस वाक्य में 'पाणिमन्त्रं' यह पद "सर्व-लिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य का विशेषण हो जाता है। इस प्रकार के विशेषण से

भगवान्" (श्वे. उ. ३।११) इति लिङ्गस्तुतिसमर्पणेनार्थवादत्व-निश्चये सत्यनेन तदन्यथासिद्धचयोगाच्च ।

यच्चोक्तं पाणिमन्त्रमिति विशेषणप्रतिपाद्यार्थान्यथानुपपत्त्या तस्य प्राप्तत्वेन विध्यसम्भव इति, तन्न, अस्यापि

पृथग्भूतस्य विधायकत्वासिद्धौ मिलितस्यैव विधायकत्वमित्यर्थात् सिद्धम् । ततश्चोभयोरेकवाक्यघटकत्वान्नैकभागेनापरभागस्यान्यथासिद्धिसम्भव इत्याशयः ।

पाणिमन्त्रमिति । मा भूत् सर्वाननेत्यनेन प्राप्तिः, पाणिमन्त्रमित्यनेन तु प्राप्तिरस्त्येवेति पुनरपि विधित्वानुपपत्तिस्तदवस्थेत्याशयः । कथं पाणिमन्त्रमित्यस्य विधेयताप्रयोजकलिङाद्यघटितस्य विधायकत्वमित्याशङ्कायामाह—अन्यथानुपपत्त्येति । पाणिमन्त्रमित्यत्र मन्त्रपदेन लिङ्गमुच्यते, मन्त्रोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयाच्प्रत्ययस्वीकारात्, पाणौ मन्त्रमिति व्युत्पत्त्या च पाणिस्थं लिङ्गं पाणिमन्त्रपदेनोक्तं भवति । पाणिस्थत्वं च लिङ्गस्य धारणं विना

हाथ में रहनेवाला लिंग, ऐसा अर्थ सिद्ध हो जाता है । देह में लिंग को धारण किये बिना लिंग का पाणि(हस्त)स्थत्व सम्भव नहीं है । इसलिए 'अर्थापत्ति' प्रमाण से लिंगधारण की कल्पना कर लेते हैं, तो "सर्वलिङ्गं स्थापयति पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस मन्त्र से ही लिंगधारण की विधिरूपता के सिद्ध हो जाने पर और "सर्वाननशिरोग्रीवः" इस वाक्य की भिन्नप्रमाणता के सिद्ध हो जाने से प्रमाणान्तरों से भी लिंगधारण की प्राप्ति हो जाने से अप्राप्तत्वरूप विधि का लक्षण ही यहाँ नहीं घटता । अतः फिर जैसा का तैसा आक्षेप बना रह जाता है ।

समाधान—'पाणिमन्त्रम्' यह विशेषण 'सर्वलिङ्गं' इस वाक्य में सामान्य रूप से धारणविधान की प्रक्रिया में अधिकरण (आश्रय) को दिखलाता है, न कि कण्ठ आदि स्थानों को । जब लिंग का सान्निध्य ही नहीं रह पाता, तो पाण्याश्रयत्व की सम्भावना कैसे हो सकती है । इसलिए 'पाणिमन्त्रम्' यह वाक्य साधारण लिंग के सान्निध्य को बताता है, न कि विशेष रूप से शिर, कण्ठ आदि स्थानों को । इसलिए "सर्वाननशिरोग्रीवः" यह वाक्य ही भक्तों के शिर, हाथ आदि विशेष स्थानों को बताने वाला है । अतः यह उपजीवक वाक्य है और 'सर्वलिङ्ग' वाक्य उपजीव्य है । ऐसा मान लेने पर अपूर्वविधि का बाध नहीं होता ।

सर्वलिङ्गवाक्येन सामान्यतो धारणविधावधिकरणविशेषसमर्पकत्वेन तदुपजीवकेन तदन्यथासिद्ध्ययोगादिति। पाणिमन्त्रमित्यस्य धार्यत्वेन मन्त्रोऽस्यास्तीति मन्त्रमिति मत्वर्थीयाच्प्रत्यये कृते मन्त्रं लिङ्गम्, पाणौ मन्त्रं पाणिमन्त्रमित्यर्थः। "तस्माद्धार्यं महालिङ्गं पाणिमन्त्रेति मन्त्रतः" इति लिङ्गपुराणोक्तेः।

नोपपद्यत इत्यर्थापत्तिप्रमाणेन धारणं कल्प्यत इति प्रश्नकर्तुराशयः। अधिकरणविशेषसमर्पकत्वेनेति। तथा च सर्वाननवाक्यवत् पाणिमन्त्रमिति विशेषणमपि पाणिरूपविशेषाधिकरणसमर्पकत्वेन सर्वलिङ्गवाक्यस्याङ्गमेव जातमिति न तेन सर्वलिङ्गवाक्यस्य वैयर्थ्यमिति भावः। तदुपजीवकेनेति। तस्य सर्वलिङ्गवाक्यस्य उपजीवकेन अङ्गभूतेन पाणिमन्त्रमिति विशेषणेन तस्य सर्वलिङ्गवाक्यस्य अन्यथासिद्धेर्वैयर्थ्यस्य अयोगादसम्भवादित्यर्थः। यद्यपि सामान्येन विशेषांश एवोपजीव्यत इति पाणिमन्त्रमिति विशेषणस्योपजीवकत्वकथनमनुचितम्, तथापि फलवत्सन्निधावफलमङ्गमिति न्यायेन पाणिमन्त्रमिति विशेषणस्याङ्गत्वे सिद्धे अङ्गेन च स्वसार्थक्यायाऽङ्गिन उपजीवनादियमुपजीवकत्वोक्तिर्द्रष्टव्या। प्रष्टुः सन्तोषाय पूर्वपक्षमभ्युपगम्येदं समाधानं बोध्यम्। वस्तुतस्तु लिङ्गनिष्ठपाणिस्थत्वस्य लिङ्गसान्निध्यं

गुरु शिष्य के अंग को शिवदीक्षा संस्कार से शुद्ध करके "निधनपतये नमः। सर्वलिङ्गं स्थापयति। पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिवलिंग को हाथ, कण्ठ और शिर आदि किसी अंग (स्थान) पर धारण करना चाहिए, ऐसा साफ साफ बता देता है। इस प्रकार 'सर्वलिंग' वाक्य में अपूर्वविधि को बतला कर अब "पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस वाक्य में नियम विधि को सिद्ध करते हैं। पूर्वमीमांसा शास्त्र में "अग्निहोत्र नामक याग से स्वर्ग की भावना करे" इस वाक्य का जो स्वर्ग को चाहता है, वह अग्निहोत्र नामक याग को करे, यह अर्थ सिद्ध होने पर भी इस याग को कहाँ करना है ? इस प्रकार एक अधिकरण विशेष की अपेक्षा रहती है। इसलिए 'आहवनीय' अग्नि में उस याग को करना है अथवा अन्य किसी अधिकरण में करना है, ऐसा विकल्प उत्पन्न हो जाता है। "आहवनीये जुहोति" इस विशेष वाक्य से आहवनीय नामक अग्नि में ही स्वर्ग को चाहने वाले को अग्निहोत्र करना है, न कि अन्य अग्नि में, इस प्रकार जैसे नियम को स्वीकार किया गया है, वैसे ही "शिव भक्त शिवलिंग को धारण करें" इस वाक्य का 'स्थापयति' पद सामान्य रूप से लिंगधारण का विधान करता है।

अत्र च "अग्निहोत्रं जुहोति" (तै. सं. १।५।९।१) इति वाक्यविहितनिरधिकरणाग्निहोत्रनामकहोमस्याधिकरणसमर्प-

---

विनाऽनुपपन्नत्वेन सान्निध्यस्य च गृहभृत्यादिहस्तस्थितेनापि लिङ्गेनो-पपन्नत्वेन तत्साधारणसान्निध्यमात्रस्य कल्पयितुं शक्यत्वेऽपि धारणस्य विशेषरूपेण कल्पयितुमशक्यत्वात् पूर्वपक्ष एवायं नोत्तिष्ठतीति बोध्यम्। अच्प्रत्ययेन मन्त्रोऽस्यास्तीत्येतावन्मात्रं लभ्यते। धार्यत्वेनेति विशेषांशः कुतो लभ्यत इत्यत्र लिङ्गपुराणं प्रमाणमुपन्यस्यति—"तस्माद्धार्यं महालिङ्गं पाणिमन्त्रेति मन्त्रतः" इति।

सर्वलिङ्गं स्थापयतीति वाक्यस्यापूर्वविधित्वं संस्थाप्य पाणिमन्त्रं पवित्रमित्यंशस्य नियमविधित्वं स्थापयति—अत्र चेत्यादिना। अत्र च पाणिमन्त्रमित्यंश इत्यर्थः। "अग्निहोत्रं जुहोति" (तै० सं० १।५।९।१)

लेकिन किस स्थान पर धारण करे, इसका स्पष्टीकरण न होने से विशेष अधिकरण की अपेक्षा बनी रहती है। लिंगपूजा के लिए दारु (लकड़ी) आदि का पीठ जैसे अधिकरण होता है, वैसे ही हाथ भी एक अधिकरण हो सकता है। इस स्थिति में उस शिवलिंग को दारु आदि के पीठ के ऊपर रखकर पूजा करनी है अथवा हाथ में रखकर, इस प्रकार के दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। 'सर्वलिङ्गम्' इस वाक्य के समीप में "पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस वाक्य के होने से शिवलिंग को पाणि (हाथ) नामक अधिकरण विशेष में ही रखकर पूजा करनी है, न कि किसी अन्य अधिकरण में, इस प्रकार के निर्णय से नियमविधि से भी लिंगधारण की सिद्धि हो जाती है।

शंका—"अग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य के समीप में "आहवनीये जुहोति" इस प्रकार का सप्तम्यन्त पद होने से उस अग्निहोत्र याग की अधिकरणता का निश्चय हो जाता है, 'पाणिमन्त्रं' इस वाक्य में तो सप्तम्यन्त पद है नहीं, तब करपीठ में पूजा करनी है, ऐसा नियम कैसे बनाया जा सकता है?

समाधान—'पाणिमन्त्रं' इस स्थान पर—"मन्त्रोऽस्यास्तीति मन्त्रं लिङ्गम्, पाणौ मन्त्रं पाणिमन्त्रम्" इस प्रकार विग्रह करने से समासविधि से सप्तमी विभक्ति का लोप हो गया है। अर्थात् पाणि (हाथ) में रखकर पूजा करनी चाहिए, इस प्रकार के अधिकरण पद के स्पष्टतया दीखने के कारण उस प्रकार के आक्षेप का अवसर ही नहीं मिलता और 'पाणिमन्त्रं' इस पद से आगे पवित्र शब्द होने से पवित्र काल व अपवित्र काल हो तो भी शिवलिंग को धारण करे, ऐसा कहने से निरन्तर पवित्रता की भी सिद्धि हो जाती है।

काह्वनीये जुहोतीति वाक्यस्थल इव सर्वलिङ्गवाक्यविहितलिङ्ग पीठाद्यधिकरणस्येव पाण्यादेः पक्षतः प्राप्तौ पाण्यादिकमेवेति नियमो विधीयत इति । न चाह्वनीयवाक्येऽधिकरणताबोधक-सप्तमीविभक्तिसत्त्वेन तथात्वेऽप्यत्र तदभावात् कथमधिकरण-विधित्वमिति वाच्यम्, लुप्तसप्तमीस्मरणेनात्राप्यधिकरणत्व-प्रतीतेः । पवित्रशब्देन "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्" इत्यत्रेवा-शुचिकालधारणप्रयुक्ताऽपावित्र्यनिरसनद्वारा पावित्र्यं विधीयते।

इत्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य नामधेयतयाऽग्निहोत्राभिन्नहोमेन स्वर्गं भावयेदित्यर्थ-कत्वेन निरधिकरणकहोमविधावधिकरणविशेषापेक्षायां सामान्यरूपे-णाह्वनीयस्यापि पक्षे प्राप्तत्वात् "आह्वनीये जुहोति" इति वाक्येनाह्वनीय-मात्राधिकरणकत्वेनाग्निहोत्रहोमो नियम्यते, एवं सर्वलिङ्गं स्थापयती-त्यनेनापि निरधिकरणकस्थापनैव प्रथमं विधीयते। अधिकरणविशेषा-पेक्षायां पीठाद्यधिकरणवत् पाण्यादेरपि पक्षतः प्राप्तौ पाणिमन्त्रमिति वाक्येन पाण्यधिकरणकमेव लिङ्गपूजनं कर्तव्यमिति नियमो विधीयत इति भावः।

शंका—'पाणिमन्त्रं' यह पद पाण्यधिकरणत्व को और 'पवित्रं' यह पद शुचि व अशुचि दोनों काल में लिंगधारण की पवित्रता को बताता है, अतः एक वाक्य में अनेक विधान हो जाने से वाक्यभेद नामक दोष हो जाता है।

समाधान—मीमांसाशास्त्र—"आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाम्" इस वाक्य में पुरोडाश को उद्देश्य बनाकर अग्निदेवताकत्व और अष्टकपालसंस्कृतत्व का विधान करने से वाक्यभेद का आक्षेप होने पर "प्राप्ते कर्मणि" इस न्याय से अग्निदेवताकत्व विशिष्ट अष्टकपालसंस्कृतत्व विशिष्ट पुरोडाशकरणक अमावास्या-कालिक याग का विधान किया जाता है। इस तरह से एक ही वाक्य होने से वाक्यभेद नामक दोष का परिहार हो जाता है, उसी तरह से "पाणिमन्त्रं पवित्रं" यहाँ भी पाण्यधिकरणकत्वविशिष्ट पवित्रत्वविशिष्ट लिङ्गपूजा का विधान होने से वाक्यभेद नामक दोष नहीं होता, ऐसा समझ लेना चाहिए।

शंका—किसी प्रकार से वाक्यभेद दोष का परिहार कर लेने पर भी "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य में 'स्थापयति' पद होने से रंगौली से अलंकृत भूमि में चावल से भरे हुए ताम्बे के बरतन रूपी पीठ पर लिंग को रखना चाहिए,

न चानेकविधाने वाक्यभेद इति वाच्यम्, "आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाम्" (तै० सं० २।६।३।३) इत्यत्रैव "अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः" (त० वा० २।२।६) इति न्यायेनानेकविधाने दोषाभावादिति ।

नन्वेवमपि सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यनेन भूम्यामेव लिङ्गस्थापनं विधीयते, स्थापयतीति पदस्वारस्येन सकलजनाचार-

---

न चानेकविधान इति । पूज्यमानलिङ्गे पाण्यधिकरणकत्वस्य पावित्र्यस्य चोभयोर्विधावित्यर्थः । आग्नेयोऽष्टाकपाल इति । पुरोडाशमुद्दिश्याग्निदेवताकत्वस्याष्टकपालसंस्कृतत्वस्य च विधानेऽवश्यं वाक्यभेदः स्यात् । अग्निदेवताकत्वाष्टकपालसंस्कृतत्वविशिष्टपुरोडाशकरणकामावास्यायागविधाने तु यथा वाक्यभेदो न मन्यते, एवमेवेहापि पाण्यधिकरणकत्वविशिष्टपवित्रत्वविशिष्टलिङ्गपूजनविधौ नास्ति वाक्यभेदः । तदुक्तम्—"प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः । अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ॥" (त० वा० २।२।६) इति ।

नन्वेवमपीति । वाक्यभेदशङ्कायाः परिहारेऽपीत्यर्थः । भूम्यामेवेति । भूमिष्ठताम्रपात्रादिरूपे पीठ इत्यर्थः । स्थापयतीति पदस्वारस्येनेति । "राज-

ऐसा अर्थ दीखता है और "पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस आगे के वाक्य से हाथ से स्पर्श करके मन्त्र का उच्चारण करते हुए वर्ण, पद, मन्त्र आदि षडध्वशोधन से संस्कार करने योग्य है व संस्कार करना चाहिए, ऐसा अर्थ होता है। आगे 'पवित्रं' इस शब्द से आगम की उक्ति के अनुसार भूमि के ऊपर संस्कार करने से लिंग परिशुद्ध हो जाता है, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है। यह सम्प्रदाय शैवागम के अनुसार लोक में प्रसिद्ध है, अतः इस प्रकार के अर्थ को छोड़कर देह में लिंग को धारण करना चाहिए, हाथ पर निरन्तर पूजा करनी चाहिए तथा शुचि और अशुचि अवस्था में भी शिवलिङ्ग को देह पर धारण करना चाहिए, इस प्रकार के अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना क्यों की जाय ?

समाधान—"सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य में आया हुआ स्थापयति पद भूमि में भी लिंग की प्रतिष्ठा कर सकते हैं अथवा भक्तों के देह में भी, इस प्रकार के उभयसाधारण अर्थ को बता रहा है। भूमि में ही प्रतिष्ठा करनी है, ऐसा नहीं बता रहा है। मान लीजिए 'स्थापयति' यह पद भूमि में ही स्थापना को बता रहा है, किन्तु ऐसा कहने पर संकोचरहित श्रुति के अभिप्राय को संकुचित

विषयत्वेन च तस्यैवावश्यकत्वात् । तथा च सति पाणिमन्त्रं पवित्रमिति विशेषणमपि पाणिनाऽभिमन्त्रितं षडध्वशोधनादिना संस्कृतम्, अत एव पवित्रमित्यर्थकं सत् सार्थकं भवतीति चेत्, अत्र वदन्ति—स्थापयतीत्यस्य भूमिशरीरसाधारण्येनैव लिङ्गस्थापनविधायकत्वमित्यवसीयते, श्रुतेः संकोचासहिष्णुत्वाद् विनिगमकाभावाच्च । किञ्च, ''सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्'' (मी० १।४।२९) इति न्यायेन पाणिमन्त्रमिति वाक्यशेष-

---

वंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः'', ''कलशं स्थापयति'' इत्यादौ तथैव प्रतीतेरिति भावः । पाणिनाऽभिमन्त्रितमिति । पाणिस्पर्शपूर्वकमन्त्रपाठेन कृतसंस्कारमित्यर्थः । षडध्वशोधनेति । षड्न्यासात्मका अध्वानः शैवागमप्रसिद्धा वीरशैवदीक्षाविधिपुस्तके द्रष्टव्या विस्तरभयान्नेह लिख्यन्ते । तैः शोधनं मन्त्रैर्देवाश्रयत्वकरणं तेन संस्कृतम् । आदिपदेन पूजनादिर्ग्राह्यः । संकोचासहिष्णुत्वादिति । ततश्च भूम्यामेवेति न सिद्ध्यतीति भावः । तावतापि पाण्यधिकरणकपूजामात्रविषयकत्वं न लभ्यमित्याशङ्कायामाह—किञ्चेति । संदिग्धे तु वाक्यशेषादिति । ''अक्ताः शर्करा उपदधाति'' (तै० ब्रा०३।१२।५।१२) इत्यत्र घृतेन तैलेन वा अक्ता इति सन्देहे ''तेजो वै घृतम्'' (तै० ब्रा० ३।१२।५।१२) इति वाक्यशेषे घृतस्तुतिदर्शनेन घृतेनाक्ता इति निर्णयः सिद्ध्यति । एवमिहापि सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यनेन स्थापनार्हाधिकरणमात्रसाधारण्येन स्थापनविधौ भूमावन्यत्र वेत्यधिकरणविशेषजिज्ञासायां पाणिमन्त्रं पवित्रमिति वाक्यशेषात् पाणावेव लिङ्गस्थापनं प्राप्नोति ।

करना पड़ेगा और इस अर्थ में इस प्रकार का विनिगमक तो नहीं दीख रहा है । इसलिए 'स्थापयति' पद का लिङ्ग को भक्तों के शरीर पर स्थापित करना चाहिये, ऐसा अर्थ करने पर कोई अवरोध नहीं दीखता । इस प्रकार मान लेने पर शिवलिंग की भूमि पर स्थापना करनी है अथवा देह पर, ऐसा सन्देह होने पर ''सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्'' इस मीमांसा न्याय से परिहार कर लेना चाहिए । ''अक्ताः शर्करा उपदधाति'' इस वाक्य में 'अक्ताः' इस पद से चीनी को घी में भिगोना है अथवा तेल में भिगोना है ? ऐसा सन्देह उत्पन्न होने पर इस वाक्य से आगे ''तेजो वै घृतम्'' इस वाक्यशेष से घी में ही भिगोना है और तेल में नहीं, ऐसा निर्णय किया गया है; वैसा ही ''सर्वलिङ्गं स्थापयति'' इस

बलाच्छरीर एव लिङ्गस्थापनविधायकत्वं सिद्धयति पुराणादौ, मान्य इत्यत्र पूजार्थकत्वेन प्रसिद्धधातुनिष्पन्नस्य मननशब्दस्य पूजार्थकत्वे मननात् पूजनात् त्रायत इति मन्त्रम्, पाणौ मन्त्रं पाणिमन्त्रमिति सिद्धे पाण्यधिकरणकपूजायाः स्थावरेऽप्रसक्त्या शरीरधृतलिङ्गपरत्वावसायात् ।

न च पाणिना मननात् त्रायत इति तृतीयासमासाश्रयणेन स्थावरेऽपि न विरोध इति वाच्यम्, तथा सति सापेक्षसमासा-

---

पाणिमन्त्रमिति शब्दस्य षडध्वशोधनादिसंस्कृतार्थकत्वं शक्त्यभावेन न सिद्धयति । पाणौ पूजनेन त्राणकर्म इत्यर्थस्य गुरुर्मान्य इत्यादौ पूजार्थकत्वेन मन्धातोः प्रसिद्धतयाऽनायासलभ्यत्वमस्तीत्याह—पुराणादाविति । ततश्च पाणिमन्त्रमिति शब्दात् पूजने पाण्यधिकरणकत्ववैशिष्ट्यलाभवत् पाण्यधिकरणकत्वस्य च पूजायाः स्थावरलिङ्गे बाधितत्वेन शरीरधृतलिङ्गविषयकत्वं निश्चीयत इत्याशयः । इदमत्र बोध्यम्—पाण्यधिकरणकत्वविशेषणस्य स्थावरलिङ्गे बाधाच्छरीरधृतलिङ्गमात्रविषयकत्वं यद्यपि सिद्धयति, तथापि नित्यलिङ्गधारणायाः प्रमाणान्तरेण साधनीयतयेह पाण्यधिकरणपूजनमात्रं साधयतीति न दोषः ।

पुनरपि पाण्यधिकरणकत्वमाक्षिपति—न च पाणिनेत्यादिना । पाणिना पाणिधृतविल्वपत्रादिना मननात् पूजनात् त्रायत इत्येवं तृतीयान्तसमासाश्रयणेन स्थावरलिङ्गेऽपि सा पूजा बाधिता न भवतीति कथं तल्लाभ

वाक्य के समीप में आये हुए "पाणिमन्त्रम्" इस वाक्यशेष से लिंग को देह पर ही धारण करना है, न कि भूमि पर, ऐसा निर्णय कर लेना चाहिए । इसके अतिरिक्त "मननात् पूजनात् त्रायत इति मन्त्रम्, पाणौ मन्त्रं पाणिमन्त्रम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर पाणिपीठ पर रखकर पूजा करने का विधान भूमि पर प्रतिष्ठित स्थावर लिंग में सम्भव नहीं हो सकता, अतः यह सर्वलिंग वाक्य देह में इष्टलिंग धारण विषयक है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए ।

शङ्का—यहाँ पर सप्तमी तत्पुरुष समास को छोड़ कर "पाणिना मननात् त्रायत इति पाणिमन्त्रम्" इस प्रकार तृतीया समास का आश्रय लेकर हाथ में बेल की पत्ती व फूलों को लेकर लिंग की पूजा करते हुए रक्षा करनी चाहिए,

श्रयणेन समर्थपरिभाषाभङ्गापत्तेः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् तथाङ्गीक्रियत इति चेन्न, पाणिपदवैयर्थ्यात्।

इत्याशयः। परिहरति—तथा सतीत्यादिना। ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इति विग्रहे राजन् ङस् पुरुष सु इत्यनयोः समासवारणाय सापेक्षमसमर्थवदिति वार्त्तिकेन सापेक्षेऽसामर्थ्यं बोध्यत इति समर्थः पदविधिरिति परिभाषाबलात् सामर्थ्य-मात्रविषयकत्वात् समासविधायकं शास्त्रं तत्र न प्रवर्तते, एवमेव पाणिना मननात् त्रायत इति विग्रहेऽपि मननशब्दार्थस्य पाण्यंशे सापेक्षतयाऽ-सामर्थ्यात् सुप्सुपेति समासो न भवेदित्याशयः। गमकत्वादिति। देवदत्तस्य गुरुकुलम्, चैत्रस्य दासभार्येत्यादौ गुर्वादिपदार्थस्य देवदत्ताद्यंशे सापेक्षत्वेऽपि विग्रहबोध्यार्थबोधनक्षमत्वात् समासः स्वीक्रियते। यथोक्तं भर्तृहरिणा—'सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते। वाक्यवत् सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते॥" (वा० प० ३।१४।४७) इति। अथवा नित्यसापेक्ष-स्थले पूर्वपदार्थघटितसम्बन्धेन समुदायार्थेन सहैव देवदत्तादिपदार्थस्यान्वयः प्रथमं विवक्षितः। अवयवार्थान्वयबोधस्तु फलतः सिद्धयति। अयं प्रकारोऽप्युक्तस्तेनैव यथा—"समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना। संस्पृश्यावयवांस्ते तु युज्यन्ते तद्वता सह॥" (वा० प० ३।१४।४८) इति। एवमिहापि मननस्य क्रियारूपतया कारकांशे नित्यसापेक्षत्वान्निष्प्रत्यूहः समासो भविष्यतीत्याशङ्क्य निराकरोति—नेति। पाणिपदवैयर्थ्यादिति।

ऐसा अर्थ सम्भव है। इसलिए यह वाक्य भूमि में प्रतिष्ठित शिवलिंगविषयक है, ऐसा हम कहते हैं।

परिहार—इस प्रकार तृतीया समास का आश्रय लेने पर "समर्थः पदविधिः" इस परिभाषा का अनादर हो जायेगा। जैसे "ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः" ऐसा विग्रह करने पर राजन्+ङस्+पुरुष+सु यहाँ पर समास के निवारण के निमित्त "सापेक्षमसमर्थवत्" इस वार्त्तिक से अपेक्षा की आवश्यकता होने पर असामर्थ्य का बोध हो जाने से समासविधायक शास्त्र यहाँ पर प्रवृत्त नहीं होगा, वैसे ही "पाणिना मननात् त्रायते" इस प्रकार विग्रह करने पर मननशब्दार्थ पाण्यंश में अन्य की अपेक्षा करने से असामर्थ्य का ज्ञापन हो जाने से "सुप्सुपेति" इस सूत्र के अनुसार समास नहीं करना चाहिए, ऐसा निर्णय हो जायेगा। लेकिन "देवदत्तस्य गुरुकुलम्", "चैत्रस्य दासभार्या" इत्यादि स्थानों पर गुरुपदार्थ देवदत्तांश की, दासपदार्थ चैत्र पद की अपेक्षा रखने पर भी समास को जैसे स्वीकार कर लिया गया है, वैसे ही मननक्रियारूप होने के कारण कारकांश की नित्य अपेक्षा होने से

न च मननात् त्रायत इत्युक्ते मानसादीनामपि करणत्वेन प्रसक्त्या तद्व्यवच्छेदार्थं पाणिपदमिति वाच्यम्, "शिवपूजादिकं कार्यं मनोवाक्कायकर्मभिः" इत्यभियुक्तोक्त्या तेषामपि करणत्वप्राप्तेः। किञ्च, तृतीयासमासाश्रयणे एकदेशान्वयापत्तिः। न च सप्तमीतत्पुरुषाश्रयणेऽप्येष दोष इति वाच्यम्, पाणिपदस्य विशिष्टेनैवान्वयस्वीकारादिति।

सप्तम्यन्तत्वेऽधिकरणलाभार्थं तच्चरितार्थमिति भावः। न च तृतीयान्तत्वेऽपि करणलाभाय तदस्त्विति वाच्यम्, "देवान् यजेत" इत्यादाविव पूजामात्र-विधानेऽपि हस्तादेः करणत्वस्यौचित्येनैव लाभादिति।

तद्व्यवच्छेदार्थमिति। मानसादीनां व्यवच्छेदार्थमित्यर्थः। कर्ममात्रे मनःसमवधानस्यावश्यकतया पाणिनैवेति नियमेन तद्व्यवच्छेदेऽपसिद्धान्तापत्तिरित्याह—शिवपूजादिकं कार्यं मनोवाक्कायकर्मभिरिति। विशिष्टेनैवेति। न च तृतीयातत्पुरुषेऽप्येतत्समाधानं सुलभमिति वाच्यम्, उपासकपाणिनिष्ठकरणतानिरूपकत्वस्य परमेश्वरकर्तृकत्राणक्रियायां बाधेन तृतीयासमास के लिए कोई अवरोध नहीं है, ऐसी आशङ्का हो जाने पर पाणि पद के ही व्यर्थ हो जाने की सम्भावना से "पाणिमन्त्रम्" यहाँ पर पाणिपद का सप्तम्यन्त विग्रह करने से अधिकरण का लाभ हो जाने से वाक्य चरितार्थ हो जाता है। "देवान् यजेत" यहाँ पर केवल पूजा का विधान होने पर भी हस्त आदि का करणत्व अपने आप जैसे सिद्ध हो जाता है, वैसे ही तृतीया समास के न करने पर भी हाथ के लिए अपने आप करणत्व का लाभ हो जाता है। इसलिए "पाणिमन्त्रम्" यहाँ पर सप्तमी समास को लेकर देह में लिंगधारण का विधान किया गया है, ऐसा कहना ही उचित है।

शङ्का—"पाणिमन्त्रम्" यहाँ पर "मननात् त्रायते" इस प्रकार का विग्रह करने पर पाणि जैसे करण है, वैसे ही मन और वाक् की भी करणता तो सिद्ध हो जायेगी, लेकिन यहाँ पर मन और वाक् के लिए करणत्व की सिद्धि न करके केवल पाणि में करणत्व की सिद्धि के लिए 'पाणि' पद आया है। इसलिए "पाणिना मन्त्रम्" इस प्रकार तृतीया समास का आश्रय लेना ही उत्तम क्यों नहीं है?

समाधान—लिंगपूजा आदि कर्म मन और वाक् आदि से करना चाहिए, ऐसा नियम होने से मन का सम्बन्ध सभी कर्मों के साथ अवश्य ही रहता है। मन का अवधान न होने पर कर्म फलप्रद नहीं हो पाता। इसलिए 'पाणिना' इस प्रकार

यच्चोक्तं पाणिनाऽभिमन्त्रितमिति। तन्न, पुराणप्रसिद्ध-पूजावाचकस्याभिमन्त्रितार्थकत्वे गौणार्थस्वीकारापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, ईक्षत्यधिकरणविरोधात्। तत्र–"तत्तेज ऐक्षत।

तत्पुरुषे विशिष्टान्वयस्य बाधितत्वात्। उपासकपाण्यधिकरणकत्वं तु उपासकपाणौ पूज्यमानेश्वरकर्तृकत्राणक्रियायामपि सम्भवत्येवेति सप्तमी-तत्पुरुषे विशिष्टान्वयस्य वक्तुं शक्यत्वात्।

तृतीया समास करके पाणि से ही लिंग की पूजा करनी चाहिए, ऐसा नियम नहीं करना चाहिए। ऐसा मान लेने पर मन आदि में अतिव्याप्ति दोष हो जाने की संभावना है। उस दोष को दूर करने के लिए पाणि पद है, ऐसा कहना चाहे तो इस प्रकार का कथन सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ेगा और 'एकदेशान्वय' नामक दोष भी प्राप्त हो जायगा। तब तो "पाणौ मन्त्रं पाणिमन्त्रम्" इस प्रकार सप्तमी तत्पुरुष समास करने पर भी वही दोष आ जाने की आशङ्का होने पर पाणि पद का अर्थ अपने सिद्धान्त में उपासक के हाथ में पूजा किये जाने पर शिवलिंगकर्तृक त्राण क्रिया में उपासक की पाण्यधिकरणता के होने से विशिष्टान्वय हो जाता है। तृतीया समास करने पर उस प्रकार के शिवलिंगकर्तृक त्राण क्रिया में उपासक की पाणिनिष्ठ करणतानिरूपकता का बाध होने से उस प्रकार की विशिष्टान्वयता का मौका नहीं मिलता। इसके ऊपर "पाणिना अभिमन्त्रितम्" ऐसा समास करके भूमि पर प्रतिष्ठित शिवलिंग को पाणि (हाथ) से अभिमन्त्रित करना है, ऐसा अर्थ करने पर मुख्यार्थ को छोड़ कर गौणार्थ को स्वीकार करने का दोष आवेगा। जहाँ मुख्यार्थ से ही निर्वाह हो जाता है, वहाँ गौणार्थ स्वीकार कर लेना दोषावह है, ऐसा शास्त्रकारों का अभिमत है। इतना ही नहीं, वेदान्तशास्त्र के मूलभूत ब्रह्मसूत्र के भाष्य में चर्चित "ईक्ष्यत्यधिकरण" का भी विरोध हो जायेगा। जैसा कि— "ईक्षतेर्नाशब्दम्" यहाँ "ईक्षतेः न अशब्दम्" ऐसा पदविभाग है। अशब्दं = आनुमानिक प्रधान, ईक्षतेः = ईक्षणवत्त्वरूप हेतु से, न = जगत् का कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार अवयवों का अर्थ वहाँ बताया गया है। छान्दोग्य में "सत्पदवाच्य वस्तु ही चराचरात्मक इस सृष्टि के पूर्व में थी। उसने अपने आप अनेक रूपों में अभिव्यक्त होने का संकल्प किया" ऐसा सामान्य अर्थ दीखता है। लेकिन इस प्रपंच की उत्पत्ति की कारणस्वरूप यह सत्पदवाच्य वस्तु सत्त्वरजस्तमो-रूप प्रधान है अथवा चेतनस्वरूप ब्रह्म है? इस प्रकार का संशय हो जाता है।

ता आप ऐक्षन्त'' इत्यादिगौणार्थस्वीकारेण प्रायःपाठानुरोधाद् गौणेक्षितृत्वमादाय प्रधानपरत्वमिति पूर्वपक्षे एकत्र गौणार्थकशब्ददर्शनेऽपि सर्वत्र तथात्वायोगात्, मुख्ये संभवति गौणार्थस्वीकारस्य जघन्यत्वेन च मुख्येक्षितृत्वमादाय ब्रह्मपरत्वमेवेति निर्णयादिति ।

प्रायःपाठानुरोधादिति । ''तत्तेज ऐक्षत । ता आप ऐक्षन्त'' इत्यारोपितेक्षणार्थकेक्षतिबहुलप्रकरणपठितत्वानुरोधादित्यर्थः ।

अत्र वदन्तीत्यादिना सर्वलिङ्गं स्थापयति पाणिमन्त्रं पवित्रमित्यनेन पृथिव्यादिसाधारण्येन स्थापनं विधीयत इति शङ्कां मतान्तरेण समाधाय स्वयं समाधत्ते—अत्र ब्रूम इत्यादिना । एवमेवेदं व्याख्येयम्, अव्यवहितपूर्वग्रन्थेऽसमाहितपूर्वपक्षस्याभावेन स्वारस्येन प्रतीयमानार्थस्य बाधितत्वात् । सर्वोऽयमर्थवाद इति । अनुपदमेव पठ्यमानेन सर्वलिङ्गं स्थापयतीति वाक्येन विहितस्य लिङ्गधारणस्येत्यर्थः । धार्यमाणलिङ्गस्य पूर्वोक्तैर्नमोऽन्तैर्मन्त्रैरुत्कर्षवत्त्वेन बोधनरूपस्तुतिविषयीकृतैः सर्वैरपि लिङ्गैरभेदावसायात् सर्वेषां पूर्वोक्तमन्त्राणां धारणविध्यर्थवादत्वं सिद्ध्यति । एवं विध्यर्थवादत्वसंपत्तावर्थवादभागस्य तद्विषयकशैवागमपर्यालोचनेन धार्यमाणलिङ्गविषयकत्वे निर्णीते विधिभागस्य तथात्वानुपगमे विध्यर्थवादयोर्वैयधिकरण्यं स्यात् । तच्चानिष्टम्, विहितमेव स्तूयत इति मीमांसकसिद्धान्तादित्याशयः । एवं

सांख्यमत के अनुसार सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक प्रधान ही सत्पदवाच्य है, ऐसा अर्थ करना होगा । लेकिन प्रधान जड़ होने से लोक की सृष्टि नहीं कर सकता, क्योंकि ''सदेव सौम्येदम्'' इस प्रकार उपक्रम करके बीच में ''तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त'' इस प्रकार कहते हुए अन्त में ''स आत्मा तत्त्वमसि'' इस प्रकार उपसंहार किया गया है । यहाँ षड्विध लिंगों के तात्पर्य से आत्मा ही सत्पदवाच्य है, ऐसा अर्थ करना होगा । लेकिन ''तेज ने देखा, जल ने देखा'' ऐसे स्थानों पर जडस्वरूप तेज और जल का ईक्षणकर्तृत्व मुख्य वृत्ति से संभव नहीं है । इसलिए यहाँ गौणी वृत्ति स्वीकार की जाती है, ऐसे ही प्रधान के लिए भी जगत्कर्तृत्व स्वीकार कर लेते हैं । इसी प्रकार ''पाणिमन्त्रम्'' इस मन्त्र का भी ''पाणिना अभिमन्त्रितम्'' अर्थात् भूमि पर प्रतिष्ठित लिंग को हाथ से अभिमन्त्रित करना चाहिए, ऐसा गौणार्थ स्वीकार कर लेते हैं । ऐसा कहने पर भी एक तरफ गौणार्थ भले ही स्वीकार कर लिया जाय, फिर भी दूसरी तरफ वह अर्थ सम्भव

अत्र ब्रूमः—"निधनपतये नमः" इत्यारभ्य "एतत्सोमस्य सूर्यस्य" इत्यन्तं सर्वोऽयमर्थवादः। तत्र—"अखण्डमेकं लिङ्गं स्यात् तदेव गुरुणा परम्। भावप्राणेष्टभेदेन त्रिधा भूतं नगात्मजे ॥ इष्टलिङ्गप्रकृतिके आचारगुरुलिङ्गके। पार्थिवाप्ये इति प्रोक्ते शैवागमविशारदैः ॥ प्राणलिङ्गप्रकृतिके तेजोवायुमये तथा। शिवलिङ्गचराभिख्ये लिङ्गे द्वे वरवर्णिनि ॥ व्योमप्रकृतिकं लिङ्गं प्रासादाख्यं महत्तरम्। आत्मतत्त्वमयं

तात्पर्ये निरूपितेऽक्षरयोजनामात्रमवशिष्यते। तत् क्रियते। अवधीयताम्—अखण्डमेकं लिङ्गं स्यात्तदेव गुरुणा परमित्यादि। अत्र गुरुणेत्यनन्तरमुक्तमिति शेषः। यद्वा गुरुणा महता भेदेनेति योजनीयम्। अत्रैवं दशविधलिङ्गानि गणयितव्यानि—अखण्डलिङ्गम् १, भावलिङ्गम् २, प्राणलिङ्गम् ३, इष्टलिङ्गम् ४, पार्थिवरूपमाचारलिङ्गम् ५, आप्यरूपं गुरुलिङ्गम् ६, तेजोमयं शिवलिङ्गम् ७, वायुमयं चरलिङ्गम् ८, व्योमप्रकृतिकं प्रासादाख्यं लिङ्गम् ९, आत्मतत्त्वमेव महालिङ्गम् १०। अत्राखण्डलिङ्गं ब्रह्मस्वरूपम्। अन्येषां स्वरूपाण्युत्तरत्र स्पष्टानि। एतेषां सर्वेषां लिङ्गानां नमोऽन्तैर्दशभिर्मन्त्रैः स्तुतिः क्रियते।

नहीं है। जहाँ पर मुख्यार्थ से निर्वाह हो जाता है, वहाँ पर गौणार्थ स्वीकार करना निन्द्य होने से "पाणौ मन्त्रम्" ऐसा सप्तमी समास का आश्रय लेकर इष्टलिंगपरक अर्थ कहना ही उत्तम पक्ष है और "पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस वाक्य के पीछे देह में और देह पर धारण किये जाने वाले लिंग विषय के ही आने से इस एक वाक्य का भूमि में स्थापित स्थावर लिंगपरक अर्थ करने पर 'प्रकरणविरोध' नामक दोष भी आ जाता है। जैसे कि "निधनपतये नमः" इस प्रकार का उपक्रम करके "एतत्सोमस्य सूर्यस्य" यहाँ तक के वाक्यों में वीरशैव सिद्धान्त के अनुरूप दस प्रकार के शिवलिंगों को दिखाया गया है। इन लिंगों के स्वरूप का वर्णन सिद्धान्तशेखर आदि ग्रन्थों में किया गया है। जैसे कि—हे पार्वति ! अखण्ड ब्रह्मलिंग एक ही है। वह अपने लीलावैभव से भावलिंग, प्राणलिंग और इष्टलिंग के रूप में तीन प्रकार से विभक्त हो गया है। इष्टलिंग आचारलिंग और गुरुलिंग के रूप में विभक्त हो गया है। इनमें से आचारलिंग पृथिवी से सम्बद्ध है और गुरुलिंग जल से। प्राणलिंग शिवलिंग और जंगमलिंग के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से शिवलिंग तेजोरूप है और जंगमलिंग वायु रूप। भावलिङ्ग के प्रसादलिङ्ग और महालिङ्ग

प्रोक्तं महालिङ्गं महत्तमम् ।।" इति सिद्धान्तशेखरवचनेनोक्तानां दशविधलिङ्गानां नमोऽन्तैः स्तुतिर्दृश्यते । तत्रोर्ध्वलिङ्गाय नम इत्यखण्डलिङ्गमुच्यते, तस्य सर्वचक्रोर्ध्वगतैकदलकपश्चिमचक्रस्थितत्वात् । हिरण्यलिङ्गाय नम इत्यनेन प्राणलिङ्गं स्तूयते, "तप्तकाञ्चनसंकाशं कन्दस्थानसमाश्रितम् । योगिभिश्च सदा ध्येयं प्राणलिङ्गं विदुर्बुधाः ।।" इति सिद्धान्तसारावलीवचनेन तस्य काञ्चनमयत्वनिश्चयात् । सुवर्णलिङ्गाय नम इतीष्टलिङ्गार्थवादः, "नमः पीठमिति प्रोक्तं शिकारं मध्यमीरितम् । वाकारं गोमुखं वृत्तं यकारं गोलकं स्मृतम् ।। ओङ्कारं लिङ्गमाख्यातं षड्वर्णं लिङ्गमुच्यते ।"

ऊर्ध्वलिङ्गाय नम इत्यादिभिरखण्डलिङ्गम् । तस्य कथमूर्ध्वलिङ्गशब्दबोध्यत्वमित्याशङ्कायामाह—तस्य सर्वेति । सर्वचक्रोर्ध्वगतैकदलकपश्चिमचक्रस्थितत्वेन सर्वचक्रोर्ध्वगतत्वादखण्डलिङ्गस्योर्ध्वलिङ्गत्वमिति भावः । इदं चक्रमितरचक्रेभ्यः सर्वेभ्य ऊर्ध्ववर्त्यैकदलकं च । हिरण्यलिङ्गाय नम इत्यनेन तप्तकाञ्चनसंकाशमित्यादिना वर्णितं तप्तकाञ्चनसादृश्येन विशेषितत्वाद्धिरण्यलिङ्गपदवाच्यत्वार्हं प्राणलिङ्गं स्तूयते । सुवर्णाय नम इत्यनेन च नमः शिवायोमिति मन्त्रघटकनमःशब्दपीठकषडक्षरात्मक-

नामक दो प्रकार हैं । इनमें से प्रसादलिङ्ग आकाशरूप है और महालिङ्ग आत्मरूप । इस प्रकार से बताये हुए दस लिङ्गों की ही तैत्तिरीय श्रुति स्तुति करती है ।

यहाँ पर "ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः" यह वाक्य आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, शिखा, शिखान्त और पश्चिम नामक नौ चक्रों में विहार करनेवाले और नौ लिङ्गों के आश्रयस्वरूप अखण्ड लिंग की स्तुति करता है ।

"हिरण्यलिङ्गाय नमः" यह वाक्य, "तपाये हुए सोने की तरह चमकने वाली और मूल स्थान में रहने वाली योगियों के ध्यान की विषयस्वरूप वस्तु ही प्राणलिंग है" इस प्रकार विद्वज्जनों से स्वीकृत प्राणलिङ्ग की स्तुति करता है ।

"सुवर्णलिङ्गाय नमः" यह वाक्य शिवागम के अनुसार शिवलिंग नामक शरीर के अवयवस्वरूप नकार आदि वर्णों को स्पष्टतया बताने के कारण इष्टलिङ्ग की स्तुति करता है ।

इत्यनेन लिङ्गशरीरघटकत्वेनैव सुष्ठुत्वविशिष्टवर्णरूपत्व-निश्चयात् । दिव्यलिङ्गाय नम इत्याकाशतत्त्वाधिष्ठितप्रासाद-लिङ्गस्तुतिः, दिवि भवं दिव्यमिति व्युत्पत्त्या तयोरभेदात् । भवलिङ्गाय नम इत्यनेन गुरुलिङ्गस्तवः क्रियते, "ज्येष्ठा जलमयो तत्र स्थित्युपादानरूपिणो । भवस्तदीशस्य ज्येष्ठो ज्येष्ठा तच्छक्तिरीरिता ।।" इति जलतत्त्वाधिष्ठितगुरुलिङ्गेन भवलिङ्गाभेदात् । शर्वलिङ्गाय नम इत्याचारलिङ्गस्य, "वामात्मपृथिवीतत्त्वभूतवामात्मिका यथा । सृष्टिः प्रवर्तते वामा सा शर्वक्षितिमूर्तिपः ।।" इति सिद्धान्तसारावलीवाक्येन

मिश्रलिङ्गमुच्यते, तस्य मन्त्रात्मकलिङ्गशरीरघटकत्वरूपसुष्ठुत्वविशिष्टवर्ण-रूपत्वात् । दिव्यलिङ्गाय नम इत्यनेन प्रसादलिङ्गस्तुतिः क्रियते, तस्या-काशतत्त्वाधिष्ठितत्वेन दिवि भवमिति व्युत्पत्तिजन्यप्रतीत्यर्हत्वात् । भव-लिङ्गाय नम इत्यनेन "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् । तदण्ड-मभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥" (म० स्मृ० १।८-९) इति मनूक्तदिशा स्थित्युपादानशक्तिविशिष्टजलतत्त्वाधिष्ठितगुरुलिङ्गस्य स्तवः क्रियते । भवपद-मन्तर्भावितण्यर्थतया भावयतीत्यर्थकं बोध्यम् । तदाह—"ज्येष्ठा जलमयी तत्र स्थित्युपादानरूपिणी । भवस्तदीशस्य ज्येष्ठो ज्येष्ठा तच्छक्तिरीरिता ॥" इति । अत्र जलतत्त्वस्य ज्येष्ठत्वम् "अप एव ससर्जादौ" (म० स्मृ० १।८) इति पूर्वोक्तसृष्टिमनुसृत्य बोध्यम् । शर्वलिङ्गाय नम इत्यनेन पृथिवी-

"दिव्यलिङ्गाय नमः" यह वाक्य "दिवि भवं दिव्यम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रसादलिङ्ग के आकाशतत्त्व से अधिष्ठित होने के कारण उस दिव्य शब्दाभेद-स्वरूप प्रसादलिङ्ग की स्तुति करता है ।

"भवलिङ्गाय नमः" यह वाक्य "जल तत्त्व ही मूलाधार होने से उस जल में भवशब्दवाच्य ब्रह्म सर्वप्रथम बीज को बोता है, अतः सबसे ज्येष्ठ बताया गया है और उसकी क्रिया शक्ति ही ज्येष्ठा कही गई है" इस शिवागम वचन के अनुसार गुरुलिंग जलाधिष्ठित होने से उस भवशब्दाभेदस्वरूप गुरुलिंग की स्तुति करता है ।

"शर्वलिङ्गाय नमः" यह वाक्य सिद्धान्तसारावली के प्रमाण से जिस पृथिवी से वामात्मक सृष्टि होती है, उस पृथिवीतत्त्वाधिष्ठित आचारलिंग की स्तुति करता है ।

पृथिवीतत्त्वाभिमानिन आचारलिङ्गस्य शर्वलिङ्गाभेदप्रतिपादनात् । शिवलिङ्गाय नम इति शिवलिङ्गस्य, "अग्नेश्च रुद्ररूपत्वाद् रौद्राग्नेयी तदीश्वरः । स वै पशुपती रुद्रो रौद्री तच्छक्तिरिष्यते ।।" इत्यनेन तेजस्तत्त्वाभिमानिशिवलिङ्गस्य शिवपदस्थानापन्नरुद्रपदवाच्याभेदप्रतीतेः । ज्वललिङ्गाय नम इति चरलिङ्गस्य, "प्राणस्य कालरूपत्वात् कालशक्तिस्तु वायवी । वायुमूर्तिप उग्रस्तु स काल इति विश्रुतः ।।" इत्यनेन वायुतत्त्वाधिष्ठितचरलिङ्गस्य उग्रपदवाच्यज्वललिङ्गाभेदनिश्चयात् । परमलिङ्गाय नम इत्यात्मतत्त्वाभिमानिनो महालिङ्गस्य, आत्मलिङ्गाय नम इति कारणशरीराधिष्ठितभाव-

---

तत्त्वाधिष्ठितमाचारलिङ्गं स्तूयते । शिवलिङ्गाय नमः, ज्वललिङ्गाय नमः, परमलिङ्गाय नमः, आत्मलिङ्गाय नम इत्येषामपि मन्त्राणां शिवलिङ्गचरलिङ्गमहालिङ्गभावलिङ्गस्तुतिरूपत्वं सिद्धान्तशेखरवाक्योपष्टम्भेन मूल एव दर्शितं द्रष्टव्यम् । दीक्षाकाले बाह्यलिङ्गधारणं प्रत्यक्षम् । अन्येषां लिङ्गानां भावनारूपेण धारणं गुरूक्तानुसारेण शिष्यैः क्रियत इत्येतत् पद्धतौ शैवागमे च स्पष्टम् । सर्वेषां लिङ्गानां धारणं सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यनेन बोध्यते । अत एव सर्वपदस्य स्वारस्यमिति स्थाधातोर्धारणार्थक-

"शिवलिङ्गाय नमः" यह वाक्य "अग्नि रुद्ररूप होने से अग्नीश्वर रौद्राग्नेय कहे जाते हैं । उन्हीं को पशुपति भी कहते हैं । उनमें रहनेवाली शक्ति ही रौद्री है ।" इस प्रमाणवचन के अनुसार उस तेजस्तत्त्वाधिष्ठान स्वरूप शिवलिंग की स्तुति करता है ।

"ज्वललिङ्गाय नमः" यह वाक्य "प्राण कालरूप होने से कालशक्ति वायु से सम्बन्धित है । उस प्रकार के वायुशरीर की रक्षा करने से उग्रपदवाच्य शिव काल कहे जाते हैं" इस प्रमाण के अनुसार वायुतत्त्वाधिष्ठित जंगमलिंग की स्तुति करता है ।

"परमलिङ्गाय नमः" यह वाक्य आत्मतत्त्वाधिष्ठित महालिंग की स्तुति करता है । "आत्मलिङ्गाय नमः" यह वाक्य कारणशरीराधिष्ठित भावलिंग की स्तुति करता

लिङ्गस्येति। तथा चार्थवादस्य आगमोक्ताचारौपाधिकभेदभिन्न-शरीरधृतलिङ्गविषयत्वेन सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यस्य स्थावर-लिङ्गविधायकत्वे विध्यर्थवादयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः ।

त्वाभ्युपगन्तृशैवागमस्य पन्था बोद्धव्यः। एवमस्मिन् प्रकरणे आध्यात्मिकान्येव चरलिङ्गान्यनूद्य सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यनेन स्थापनाविधेरवगम्यमानतया विध्यर्थवादयोः सामानाधिकरण्यानुरोधेन शरीरधार्यमाणलिङ्ग-

है। इस प्रकार दस शिव लिंगों के स्वरूप श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य ने बताये हैं। इससे आचारलिंग, गुरुलिंग, शिवलिङ्ग, जंगमलिङ्ग, प्रसादलिङ्ग, महालिङ्ग, भावलिङ्ग, प्राणलिङ्ग, इष्टलिङ्ग और अखण्डलिंग नामक दस प्रकार के लिंगों को आधार आदि दस चक्रों में निरन्तर ध्यान करने वाले शिवयोगी सर्वांगलिंग होकर चमकते हैं।

इनमें से चार पंखुडियों से विशिष्ट आधारचक्र नामक रत्नमण्डप में पृथिवीतत्त्व के अभिमानी आचारलिंग को आनन्दनामक जल देकर, सुखनामक सुगन्ध द्रव्य का लेपन करके, चित्तनामक अक्षत (चावल) चढ़ाकर, आधार कमल के व, श, ष, स नामक चार बीजाक्षरस्वरूप फूल की माला को पहना कर, उस पृथिवी पीठ नामक ज्योति को जलाकर, वहाँ के जाग्रदवस्था नामक भावात्मक पीताम्बर से सजाकर, निष्काम नामक रत्नों से जड़े हुए आभूषणों से अलंकृत करके, भक्ति नामक भोग चढ़ाकर, श्रद्धा नामक ताम्बूल समर्पित करना ही आचारलिंग की पूजा है।

छ दलों से विशिष्ट स्वाधिष्ठान चक्र नामक सिंहासन पर बैठे हुए जलतत्त्वाभिमानी गुरुलिंग को परिणाम नामक जल से स्नान कराकर, आनन्द नामक गन्ध को लगाकर, बुद्धि नामक अक्षत चढाकर, उस कमल के ब, भ, म, य, र, ल इन छः दलवाले फूलों की माला समर्पित करके, उस कमल के नीलवर्ण नामक कपूँर को जलाकर, स्वप्नावस्था नामक पीताम्बर को धारण कराकर, अकोप नामक आभूषण से अलंकृत करके, सुरुचि नामक भोग लगाकर, निष्ठा नामक ताम्बूल देकर आनन्द का अनुभव करना ही गुरुलिंग की पूजा है।

दस दल के मणिपूरक नामक सिंहासन पर विराजमान तेजस्तत्त्वाभिमानी शिवलिंग को परमानन्द नामक जल से स्नान कराकर, निरहंकार नामक गन्ध चढ़ा कर, निरहंकार नामक अक्षत को लगाकर, उस कमल के ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ नामक दस दलवाले फूलों की माला पहनाकर, उस कमल को सद्वासना

किञ्च, "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।।" इति षड्विधतात्पर्यलिङ्गानां मध्येऽसंजातविरोधिन उपक्रमस्य—"वेदो वा प्रायदर्शनात्" (मी० ३।३।२) इति वेदोपक्रमाधिकरणन्यायेन बलवत्त्वेन ऊर्ध्वलिङ्गाय नम इत्याद्युपक्रमस्य प्राणलिङ्गपरत्वनिश्चये सर्वलिङ्गवाक्यस्य शरीरधृतलिङ्गव्यतिरिक्तविषयत्वे प्रकरणविरोधश्च ।

विषयकत्वमेव न्याय्यम् । "वेदो वा प्रायदर्शनात्" (मी० ३।२।२) इति । "निषादस्थपतिं याजयेत्" इत्यत्र लक्षणानाश्रयणरूपोपक्रमलब्धलाघवानुरोधेन कर्मधारयमेवाश्रित्यानधिकारिण्यपि वेदः कल्प्यते, एवमिहाप्युपक्रमे ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः, हिरण्यलिङ्गाय नम इत्यादिना शरीरान्तर्वर्तिप्राणलिङ्गादीनां प्रस्तूयमानतया सर्वलिङ्गवाक्यस्य स्थावरलिङ्गविषयकत्वे षड्विधलिङ्गेषु प्रबल उपक्रमो विरुध्येत ।

नामक धूप देकर, नीलवर्ण नामक कपूर को जलाकर, सुषुप्तावस्था नामक कपड़ा चढ़ाकर निर्मद नामक आभूषण (गहना) से भूषित करके सुरूप नामक नैवेद्य (भोग) लगाकर, सावधान नामक ताम्बूल देकर, आनन्द का अनुभव करना ही शिवलिंग की पूजा है ।

बारह दलों से विशिष्ट अनाहतचक्र नामक रत्नमय मण्डप में सुशोभित वायुतत्त्वाभिमानी जंगमलिंग को शान्ति नामक जल से स्नान कराकर निरहंकार नामक गन्ध चढ़ाकर, कवर्ग, चवर्ग, ट, ठ, नामक बारह बीजाक्षरों से विशिष्ट फूलों की माला पहनाकर, सद्वासना नामक धूप लगाकर, मंजिष्ठवर्ण (मजीठ) नामक कपूर जलाकर, तुरीयावस्था नामक वस्त्र से आवृत करके निर्मोह नामक आभरण से अलंकृत करके, सुस्पर्श नामक नैवेद्य (भोग) लगाकर, ज्ञान नामक ताम्बूल देकर आनन्द का अनुभव करना ही जंगमलिंग की पूजा है ।

सोलह दलों से विशिष्ट विशुद्धिचक्र नामक मण्डप में विराजमान आकाशतत्त्वाभिमानी प्रसादलिंग को शम नामक जल से स्नान करा के, दम नामक गन्ध चढ़ाकर, शान्ति नामक अक्षत लगाकर, सोलह स्वरात्मक फूल की माला पहनाकर सद्वासना नामक धूप देकर, नीले रंग का कपूर जलाकर, तुरीयातीतावस्था नामक नये वस्त्र को पहनाकर, निरहंकार नामक गहनों से सजाकर, सुशब्द नामक भोग लगाकर, आनन्द नामक ताम्बूल देकर, भेदभाव को मिटाकर, आनन्द का अनुभव करना ही प्रसादलिंग की पूजा है ।

न चैतत्सोमस्य सूर्यस्येति पूर्वोक्तनमस्कारपरामर्शकैतच्छब्देन सूर्यसोमनमस्काराभिधानात् प्रकरणविभेद इति वाच्यम्, उपक्रमोपसंहारयोः शिवपरत्वनिश्चयेन मध्ये

न चैतत् सोमस्येति। एतत्पदेन पूर्वोक्ता नमस्कारा गृह्यन्ते। निधनपतये नम इत्यादिमन्त्रैः कृता नमस्काराः सूर्याचन्द्रमसोः सन्तीत्यर्थं भ्रान्त्या प्रतिपद्य प्रकरणविरोधं शङ्कते—न चेत्यादिना। वस्तुतः सोमस्येत्यस्योमया

दो दल के आज्ञाचक्र नामक सिंहासन पर समलंकृत महालिंग को आनन्द नामक जल से स्नान कराकर, शान्ति नामक चन्दन चढ़ाकर, सद्भावना नामक अक्षत चढ़ाकर हं, सं इन दो बीजाक्षरों की माला पहनाकर, सद्वासना नामक धूप लगाकर, माणिक्य (रत्नविशेष) वर्ण के कपूर को जलाकर, निरवस्था नामक वस्त्र पहनाकर, निर्मल नामक गहनों से विभूषित करके, तृप्ति नामक भोग लगाकर, समरस नामक ताम्बूल देकर, तादात्म्य बुद्धि से आनन्दित रहना ही महालिंग की पूजा है।

गुरु के द्वारा की गई क्रियादीक्षा के संस्कार से कार्मिक मल का नाश, मांस पिण्ड की निवृत्ति और मन्त्रपिण्ड की प्राप्ति होती है। तब स्थूल देह में धारण किये जाने वाले श्रीशैल के पत्थर से निर्मित पंचसूत्र घटित शिवलिंग को हस्तपीठ में रखकर उसका जल, गन्ध, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से अर्चन करना ही इष्टलिंग की पूजा है। गुरु के द्वारा की गई मनु दीक्षा से मायामल की निवृत्ति से परिशुद्ध हुए सूक्ष्म देह में प्राणलिंग का अनुसन्धान करना ही प्राणलिंग की पूजा है। कारण शरीर में रहनेवाले आणविक मल के वेधा दीक्षा से निवृत्त हो जाने पर व्यापक भावलिंग के ध्यान में मन लगाना भावलिंग की पूजा मानी जाती है। सर्वसाक्षी स्वरूप परात्पर लिंग की आराधना ही अखण्डलिंग की पूजा है।

इस प्रकार देह में रहनेवाले दशविध लिंगों को तैत्तिरीय श्रुति में "निधनपतये नमः" इस मन्त्र से लेकर "एतत्सोमस्य सूर्यस्य" इस मन्त्र तक की गई स्तुति को देखने पर आगे का "सर्वलिङ्गं····पाणिमन्त्रं पवित्रम्" यह वाक्य देह में धारणीय इष्टलिंग का ही बोधक है, ऐसा निश्चय हो जाता है। ऐसा न मानकर उस सर्वलिंग वाक्य को स्थावर लिंग परक कहने पर विधि और अर्थवाद इन दोनों में रहनेवाला सामानाधिकरण्य ही असिद्ध, अप्रयोजक हो जाता है।

किसी वाक्य का तात्पर्य निर्णय करना हो तो उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, और उपपत्ति नामक छः प्रकार के लिंगों की आवश्यकता

सोमसूर्यनमस्काराभिधाने सन्दर्भविरोधापत्त्या "सोम एकेभ्यः पवते घृतमेकमुपासते" (ऋ० १०।१५४।१) इत्यत्रैव उमया सहितः सोम इति व्युत्पत्त्या सूर्यस्य सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनः सोमस्य लिङ्गरूपशिवस्येत्यर्थावश्यंभावात् । उक्तरीत्या

सहितस्येत्यर्थः । सूर्यस्येत्यस्य च सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनः शिवस्वरूपस्य परमात्मन इत्यर्थः । तदुक्तमन्तर्यामिब्राह्मणे—"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यमन्तरो यमयति, यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरम्" (बृ० उ० ३।७।९) इति नास्ति प्रकरणविरोध इति भावः ।

होती है । इस प्रकार शास्त्रकारों का अभिमत होने से मन्त्र जिस वस्तु की स्तुति का उपक्रम करता है, उसी वस्तु में उपसंहार करता है और बीच में आए हुए अर्थवाद आदि का उन उपक्रमोपसंहार के अनुगुण अन्वय करना होता है । ऐसा न करने पर वेदोपक्रमाधिकरण न्याय का विरोध होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि "निषादस्थपतिं याजयेत्" यहाँ पर "निषादानां स्थपतिः" इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास करना है अथवा "निषादश्चासौ स्थपतिश्च" इस प्रकार कर्मधारय समास करना है, ऐसा संशय होने पर उपक्रम का विरोध न हो, ऐसे अर्थ की सिद्धि करनी हो तो षष्ठी तत्पुरुष समास की अपेक्षा बलशाली होने से कर्मधारय समास ही करना होगा । ऐसा न करके षष्ठी तत्पुरुष समास को करने पर अनधिकारी निषाद (बहेलिया) को वेदाधिकार की प्राप्ति नहीं हो सकती । इससे उपक्रम का विरोध होगा, ऐसा निर्णय करने पर तैत्तिरीय श्रुति—"ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः, हिरण्यलिङ्गाय नमः" इस प्रकार शरीर में रहनेवाले प्राणलिंग आदि की स्तुति का उपक्रम करने से आगे के—"सर्वलिङ्गं.....पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस वाक्य की शरीर में रहनेवाले इष्टलिंग परक और पाण्यधिकरण रूप पूजापरक अर्थ करना होगा । उपक्रम के विरुद्ध भूमि में स्थापित स्थावर लिंगपरक अर्थ करने से प्रकरण का विरोध होता है । इसलिए 'पाणिमन्त्रम्' इस वाक्य में तृतीयासमास का आश्रय न लेकर सप्तमी तत्पुरुष समास का आश्रय लेकर इष्टलिंगपरक है, ऐसा निर्णय कर लेना चाहिए ।

शंका—इस प्रकार मान लेने पर "निधनपतये नमः" यहाँ से लेकर "परमलिङ्गाय नमः" यहाँ तक के श्रुतिवाक्य के बाद "एतत्सोमस्य सूर्यस्य" इस प्रकार के सूर्य चन्द्र वाचक पद आगे आने से और सूर्य-चन्द्र पदों के पीछे एतत् शब्द होने से सूर्य-चन्द्र की स्तुति यहाँ की गई है, ऐसा क्यों नहीं कह सकते ?

सर्वलिङ्गवाक्यस्य शरीरधार्यलिङ्गपरत्वे—"औदुम्बरो यूपो भवत्यूर्ग्वा उदुम्बर ऊर्क् पशव ऊर्जैवास्मा ऊर्जं पशूनाप्नोत्यूर्जोऽवरुद्धचै" (तै० सं० २।१।१।६) इत्यत्रैवार्थवादवैयर्थ्यभीत्या विधिकल्पनमपि संगच्छत इति ।

औदुम्बरो यूपो भवतीति। अयमर्थः—उदुम्बरवृक्षसम्बन्धी यूपः क्रियते, किमर्थमित्यत आह—ऊर्ग् वै इत्यादि। वै यतः, उदुम्बर ऊर्ग् रूपः बलरूपः, अन्तःसार इति यावत्। पशवोऽप्यन्तःसारा भवन्ति। सारवद्वस्तुना सारवद्वस्तु प्राप्तेरौचित्याद् औदुम्बररूपेण सारवद्वस्तुना अन्तःसारान् पशून् प्राप्नोति। किमर्थमित्याह—ऊर्जोऽवरुद्धचै दुग्धादिद्वारा बलप्राप्त्यर्थमित्यर्थः। एतदर्थवादबलाद् औदुम्बरो यूपो भवतीत्यत्र लट्प्रत्ययसत्त्वेऽपि लिङर्थकर्तव्यतायाः कल्पनं भवति। एवं सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यत्र लिङ्लोटादीनामभावेऽप्युक्तानुवादबलादेव लिङ्गधारणविधिः कल्प्यते।

समाधान—इस मन्त्र में "ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः" ऐसा लिंग परक उपक्रम करके "सर्वलिङ्गं स्थापयति" ऐसा लिंगपरक ही उपसंहार करने से बीच में आनेवाले सोम-सूर्य पदों का भी लिंगपरक ही अर्थ करना है। ऐसा न करने पर उपक्रम और उपसंहार का विरोध होगा। इसलिए "उमया सहितः सोमः" इस व्युत्पत्ति से सोम शब्द शिवलिंगपरक है, अतः 'सूर्यस्य' पद का सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती शिवलिंगपरक अर्थ करना ही उत्तम पक्ष होगा। इसके अतिरिक्त—"सोम एकेभ्यः पवते धृतमेकमुपासते" इस मन्त्र के सोम पद से भी जैसे शिव ही अर्थ सिद्ध होता है, वैसे ही उस सोमपद से भी शिव की सिद्धि होती है और इस तरह से 'सूर्यस्य' यह पद सोम पद का विशेष्य होने से शिव सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

"जो सूर्यमण्डल में रहकर सूर्य को प्रकाशित करता है, जिसको वह सूर्य समझ नहीं पाता है, जिनके लिए सूर्य शरीर होकर रहता है" इस प्रकार के कथन से लिंग सूर्यमण्डल के मध्य में है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

औदुम्बर श्रुति का भी यहाँ उदाहरण दिया जाता है। उस श्रुति का अवयवार्थ यह है—औदुम्बरः = गूलर के पेड़ से बनाया हुआ, यूपः = यज्ञस्तम्भ, जिस कारण से ऊर्क् = ठोस, भवति = हो जाता है, तत् = उस कारण से, पशवः उस यज्ञ के खम्भे में बाँधे गये पशु भी, उदुम्बर ऊर्क् = गूलर के पेड़ की उपाधि में ही बल रखते हैं। ऊर्जोवरुद्धचै = क्षीर आदि से बल प्राप्त कराने के निमित्त, ऊर्जैवास्मा

अथैवमप्यस्य न नित्यविधित्वम्, "बाह्यमाभ्यन्तरं चैव मुनिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः" (६।२९) इति प्रागुदाहृत-सिद्धान्तशिखामणिवचनेन फलश्रवणात्; इति चेन्मैवम्, नित्ये

न नित्यविधित्वमिति। मुनिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिरित्यधिकारिविशेषणेन मोक्षाकाङ्क्षारहितस्य लिङ्गधारणाप्राप्तेः काम्यविधित्वस्यैव सिद्धेरिति

= अन्तःसारवाले गूलर के पेड़ के उस खम्भे के साथ, ऊर्ज = सारविशिष्ट, पशून् = यज्ञ पशुओं को, प्राप्नोति = प्राप्त करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि एक अन्तःसार वाले पदार्थ को दूसरे अन्तःसार से मिलाने पर उस पदार्थ को बल मिलता है। अतः गूलर के यज्ञीय खम्भे में बलशाली पशुओं को ही बांधना चाहिये। यह इस मन्त्र का मुख्यार्थ होगा। यह मन्त्र गूलर के यूप (स्तम्भ) की स्तुति करता है, इस लिए इसको अर्थवाद कहा जाता है। इसमें 'भवति' इस प्रकार के लडन्त का प्रयोग होने पर भी लिङ्, लोट्, तव्य आदि प्रत्ययों की तरह विध्यर्थ मान लिया जाता है, वैसे ही यहाँ पर भी विध्यर्थ करना चाहिए। ऐसा न करने पर उदुम्बर यूप की प्रशंसा ही सम्भव नहीं हो सकती। "स्वार्थ में प्रमाणरहित अर्थवाद अपने प्रामाण्य के लिये विधिविषयक वस्तु की प्रशंसा करके ही विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त करता है" इस प्रकार मीमांसा शास्त्र में व्यवस्था की गई है। वैसे ही "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यहाँ पर लडन्त क्रियापद के होने पर भी इस वाक्य के आरम्भ का "ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः" इस प्रकार का वाक्य देह के आधार आदि स्थानों में रहने वाले दशविध-लिंगों की प्रशंसा मात्र करता है। उसकी सार्थकता के लिये 'स्थापयति' इस क्रियापद के वर्तमान अर्थ को छोड़कर 'स्थापयेत्' (देह में लिंग को धारण करना चाहिए) इस प्रकार के विध्यर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इस तरह से "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यह वाक्य इष्टलिंग-धारण का विधायक है, ऐसा निर्णय कर लेना है।

शंका—तब तो वीरशैव सिद्धान्त के स्थापक श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य इस विषय में जो कहते हैं कि यह लिंगधारण बाह्यलिंगधारण और अन्तर्लिंगधारण नाम से दो प्रकार का है। इन दो प्रकार के लिंगों को मोक्ष नामक महापुरुषार्थ को चाहने वाले धारण करते हैं। इस प्रकार के कथन से मुक्ति नामक फल को चाहने वाले ही लिंग को धारण करें, न कि इससे भिन्न लोग, ऐसा सिद्ध हो जाने से लिंगधारण एक काम्य विधि होगी, नित्य विधि नहीं?

"सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः। विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥" इत्यार्थवादिकफलश्रवणेन सन्ध्योपासनस्याऽनित्यतानापत्तेः।

यदि तत्र—"अनुपास्य त्रिकालेषु सन्ध्यामन्नादिभुग्भवेत्। श्वानयोनिशतं गत्वा चाण्डालः कोटिजन्मसु ॥" इत्यकरणे प्रत्यवायस्मरणान्नित्यत्वमुच्यते, प्रकृतेऽपि समानम्। "भक्त-

---

भावः। सन्ध्यामुपासत इति। "प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति" इति रात्रिसत्रार्थवादोक्तप्रतिष्ठाफलस्याधिकारिविशेषणत्वेन रात्रिसत्रविधौ काम्यविधित्ववत् "सन्ध्यामुपासते ये तु" इत्यर्थवादोक्तविधूतपापस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिकामस्य सन्ध्याविधावधिकारित्वप्राप्त्या सन्ध्याया अपि नित्यत्वं न सिद्ध्येत्।

अनुपास्य त्रिकालेष्वित्यादिनाऽकरणे प्रत्यवायस्मरणान्नित्यत्वमिति चेत्, भक्तस्याबिभ्रतो लिङ्गमित्यादिना लिङ्गाधारणेऽपि प्रत्यवायोक्तेस्तस्यापि नित्यत्वं निर्विवादं सिद्ध्यतीत्याह—प्रकृतेऽपि समानमिति।

समाधान—"जो प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन करते हैं, वे लोग पापों से छूटकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेते हैं"। यहाँ सन्ध्यावन्दन कर्म ब्रह्मलोक नामक फल की प्राप्ति करा देता है। इस प्रकार फल के श्रवण को देखने पर ब्रह्मलोक की अपेक्षा करने वाले को ही सन्ध्यावन्दन करना है, इससे भिन्न लोगों को करने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा अर्थ सिद्ध हो जाने से सन्ध्यावन्दन भी काम्य विधि हो जायेगा और नित्य विधि नहीं हो सकेगा। ऐसी शंका उत्पन्न हो जाने पर "जो व्यक्ति तीनों (प्रातः, दोपहर, सायं) कालों में सन्ध्या किये बिना भोजन कर लेता है, वह अनेक बार कुत्ते का जन्म तो लेता ही है और चमार होकर करोड़ जन्म लेता है"। इस प्रकार धर्मशास्त्र सन्ध्यावन्दन न करनेवाले को प्रत्यवाय (दोष) बताता है। इससे सन्ध्यावन्दन में नित्य विधि की सिद्धि तो हो ही जाती है, साथ ही अनित्यत्व नामक दोष का परिहार भी हो जाता है। इसी तरह से "जो भक्त प्राणधारण पर्यन्त लिंगधारण नहीं करता, उसके पकाये हुए अन्न का भक्षण न करे। अलिंगी का पाक कुत्ते के माँस के समान है"। इस प्रकार वीरशैव सिद्धान्त में निषेध वाक्य होने से लिंगधारण सन्ध्यावन्दन की तरह नित्य विधि ही है, ऐसा सिद्ध हो जाता है। इसलिये "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यह वाक्य इष्टलिंग धारण को तथा "पवित्रम्" यह पद शुचि व अशुचि सभी अवस्थाओं में इष्टलिंगधारण तथा पूजा करने की विधि को बताता है।

स्याबिभ्रतो लिङ्गं यावत् प्राणविधारणम् । श्वमांसभक्षणं तावदन्नेन रचितं भवेत् ।।" इति वातुलादिवचनैरकरणे प्रत्यवायाभिधानात् ।

"बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरेदिति । इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।।"(म० भा० १।१।२६७-२६८), "वेदार्थोऽयं स्वयं ज्ञातस्तत्राज्ञानं भवेदपि । ऋषिभिर्निश्चिते तस्मिन् का शङ्का स्यान्महात्मनाम् ।।" इत्युक्तत्वेनास्याः श्रुतेरुक्तार्थे उपबृंहणमप्यस्ति । तथाहि लिङ्गपुराणे—"वेदेषु शास्त्रसंघेषु पुराणेष्वागमेषु च । ब्राह्मणस्य समाख्यातं लिङ्ग-

---

सर्वलिङ्गं स्थापयतीति विधिः स्थावरलिङ्गस्थापनविषयको वा शरीरे लिङ्गधारणविषयको वेति संशये—"इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्" (१।१।२६७) इत्यादिभारतोक्तिभिः सर्वत्र वेदार्थसंशये इतिहासपुराणसहायेन निर्णयकरणस्यौचित्यात् । स्वगृहीतलिङ्गधारणपक्षेऽनुकूलं लिङ्गपुराणं दर्शयति—"वेदेषु शास्त्रसंघेषु पुराणेष्वागमेषु च । ब्राह्मणस्य समाख्यातं लिङ्ग-

शंका—"अपनी इच्छा के अनुसार वेदों का अर्थ करने वाले पण्डित को देखकर श्रुति माता ये लोग अपने को विरुद्ध मार्ग पर ले जाकर धोखा देंगे, ऐसा समझ कर डर जाती है । प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान से आवृत है, कोई सर्वज्ञ नहीं है । इसलिए पिछले महर्षियों से रचित इतिहास-पुराण आदि को देखकर वेदों के अर्थ का निर्णय करना चाहिए" । इस तरह से महाभारत में वेदार्थ के निश्चय का उपाय बताया गया है । "सर्वलिङ्गं" इस वाक्य के लिए अभी तक पूर्वमीमांसा आदि दृष्टान्तों से और युक्तियों से स्थावर लिंगपरक अर्थ का निराकरण करके जो देह में धारण योग्य इष्टलिंगपरक अर्थ किया गया है, उस पर इतिहास-पुराण आदि के कर्ता महर्षिलोग क्या अपनी स्वीकृति देते हैं ?

समाधान—"ऋक् आदि चारों वेदों में, मनु आदि स्मृतियों में और पुराणों में ब्राह्मण अपने देह में इष्टलिंग को धारण करे" इस प्रकार आरम्भ करके यजुर्वेद में "सर्वलिङ्गं स्थापयति पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस प्रकार कहने से गुरु शिष्य के शक्तिपात की परीक्षा करके जिस समय शिवदीक्षा करते हैं, उस समय दीक्षांग स्वरूप कृच्छ्रादि कर्म का सम्पादन कराकर, इसके पूर्ववर्ती गणेशपूजा, पुण्याह, नान्दी श्राद्ध, अंकुरारोपण और मण्डपदेवता प्रतिष्ठा आदि कर्म कराकर, उन

धारणमुत्तम् ।।" इत्युपक्रम्य, "यजुरप्याह—"सर्वं वै लिङ्गं स्थापयति" इति च । "तस्माद्धार्यं महालिङ्गं पाणिमन्त्रेति मन्त्रतः । पाणौ लिङ्गं विनिक्षिप्य दीक्षाकाले गुरुः शिवम् । येन स्तुवति तन्मन्त्रं पाणिमन्त्रं वदन्ति हि ।। पवित्रत्वान्महेशस्य शिवस्य प्रतिपादनात् । पवित्रकरणात् पुंसां पवित्रमिति कथ्यते ।। अतः सर्वेषु कालेषु धारयेल्लिङ्गमुत्तमम् । गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।। शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि

धारणमुत्तमम् ।।" इत्यादिना । अत्र कतिपयैःश्लोकैर्लिङ्गधारणकर्तव्यतामुक्त्वा तत्र प्रमाणरूपेणेदमेव वाक्यं लिङ्गपुराणे दर्शितम्—यजुरप्याह सर्वं वै लिङ्गं स्थापयतीति । अयं लेखोऽत्रत्यलिङ्गपुराणीयवाक्यानां सर्वलिङ्गं स्थापयतीति श्रुतेश्चोपबृंह्योपबृंहणभावे निर्विवादं परमं प्रमाणं सिद्धं भवतीति द्रष्टव्यम् । एवं स्थिते उपबृंहणीभूतात्रत्यपुराणवाक्ये—"पाणौ लिङ्गं विनिक्षिप्य दीक्षाकाले गुरुः शिवम् । येन स्तुवति तन्मन्त्रं पाणिमन्त्रं वदन्ति हि ।। पवित्रत्वान्महेशस्य शिवस्य प्रतिपादनात् । पवित्रकरणात् पुंसां पवित्रमिति कथ्यते ।।" इति पाण्यधिकरणकपूजाकरणत्वेन पाणिमन्त्रशब्दनिर्वचनात्

उन शाखाओं के अनुरूप ऋत्विजों द्वारा पंचकलशों की स्थापना करा कर, पंचसूत्र से विशिष्ट शिवलिंग को वेदमन्त्र से प्रक्षालित करा कर, उस शिवलिंग का जल, धान्य और क्षीर आदि में अधिवास करा कर, आचार्य कर्षण आदि दोषों का परिहार करते हुए ३८ कलाओं का आवाहन करके, क्षीर आदि से अभिषेक करके, दीक्षांगस्वरूप हवन कुण्डों की विधि के अनुसार स्थापना करके, उनमें आहवनीय आदि वैदिक अग्नियों की प्रतिष्ठा करके, समस्त देवताओं को घृत आदि का समर्पण करते हुए शिष्य के लिए क्रिया, मनु और वेधा नामक तीन संस्कार करके हृदयकमल की चित्कला को अंकुश आदि मुद्राओं से लिंग में आवाहित करके, षोडशोपचार पूजा करने के बाद उस मन्त्रमय शिवलिंग को "निधनपतये नमः" ऐसा आरम्भ करके "सर्वंलिङ्गं स्थापयति पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिष्य के हस्तकमल पर रखकर, उस लिंग की महिमा का बोध कराने के बाद "यज्ञोपवीतं" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिर, कण्ठ, वक्षःस्थल आदि उत्तम अंगों में से किसी एक में धारण कराते हैं । इसके बाद हे शिष्य ! यह लिंग अंगशब्द वाच्य जीवात्मा को आवृत किये हुए आणव आदि मलों का परिहार करता है, सर्वमंगलस्वरूप परमात्मा के अनुग्रह का पात्र बनाता है, इस पवित्र शिवलिंग

लिङ्गं सर्वत्र धारयेत् । लिङ्गधारी सदा शुद्धो निजलिङ्गं मनोहरम् ।। अर्चयन् गन्धपुष्पाद्यैः करपीठे समाहितः । नित्यानि कर्मवृन्दानि तथा नैमित्तिकानि च ।। शिवार्पणधिया कुर्यात् सम्यग्ज्ञानाभिवृद्धये ।'' इति ।

स्कान्दे शङ्करसंहितायामपि—''यो हस्तपीठे निजलिङ्गमिष्टं विन्यस्य तल्लीनमनःप्रचारः । बाह्यक्रियासंकुलनिस्पृहात्मा सम्पूजयत्यङ्ग स वीरशैवः ।। तदेव हस्ताम्बुजपीठमध्ये निधाय लिङ्गं परमात्मचिह्नम् । प्रपूजयेदैक्यधियोपचारैर्नरस्तु बाह्यान्तरभेदभिन्नैः ।। बाह्यपीठार्चनादेतत् करपीठार्चनं वरम् । सर्वेषां वीरशैवानां मुमुक्षूणां निरन्तरम् ।।''

पाणिकरणकपूजाकाले पठ्यमानत्वादिविषयको विवादः पराहतो वेदितव्यः ।

एवं लिङ्गपुराणेन श्रुत्या च लिङ्गधारणस्य कर्तव्यत्वं व्यवस्थाप्य स्कान्दीयशङ्करसंहितावाक्येनापि तत् साधयति—यो हस्तेति । निजमिति नियमेन ध्रियमाणलिङ्गमेवेष्टलिङ्गपदेनोच्यते । तल्लीनमनःप्रचारः, तस्मिन्निष्टलिङ्गे लीनो मनःप्रचारो मनसः सर्वाः क्रिया यस्य । क्रियासंकुलं

को निरन्तर धारण करना है, इस लिंग के धारण के बारे में अशुचि (अपवित्र) भावना को कभी नहीं करना । चलते, खड़े रहते, सोते, जागते, आँख मूँदे रहते, आँख खोलते, शुचि और अशुचि का बिना विचार किये सदा इस इष्टलिंग को धारण करना है । लिंगधारी निरन्तर परिशुद्ध रहता है । लिंग-पूजा सन्ध्यावन्दन आदि कर्मों की तरह नित्य कर्म है, अतः प्रतिदिन इस लिंग को हस्तपीठ में रखकर गन्ध आदि उपचारों से इसकी अर्चना करते रहना है । नित्य और नैमित्तिक सभी कर्म शिवार्पण बुद्धि से ही करना है, न कि कामनाओं से आकृष्ट होकर ।

स्कन्दपुराण की शंकरसंहिता में—''देह में धारण किये हुए इष्टलिंग को प्रातःसन्ध्या आदि के समय हस्तरूप पीठ पर रखकर, मन को लिंग में लीन करके, अन्य विचारों को छोड़कर, बाह्यलिंग और अन्तर्लिंग इन दोनों को एक मानकर, भेदभाव को त्याग कर गन्ध, अक्षत, धूप, दीप आदि से अर्चना करने वाला वीरशैव है । मोक्ष को चाहने वाले वीरशैव के लिये शिवलिंग की बाहर के पीठ पर रखकर पूजा करने की अपेक्षा हस्तकमल पर रखकर पूजा करना ही

इत्यादिना पाणिमन्त्रं पवित्रमिति वाक्यविहितपाण्यधिकरणक-पूजाश्रैष्ठ्यमुक्त्वा—"न तस्य सूतकं वत्स प्राणलिङ्गाङ्ग-संगिनः। जननोत्थं मृतोत्थं वा विद्यते परमार्थतः।। जातके मृतके वापि न त्याज्यं शिवपूजनम्।" इति लिङ्गधारणेन यावज्जीवदीक्षितस्याशुचिकालेऽपि शिवपूजादिकं कर्तव्य-मित्युक्तम्। "देवार्चनादिकं कर्म कार्यं दीक्षान्वितैः सदा। नास्त्यशौचविधिस्तेषां सूतकं च महात्मनाम्।। शैवं देवार्चनं यस्य यस्य चाग्निपरिग्रहः। ब्रह्मचारियतीनां च शरीरे नास्ति सूतकम्।।" इत्यादित्यपुराणेऽपि तथैवाभिहितमिति।

नन्वशुचिकालेऽपि शिवपूजाकरणे कर्मान्तरानुष्ठानस्य

क्रियासमूहः। ऐक्यधिया लिङ्गपरमात्मनोरेकात्मत्वबुद्ध्या प्राणलिङ्गाङ्ग-सङ्गिनः प्राणलिङ्गस्य सङ्गोऽङ्गे वर्तते यस्येति व्याख्येयम्।

कर्मान्तरानुष्ठानेति। स्मार्तकर्मप्रतिबन्धकसूतकस्य शैवेष्वभावे सर्वा-

उत्तम है"। ऐसा कह कर "प्राणस्वरूप इष्टलिंग को देह में धारण करने वाले को जनन, मरण अथवा अन्य कोई भी सूतक बाधक नहीं हो सकते। इसलिए जनन आदि सूतकों के प्राप्त होने पर भी नित्यव्रत रूपी लिंग-पूजा को छोड़ना नहीं चाहिए"। भगवान् शिव ने स्कन्द को यह उपदेश किया है।

इससे शिवदीक्षापूर्वक शिवलिंग को धारण करके जीवन पर्यन्त लिंगपूजा रूपी महाव्रत को स्वीकार करने से जनन, मरण आदि से प्राप्त होने वाले अशुचि कालों में भी शिवलिंग को धारण करना चाहिए और शिवलिंग की पूजा करनी चाहिए, ऐसा बताया गया है। आदित्यपुराण का भी—"जीवन काल तक के लिए जिन्होंने दीक्षा ली है, उनको जनन-मरण आदि अशौच काल में भी अपने नित्य कर्मरूपी देवतार्चन आदि को करते रहना चाहिए। दीक्षाबद्ध शिवलिंगार्चकों के लिए, महात्माओं के लिए, अग्नि का आधान किये हुए लोगों के लिए, ब्रह्म-चारियों के लिए और संन्यासियों के लिए भी सूतक दोष नहीं है" ऐसा प्रमाण होने से आजीवन दीक्षाबद्ध लिंगधारियों के लिए सूतक दोष नहीं है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

शंका—लेकिन जननमरण आदि अशौच के समय भी स्नान से परिशुद्ध होकर लिंग की पूजा कर सकते हैं, तो भोजन बनाना, भोजन कराना, विवाह आदि नैमित्तिक कार्य करने में भी कोई दोष तो नहीं है न?

तदापत्तिः ? इति चेन्मैवम्, नित्यसंकल्पितसंध्यावन्दनादि-कालीनसूर्याद्युपस्थानविनियुक्तमित्रस्येत्यादिमन्त्रोच्चारणस्य, नित्योपासनीयवैश्वदेवादिविनियुक्तमन्त्रपाठस्य, दर्शपूर्णमासेष्टि-विनियुक्तवेदपाठस्य च—"नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि । नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ॥" (२।१०५-१०६) इति मनुस्मृत्यनुरोधेनाऽनध्ययनकाल-

---

ण्येव कर्माणि प्राप्नुवन्तीति प्रश्नाशयः। समाधत्ते—नित्येति। "नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्" (२।१०६) इति मनुस्मृत्यनुज्ञा-नात् सन्ध्यावन्दनकालप्राप्तसूर्याद्युपस्थानमन्त्राणां वैश्वदेवादिमन्त्राणां दर्शपूणमासेष्टिहोममन्त्राणां चानध्याये पाठप्रचारेऽपीतरवेदाध्ययनवद् यावज्जीवसङ्कल्पितशिवपूजाया इवाशुचिकाले कर्मान्तरानुष्ठानस्याऽप्राप्तेः।

समाधान—चतुर्दशी, पूर्णिमा, प्रतिपदा तिथियों में वेद का अध्ययन नहीं करना चाहिए, ऐसा सामान्य रूप से धर्मशास्त्रकारों का निषेध होने पर भी सन्ध्या-वन्दन आदि कुछ नित्य कर्म अनध्याय काल पूर्णिमा आदि तिथियों में भी करना अनिवार्य है। इसलिए सन्ध्यावन्दन के समय उच्चारण किये जानेवाले सूर्योपस्थान आदि के मन्त्र, वैश्वदेव आदि पूजा के समय विनियोग किये जानेवाले वैदिक मन्त्र और 'दर्शपूर्णमासेष्टि' नामक याग के समय विनियोग किये जाने वाले मन्त्र आदि में भी अनध्याय का दोष नहीं माना जाता, क्योंकि जो कर्म नैमित्तिक कर्म माने गये हैं, उन कर्मों में विनियोग किये जाने वाले मन्त्रों को ही अनध्याय के दिनों में उच्चारण नहीं करना चाहिए। नित्य कर्म में विनियोग किये जानेवाले मन्त्रों का तो अनध्याय के दिनों में भी उच्चारण कर सकते हैं, ऐसा धर्मशास्त्र का नियम है। फिर भी इस नियम का उल्लंघन करके वेद के सभी मन्त्रों में सामान्य रूप से अनध्याय का दोष बताकर किसी भी मन्त्र का उच्चारण न किये जाने पर नित्य कर्म के रूप में स्वीकृत सन्ध्यावन्दन, नित्यपूजा के रूप में स्वीकृत वैश्वदेव आराधना और अमावास्या एवं पूर्णिमा में किये जानेवाले दर्शपूर्णमासेष्टि आदि कर्मों का अनुष्ठान कैसे होगा ? आस्तिकों के लिये अनिष्टदायक इस स्थिति के निवारण के लिये नित्य कर्मों के अंगभूत वेदमन्त्रों में अनध्याय दोष जैसे निकाल दिया गया है, वैसे ही यहाँ पर भी "यावज्जीवमिदं दत्तमिष्टलिङ्गं समर्चय" इस प्रमाण से इष्टलिंग की पूजा प्रतिदिन नियमित रूप से किये जाने वाले

कर्तव्यत्वेऽपि न यावद् वेदाध्ययनस्य कर्तव्यत्वम्, तया रीत्या यावज्जीवसंकल्पितशिवपूजाकरणेऽप्यशुचिकाले न कर्मान्तरानुष्ठानापत्तिरिति।

एवं च—"न तस्य सूतकं वत्स" इत्यादिवाक्यमपि शिवपूजामात्रविषयकं मन्तव्यम्, महासङ्कल्पपरिपालनावश्यकत्वमेवैषामशौचनिषेधे बीजमित्याभाति।

महाव्रत की तरह है, अतः बीच में संप्राप्त होने वाले जननाशौच, मरणाशौच आदि के समय भी नित्य संकल्पित लिंगपूजा को प्रतिदिन करना ही है और इसके अतिरिक्त पाक आदि लौकिक कर्म नहीं करने चाहिए।

कई दिन तक किये जाने वाले पौण्डरीक याग में दीक्षाबद्ध स्त्रियाँ बीच में यदि रजस्वला हो जायं, तो भी रजस्सूतक नामक अशौच जैसे नहीं माना जाता, वैसे ही आहिताग्नि नामक अग्निहोत्र प्रतिदिन किया जाने वाला नित्य कर्म होने से उस कर्म के सम्पादन में सम्प्राप्त होने वाले जननाशौच, मरणाशौच आदि दोष नहीं माने जाते, इसी प्रकार जीवनकाल पर्यन्त की जाने वाली इष्टलिंग की पूजा प्रतिदिन को जाने वाली नित्यविधि है, अतः इसके बीच में आनेवाले जननाशौच, मरणाशौच आदि दोष नहीं माने जाते। इसी बात को भगवान् शिव सदृष्टान्त भगवती उमा से कहते हैं कि—हे पार्वति! कुल्ला करने के कारण जीभ के साफ हो जाने से वेद-मन्त्रों के उच्चारण में वह परिशुद्ध मानी जाती है, लेकिन उसी जीभ को अंगुली से स्पर्श करने योग्य नहीं माना जाता, वैसे ही दीक्षाबद्ध लिंगधारी महाव्रतधारी के समान होने से बीच में सम्प्राप्त होने वाले जननाशौच, मरणाशौच आदि की प्राप्ति होने पर भी स्नानमात्र से परिशुद्ध होकर लिंगपूजारूपी नित्यविधि का तो निर्वहण कर सकते हैं, किन्तु इससे भिन्न भोजन बनाना आदि अन्य कर्म करने का विधान नहीं है, ऐसा वेद का अनुशासन है।

जो इष्टलिंगधारी हैं, उनके लिए जननसूतक अथवा मरणसूतक है ही नहीं। लिंगधारण करने वाली स्त्रियाँ नियमपूर्वक प्रतिदिन लिंगपूजा करती हैं, अतः रजस्वला (मासिक धर्म से विशिष्ट) होने पर अथवा प्रसव होने पर भी अपने नित्यव्रत को नहीं छोड़ती। जिस घर में उनका प्रसव होता है, उस स्थान को भगवान् शिव के स्वरूप शिवयोगियों के पादोदक से प्रोक्षण करके नित्यव्रत का सम्पादन कर लेना चाहिए। इस प्रकार भक्तमार्गक्रियाचार स्थल पर श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य ने लिंगपूजा के लिए सूतक आदि दोष नहीं है, ऐसा स्पष्ट

नन्वास्तां तावन्नित्यत्वं पाण्यधिकरणकशिवपूजायाः, तथापि वामहस्तस्यात्यन्तापकृष्टत्वेन तत्र तत्करणमयुक्तमिति चेन्न, "अञ्जलिना वा पिबेदखर्वेण पात्रेण" इति श्रुत्या पानकरणाञ्जलिघटकत्वेन दक्षिणहस्तस्येवास्याप्युपयोग-विधानेन, सकलवैदिकजनावश्यकाग्निमुखविनियुक्ते "अञ्जलौ पूर्णपात्रमानयति" इति श्रुत्या पूर्णपात्राधाराञ्जलिप्रविष्ट-वामहस्तस्योपयोगस्यावश्यम्भावेन, "उरसा शिरसा दृष्टचा

तत्र तत्करणमिति । वामहस्तरूपे पीठे शिवपूजाकरणमित्यर्थः । चेन्नेति । "अञ्जलिना पिबेत्", "अञ्जलौ पूर्णपात्रमानयति" इत्यादिविधिभि-

कर दिया है। अतः शुचि और अशुचि दोनों ही अवस्थाओं में लिंग को धारण करने वाले स्त्री-पुरुषों को केवल स्नानमात्र से परिशुद्ध होकर प्रतिदिन शिवलिंग को बायें हाथ पर रखकर पूजा करते हुए लिंग को समर्पित तीर्थप्रसादों को सेवन करना चाहिए, यही सिद्ध होता है।

शंका—बायां हाथ अपवित्र है, इसलिए इससे दान आदि लेना-देना निषिद्ध माना गया है और लोक का अनुभव भी इसी प्रकार का है, तो इस अपवित्र बायें हाथ में उस पवित्र शिवलिंग को रखकर षोडशोपचारों से पूजा करने की अपेक्षा परिशुद्ध लकड़ी, चाँदी आदि के सिंहासन पर रखकर दायें हाथ से पूजा करना ही उत्तम है ?

समाधान—श्रीगुरु दीक्षा के समय शिष्य के प्राण का लिंग और लिंग का प्राण के साथ संबन्ध जोड़कर विधिविधान से पूजा करके उस लिंग को शिष्य के हाथ में रखकर हे—शिष्योत्तम ! यह तुम्हारा प्राणलिंग है। इसकी तुम प्राण के समान रक्षा करते रहना और एक क्षण भी इस लिंग को छोड़ कर न रहना। कारणान्तरों से वियोग होने पर प्राण छोड़ देने के लिए भी उद्यत रहना। इससे मोक्ष तुम्हारे हाथ में रहेगा, इस प्रकार उपदेश देते हैं।

सिद्धान्तशिखामणि में भी कहा गया है कि इष्टलिंग समस्त अनिष्टों का परिहार करता है। निरन्तर जागरूक होकर देह में लिंग को धारण किये रहना चाहिये। शिर, कण्ठ, बगल, छाती, पेट और भुजा—इनमें से किसी भी स्थान पर इसको धारण कर सकते हैं, लेकिन पेट के नीचे (नाभि के नीचे), जटा में, पीठ पर और मल-मूत्र विसर्जन के स्थान पर अथवा निकृष्ट अंगों में कभी भी

मनसा वचसा तथा। पद्भ्यां कराभ्यां कर्णाभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते॥" इति बौधायनेन रुद्रन्यासे करद्वयस्य परमशिवनमस्कारयोग्यत्वप्रदर्शनेन च, पीठार्चकैरपि करद्वयेन पुष्पाञ्जलिप्रदानाच्च तत्र शिवपूजाकरणे दोषाभावात्।

बहुषु कर्मस्वञ्जलिघटकत्वेन वामहस्तस्य विनियुक्तत्वेन सर्वकर्मानर्हत्वस्य वामहस्ते वक्तुमशक्यतया विहितपूजाधिकरणत्वस्याश्रद्धेयतायां मानाभावादिति भावः।

धारण नहीं करना चाहिए। दीक्षापूर्वक लिए हुए लिंग को अपने अंग में धारण करने वाला मनुष्य हमेशा शुद्ध रहता है। वह अपने इष्टलिंग को हाथ में रखकर एकाग्रचित्त से गन्ध, पुष्प आदि से प्रतिदिन पूजा करता रहे। लिंगधारक वीरशैव निरन्तर मोक्ष की अपेक्षा रखता है। उसके लिये रजत (चाँदी), तांबा आदि बाह्य पीठों के ऊपर इसको रखकर पूजा करके की अपेक्षा हाथ पर रख कर पूजा करना ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार के उपदेशों के प्रमाण से हाथ पर रखकर इष्टलिंग की पूजा करने वाले वीरशैवों के लिये दायें हाथ की तरह बाया हाथ भी परिशुद्ध होता है।

श्रुति में "विस्तृत पात्र को हथेलियों पर रखकर पान करना चाहिए" इस प्रकार यागप्रकरण में अंजलि शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ बायें हाथ के दायें हाथ के साथ न मिलने पर अंजलि शब्द का व्यवहार ही नहीं हो सकता। अमरकोशकार भी मिलाई हुई दोनों हथेलियों को ही अंजलि कहते हैं। सम्पूर्ण वैदिक कर्मांगस्वरूप अग्नि के मुँह में "पूर्ण नामक पात्र को अंजलि से लेना है" इस तरह से श्रुति उसके विनियोग का क्रम बता रही है। इन सब स्थलों में वैदिक कर्मानुष्ठान के समय बायें हाथ का संबन्ध बताया गया है। अतः दायें हाथ की तरह बायां हाथ भी वैदिक कर्मों में पवित्र माना गया है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

गुरुओं और देवताओं को छाती, शिर, पृष्ठ (पीठ), मन, वाक्, पाद, हाथ, कान—इन आठ अंगों को भूमि का स्पर्श करा कर नमस्कार करने को साष्टांग प्रणाम नाम से बौधायन महर्षि कहते हैं। बायां हाथ निरन्तर अपवित्र ही रहता तो स्मृतिकार यहाँ बायें हाथ को नमस्कार के योग्य न बताते। लेकिन नमस्कार करते समय इसका भी संबन्ध जोड़ देने से शिवलिंग को बायें हाथ पर रखकर पूजा करने में भी दोष नहीं है।

ननु यद्यपि भवदुक्तरीत्या सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यस्य लिङ्गधारणपरत्वं सिद्ध्यति, तथापि वेदार्थप्रणेतृभिर्विद्यारण्यैस्तत्परत्वेनाव्याख्यानात् सन्देह इति चेत्, तदेतद्बधिरकर्णजापमनुकरोति, तैरव्याख्यातत्वेऽपि कालहस्तिदीक्षितमञ्चणपण्डिताराध्यप्रभृतिभिस्तत्परत्वेन व्याख्यानात् । विद्यारण्यस्वामिभिस्तु प्रकृतार्थेऽनुपयोगादन्यथा व्याख्याने दोषापाताच्चोपेक्षितम् । इतरथा दुर्गामन्त्राणामपि तैरव्याख्यातत्वेन समयमततत्त्वावेदिनां शङ्कराचार्याणां दुर्गापूजाविनियोगोऽप्यसङ्गत एव स्यात् । किञ्च, सकलवेदार्थधुरन्धरभगवद्बादरायणाचार्यैरेवास्याः श्रुतेरुक्तार्थानुसारेण लिङ्गपुराणादावुपबृंहितत्वेन वेदागमप्रमाणेऽत्र परशिवेनापि सिद्धान्तशिखामण्यादावुपबृंहितत्वेन च सन्देहायोगादिति सर्वमनवद्यम् ।

विद्यारण्यैरिति । सायणाचार्यैरित्यर्थः । बधिरकर्णजापमिति । तद्वत् स्वसाध्यानुपयुक्तं भवतीत्यर्थः । उपदर्शितलिङ्गपुराणादिभिः प्रकृतमन्त्रोपबृंहकैरस्मदभिप्रेतार्थपरत्वसिद्धौ पुरुषान्तरकर्तृकान्यथाव्याख्यानस्याकिञ्चित्करत्वादिति भावः ।

शंका—इष्टलिंग को देह में धारण करने और बायें हाथ में शिवलिंग को रखकर पूजा करने की विधि के इस तरह सिद्ध हो जाने पर भी श्रुतियों पर भाष्य लिखने वाले श्री विद्यारण्याचार्य "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इत्यादि मन्त्रों का लिंगधारणपरक अर्थ नहीं लिखते, तब इन श्रुतियों का लिंगधारणपरक आशय है, यह कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान—विद्यारण्याचार्य द्वारा बताया हुआ अर्थ ही प्रमाण है, यह कहना हमारे लिये बहिरे के कान में जप करने की तरह है, क्योंकि विद्यारण्य की अपेक्षा अतिप्राचीन बड़े-बड़े पण्डित और वेदार्थप्रकाशक कालहस्ति दीक्षित, मञ्चण्ण पण्डित, श्रीपति पण्डित, नीलकण्ठाचार्य, रेणुकाचार्य आदि आदि महापुरुष मन्त्रों का लिंगधारणपरक व्याख्यान कर चुके हैं। विद्यारण्याचार्य जिस सिद्धान्त मार्ग पर प्रविष्ट थे, वहाँ इष्टलिंगधारण का प्रसंग न होने से इसकी चर्चा नहीं करते। वे दुर्गा देवीपरक मन्त्रों की भी इस तरह की व्याख्या नहीं करते, जब कि समय मत के सार तत्त्वों को प्रकाशित करने की इच्छा रखने वाले

अत्रैवोपनिषदि मन्त्रान्तरेणापि तत्सिद्धिः—"ॐ नमो ब्रह्मणे धारणं मेऽस्त्वनिराकरणम्। धारयिता भूयासम्। कर्णयोः श्रुतम्। मा च्योढ्वम्। ममामुष्य ॐ" (तै० आ० १०।९।१) इति। नन्वनेन मन्त्रेण न लिङ्गधारणसिद्धिः,

---

मन्त्रान्तरेणेति। ॐ नमो ब्रह्मणे धारणं मेऽस्त्वित्यादिनेत्यर्थः। धारण-क्रियायाः सकर्मकत्वेन कर्मविशेषस्यापेक्षायां ब्रह्मणः सन्निहितत्वेन तस्यैव कर्मत्वेन ग्रहीतुमौचित्यात्, तस्य च निरवयवतया धारणानर्हतया तदभिन्न-त्वेन शास्त्रबोधितलिङ्गधारण एवायं विधिः पर्यवस्यति। धारणमेव विशि-नष्टि—अनिराकरणमिति। अनादराभाववदित्यर्थः। नित्योपादेयं ब्रह्मानिरा-करणपदार्थ इति स्वयं व्याख्यास्यत्यग्रे। कर्णयोः श्रुतमित्यस्य श्रुतिस्मृति-पुराणैः स्तूयमानत्वेन श्रुतमित्यर्थः। मा च्योढ्वम्। च्युङ् च्यवने। लुङो मध्यमपुरुषस्यैकवचनस्थाने व्यत्ययेन बहुवचनम्। शरीराच्च्युतं मा भूरित्यर्थः। ममामुष्येति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। परलोकं गतादपि मत्तो मा च्योढ्वमिति पूर्वेणान्वितम्।

नन्वनेन मन्त्रेणेति। धारणं मेऽस्त्वित्यत्र सामान्यतः प्रतीताया धारण-क्रियायाः कर्मविशेषानुपादानाल्लिङ्गमात्रविषयकत्वं न सम्भवतीति शङ्कितु-राशयः।

श्री शंकराचार्य दुर्गा देवी की पूजा में इनका विनियोग करते हैं। इस प्रकार वीरशैव मत के पूर्वाचार्यों का "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इत्यादि मन्त्रों की लिंगधारण परक व्याख्या करना न्यायसंगत है।

इसी तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया कि हे गुरु! ब्रह्मणे = ब्रह्मस्वरूप आपको नमस्कार करता हूँ। अनिराकरणं = जाग्रदादि अवस्थाओं में अनादर किये बिना, धारणं = इष्टलिंग धारण, मे = अंगवाच्य मुझ पर, अस्तु = हो, धारयिता = लिंग को धारण करनेवाला, भूयासं = होऊं, कर्णयोः श्रुतं = ऋषि, देवता, छन्द, बीज, शक्ति और न्यास आदि से संस्कृत पंचाक्षरी मन्त्र का श्रवण, अस्तु = मेरा होता रहे, अमुष्य = इस ब्रह्म का, ॐ = प्रणवशब्द वाच्य शिवलिंग, मम = मेरे शरीर से मा च्योढ्वं = कभी वियुक्त न होवे (च्युङ् च्यवने धातु से लुङ् का मध्यम पुरुष)। इस प्रकार यहाँ इष्टलिंग के धारण की विधि स्पष्ट रूप से प्रदर्शित है।

शंका—इस मन्त्र में "मे धारणमस्तु" (मुझे धारण हो), "अहं धारयिता भूयासम्" (मैं धारण करता हूँ) इन दोनों वाक्यों में सामान्यतया धारण मात्र

मे धारणमस्तु, अहं धारयिता भूयासमिति वाक्यद्वयेऽपि विशेषसमर्पकपदाभावेन धारणमात्रप्रतीतेः।

न च देवतान्तरधारणे प्रमाणाभावादाचाराभावाच्च परिशेषाल्लिङ्गधारणसिद्धिरिति वाच्यम्, देवतान्तरधारणाप्रसिद्धावपि नारायणप्रतिनिधित्वेन शङ्खचक्रादिधारणस्य रामानुजमतसिद्धत्वेन प्रामाणिकत्वेन च तस्यैव धारणप्रतियोगित्वेनान्वयसम्भवात्।

न चानिराकरणमित्यस्योत्पादविनाशशालित्वेन निराकरणं हेयप्रपञ्चम्, तन्न भवतीत्यनिराकरणम् उपादेयं ब्रह्मे-

---

परिशेषादिति। धारणक्रियायाः किञ्चित्कर्मकत्वावश्यकत्वेनाप्रसिद्ध्यादिना देवतान्तरधारणे निराकृते परिशिष्टतया लिङ्गकर्मकत्वमेव सिद्ध्यतीति भावः। नारायणप्रतिनिधित्वेनेति। नारायणस्थानीयत्वेनेति यावत्। नारायणरूपत्वबुद्ध्या शङ्खचक्रादिधारण कर्तव्यमिति रामानुजाचार्याणां मतम्। प्रामाणिकत्वेनेति प्रामाणिकतया रामानुजैः स्वीकृतत्वेनेत्यर्थः। अत एव—"चक्राङ्किततनुर्यत्र न तत्र दिवसं वसेत्" इत्युत्तरखण्डनग्रन्थेन न विरोधः।

दीखता है, किस वस्तु को धारण करना है? किसी कर्म पद के न होने से इस धारण पद से लिंग को धारण करना है, ऐसे अर्थ का निश्चय कैसे हो सकता है?

समाधान— इस मन्त्र में कर्म पद के न होने पर भी इष्टलिंग को देह में धारण करना है, इसके अनन्त प्रमाण तो हैं ही, साथ-साथ रूढ़ि भी है। नारायण, गणेश, दुर्गा, सूर्य, शक्ति आदि किसी देवता को देह में धारण करने की परम्परा के और इस प्रकार के धारण को प्रामाणिक सिद्ध करने वाले ग्रन्थ के भी न उपलब्ध होने पर परिशेषन्याय से लिंग ही धारण करने योग्य है, ऐसा सिद्ध हो जाता है।

शंका—मन्त्र में लिंग पद के न होने पर भी आगे-पीछे के मन्त्रों को देखकर यहाँ लिंग पद का अध्याहार कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार नारायण आदि दूसरे देवताओं के प्रतिनिधिस्वरूप शंख, चक्र आदि प्रतीकों के आधार पर शंख, चक्रधारण परक अर्थ भी कर सकते हैं?

समाधान—मन्त्र में 'अनिराकरणम्' इस प्रकार का एक विशेष पद है। निराकरण का मतलब है जन्म लेना और मरना। "निराकरणं न भवतीत्यनिराकरणम्" इस व्युत्पत्ति से इस पद का जन्ममरणरहित अर्थ होता है। इस

त्यर्थकत्वेन तस्यैव धारणान्वयेऽर्थाल्लिङ्गधारणसिद्धिरिति वाच्यम्, एतादृशावयवशक्त्या निराकरणपदोपस्थाप्यत्वस्य मतान्तररीत्या नारायणस्य तद्धर्मणां च वक्तुं शक्यत्वेन तेषामपि धारणान्वयसिद्धावुक्तदोषानपायात् ।

किञ्च, "विभूतिर्यस्य नो भाले कण्ठे रुद्राक्षमालिका । मुखे षडक्षरो मन्त्रस्तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥ उद्‌धूलनं त्रिपुण्ड्रं च मनसापि न लङ्घयेत् । श्रुत्या विधीयते तस्मात् तत्त्यागी

अर्थाल्लिङ्गधारणसिद्धिरिति । उत्पादविनाशशालित्वाभावरूपानिराकरणपदार्थस्य ब्रह्मण्येव सम्भवेन तदभिन्नस्य लिङ्गस्यैव धारणं प्राप्नोतीति भावः । मतान्तररीत्येति । रामानुजमतादिषु नारायणस्य शङ्खचक्रादीनां च ब्रह्मत्वोपगमेनोक्तयुक्तेः साधारण्यादिति भावः ।

किञ्चेति । विभूतिरुद्राक्षमालिकाषडक्षरमन्त्राणां च धारणस्य शैवसिद्धान्तेऽपि नित्यतया विहितत्वेन तेषामपि दर्शितमन्त्रोक्तधारणप्रतियोगित्वं

प्रकार की नाशरहित वस्तु तो ब्रह्म ही है । "ॐ नमो ब्रह्मणे" इस मन्त्र में ब्रह्म पद ही आया है । इसलिये ब्रह्मशब्दवाच्य लिंग का अध्याहार ही किया जा सकता है, किसी अन्य देवता का नहीं ।

शंका—मन्त्र में आये अनिराकरण पद की यौगिक शक्ति को स्वीकार करने पर जनन-मरण रूप निन्द्य प्रपंच की शून्यता जैसे लिंग में है, वैसे ही नारायण आदि देवताओं में और उन देवताओं के प्रतीक शंख, चक्र आदि में भी है, अतः धारण क्रिया में शंख-चक्र आदि को भी कर्म पद के रूप में कहने का मोका मिल जाता है, तो नियमित रूप से शिवलिंग ही कर्म पद है, ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

अपि च, जिस वीरशैव के माथे पर भस्म, कण्ठ में रुद्राक्ष ओर मुंह में पंचाक्षरी मन्त्र नहीं रहता, उसे अन्त्यज की तरह दूर हटा देना चाहिए। वीरशैव कुल में उत्पन्न व्यक्ति को भस्मोद्धूलन, भस्म-त्रिपुण्ड आदि प्रतीकों का निराकरण (तिरस्कार) नहीं करना चाहिए । यदि तिरस्कार करता है तो वह पतित हो जाता है, ऐसा श्रुति का निर्देश है । इसी तरह अनन्त श्रुतियों के प्रमाणवचन विभूति, रुद्राक्ष आदि शिव के प्रतीकों को धारण करने का विधान करते हैं,

पतितो भवेत् ।।" इति भूतिरुद्राक्षधारणाकरणे प्रत्यवायश्रवणेन तयोरेव वात्र धारणप्रतियोगित्वेनान्वयः स्वीक्रियते । धारयिता भूयासमित्यत्र विध्यसम्भवश्चाशीर्लिङ्त्वेन विधायकत्वासम्भवात् । न वा विधिप्रयोजकरूपसत्त्वम्, सर्वलिङ्गवाक्येनान्यथासिद्धत्वादिति पूर्वः पक्षः ।

अत्रोच्यते—अनिराकरणमुपादेयं यल्लिङ्गस्वरूपं ब्रह्म तद्धारयिता भूयासमित्येवार्थः स्वीक्रियते । यत्तु नारायणतद्धर्मणामप्यवयवशक्त्याऽनिराकरणत्वमिति, तदयुक्तम्, "सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते संप्रसूयन्ते" (म०२) इत्यथर्वशिखादिवाक्यैः, "त्रयस्ते कारणात्मानो जाताः साक्षान्महेश्वरात् । पित्रा नियमिताः पूर्वं त्रयोऽपि त्रिषु कर्मसु ।। ब्रह्मा सर्गे हरिस्त्राणे रुद्रः

प्राप्नोति । तावतापि लिङ्गधारणं न सिद्ध्यत्येव । भूयासमित्यत्राशीर्लिङ्प्रदर्शनेन विधित्वमपि न सम्भवतीत्याह—विध्यसम्भवश्चेति । न वा विधिप्रयोजकेति । विधिप्रयोजकरूपं चाप्राप्तत्वरूपं बोध्यम् । तदेवाह—अन्यथासिद्धत्वादिति ।

अत्रोच्यत इति । ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनां सदाशिवादुत्पत्तिश्रवणेन शङ्खचक्रादीनां च—"चक्राङ्कितततनुर्यत्र न तत्र दिवसं वसेत्" इत्यादिना निन्दि-

अतः धारण पद से जब मन्त्र, रुद्राक्ष और भस्म को भी कर्म पद बना सकते हैं, तो शिवलिंग को ही क्यों कर्म पद स्वीकार किया जाय ?

पुनश्च, इस मन्त्र के उत्तरार्ध में "धारयिता भूयासम्" इस प्रकार के आशीलिङ् का प्रयोग होने से "ॐ नमो ब्रह्मणे धारणम्" इस पूर्वार्ध को विध्यर्थक कहने का अवसर नहीं मिलता । फिर भी विधिप्रयोजक रूप है, ऐसा कहने पर पहले के "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य का लिंगधारण रूप अर्थ करने पर उसके प्रमाणान्तरों से प्राप्त हो जाने से अप्राप्तत्वरूप अपूर्व विधि का लक्षण नहीं बनता । फलतः "ॐ नमो ब्रह्मणे" यह वाक्य अन्यथासिद्ध नामक दोष से युक्त हो जाता है ।

समाधान—"चतुर्मुख ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र आदि देवता भगवान् शिव से उत्पन्न होते हैं", "लिंगरूप महेश्वर त्रिमूर्तिस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र

संहरणे पुनः ।।" (७।१।१३।१३,१५) इत्यादिशिवपुराणवचनैश्च नारायणस्योत्पत्तिश्रवणेन तदीयशङ्खचक्रादेश्च— "चक्राङ्कितततनुर्यत्र न तत्र दिवसं वसेत् । यदि तिष्ठेन्महापापी सहस्रब्रह्महा भवेत् ।। अज्ञानादथवा लोभाद् रागतो वा सुदर्शनम् । धत्ते कुलघ्नं तं दृष्ट्वा सचेलं स्नानमाचरेत् ।।" इत्यादिना च निराकृतत्वेनानिराकरणपदोपस्थाप्यत्वाभावात् । विवेचयिष्यते चेदमुपरिष्टादस्माभिः । अस्य तु न निराकरणम्, "कारणं कारणानां धाता ध्याता कारणं तु ध्येयः" इत्युत्पत्त्य-

---

तत्वेन नास्ति तेषामनिराकरणपदार्थत्वयोग्यतेत्युत्तरग्रन्थाशयः । विभूत्याद्याश्रितस्य पूर्वपक्षस्य तु समाधानमग्रे करिष्यति । अस्य तु न निराकरणमिति । अस्य सदाशिवस्य पूर्वोक्तनारायणजनकत्वध्येयत्वेत्युत्तरेणान्वयः । कारणानां

की सृष्टि करके ब्रह्मा के लिए सृष्टि करने का, विष्णु के लिए रक्षा करने का और रुद्र के लिए संहार करने का अधिकार देते हैं" । इस प्रकार के अनेक वचन श्रुति और पुराणों में मिलते हैं । जैसे कि "भगवान् शिव कल्याणप्रद हैं, अतः अन्य सभी देवताओं को छोड़कर उस शिव को ही ध्येय वस्तु समझना चाहिए", "मनुष्य जब पूरे आकाश को चमड़े की तरह देह पर लपेट लेगा उसी दशा में भगवान् शिव को बिना जाने दुःख से मुक्त हो पावेगा" । इसका अभिप्राय यह है कि शिव को जाने बिना कोई मुक्त नहीं हो सकता । इसी प्रकार की अन्य अनेक श्रुतियाँ परशिव को ही ध्येय मानती है, अतः 'अनिराकरणम्' पद से त्रिमूर्ति से अतिरिक्त लिंगधारण का अर्थ लेना ही उचित होगा । इस मन्त्र में 'ॐ' नामक पद है । "ओङ्कारं लिङ्गमाख्यातम्" इस प्रकार के प्रमाणों से उस ॐकार का लिंग अर्थ है । इस लिंग अर्थ को बताने वाले ॐकार की तरह भस्म-रुद्राक्ष परक दूसरा कोई पद उस मन्त्र में नहीं है । इतना ही नहीं, इसके अतिरिक्त जिस अंग में लिंगधारण किया गया है, उस अंग में रुद्राक्ष और भस्म आदि रहना चाहिए, ऐसा नियम है । जिस अंग में रुद्राक्ष, भस्म आदि शिवप्रतीक हैं, उस अंग में लिंग रहना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है । उसके अतिरिक्त श्रीरेणुक आदि महाचार्य लिंगधारण के साथ-साथ भस्म, रुद्राक्ष आदि को महत्त्व देते हैं । लिंगधारण रहित केवल भस्म, रुद्राक्ष

भावेन पूर्वोक्तनारायणादिजनकत्वध्येयत्वादिप्रदर्शनेनानिराकरणपदवाच्यत्वादुक्तरीत्या लिङ्गाकृतिकत्वेन च तस्यैव धारणप्रतियोगित्वेनान्वय इति ।

वस्तुतस्तु धारयिता भूयासमिति सामान्यतो धारणं विधाय धार्यं किमित्याकाङ्क्षायां ममामुष्य ॐ इत्योङ्कारवाच्यकेवललिङ्गस्य विधानात् तस्यैव धारणेऽन्वयः । तथा च अनिराकरणमुपादेयं वेदशास्त्रप्रतिपाद्यत्वेन कर्णयोः श्रुतम् ॐ ओङ्कारपदवाच्यं यच्छिवस्वरूपं लिङ्गम्, तद्धारयिता भूयासमित्यक्षरार्थः ।

ननु—"ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ।।" (ना० पु०

ब्रह्मादीनामपि स कारणम् । धाता ब्रह्मा, ध्याता ध्यानकर्ता, कारणं परमकारणं परमेश्वरो ध्येय इत्यर्थः ।

न केवलमनिराकरणपदस्वारस्यादेव लिङ्गस्य धारणप्रतियोगित्वम्, अपि तु ममामुष्य ओमिति वाक्यशेषे तस्यामेव श्रुतौ स्पष्टमेव तदुक्तमस्तीत्युपपादयति—वस्तुतस्त्वित्यादिना ।

आदि को महत्त्व नहीं देते । इस लिए धारण पाद का लिंगधारण अर्थ करना ही न्यायसंगत है ।

"मेधावी भूयासम्" (मुझे मेधा शक्ति से विशिष्ट बनावें) इस प्रकार के पदसामर्थ्य को बताने वाले आशीर्लिंग के प्रयोग से युक्त इस मन्त्र-वाक्य में विध्यर्थ की कल्पना जैसे की गयी है, वैसे ही "अहं धारयिता भूयासम्" (मैं लिंग धारण करने वाला होऊँ) इस प्रकार के पद सामर्थ्य से विशिष्ट आशीर्लिङ् प्रयोग से इस मन्त्र-वाक्य में भी विध्यर्थ की कल्पना कर सकते हैं और इस वाक्य से विहित शिवलिंग-धारण के लिए 'सर्वलिङ्ग' वाक्य का अनुवाद करके 'पाणिमन्त्रम्' इस वाक्य से हस्तरूप अधिकरणार्थ का भी विधान कर सकते हैं । इससे अन्यथासिद्धि नामक दोष का परिहार हो जायेगा । इस तरह से "ॐ नमो ब्रह्मणे धारणम्" यह मन्त्र इष्टलिंगधारण का ही विधान करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

शंका—स्मृति में कहा गया है कि ॐकार और अथ शब्द सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा के कण्ठ से उत्पन्न हुए हैं । इसलिए ये दोनों पद मंगलवाचक हैं । इस

१।५१।१०) इति मङ्गलार्थकत्वेन "अकारो वै सर्वा वाक्"(ऐ० आ० २।३।६) इत्यकारस्य सर्ववागन्तर्गतोङ्कारप्रकृतित्वसिद्धावकारस्य विष्णुवाचकत्वेन च न लिङ्गार्थकत्वसिद्धिरोङ्कारस्येति चेन्मैवम्, "अकारं ब्रह्माणं नाभौ, उकारं विष्णुं हृदये, मकारं शवं भ्रूमध्ये, ओङ्कारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते" (नृ० उ० ३।४) इति तापनीयोपनिषद्वाक्येन, "एवं तिसृभिरेवैतन्मात्राभिरखिलं त्रिधा। अभिधाय शिवात्मानं बोधयत्यर्धमात्रया॥" इति शिवपुराणवचनेन, लिङ्गपुराणे विष्णुकृतशिवस्तोत्रे—

न लिङ्गार्थकत्वसिद्धिरिति। मङ्गलार्थकत्वाद् विष्णुवाचकाकारप्रकृतिकत्वाच्चोङ्कारस्येति शङ्कितुराशयः। अकारं ब्रह्माणमित्यादि तापनीयवाक्यशिवपुराणवचनाभ्यां लिङ्गपुराणीयविष्णुस्तोत्रादिभिश्च मात्रात्रयाधारभूतार्धमात्राभागेनोङ्कारस्य परमशिववाचकत्वबोधनाल्लिङ्गार्थकत्वं सिद्धयतीत्युत्तरग्रन्थाशयः।

स्मृतिप्रमाण से ॐकार मंगलवाचक है, ऐसा निश्चय होता है, न कि शिवलिंग वाचक। "अकारो वै सर्वा वाक्" इस प्रमाण से ॐकार के अवयवस्वरूप अकार, उकार और मकारों में प्रथम अकार वाग्रूप है, ऐसा जान पड़ता है। इस अकार को विष्णुवाचक भी कह सकते हैं। अकार आदि अक्षरों वाला ॐकार विष्णुवाचक अथवा दूसरे देवताओं का भी वाचक हो सकता है, तब ॐकार नियमित रूप से शिवलिंग का वाचक है, ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—ॐकार के अवयवस्वरूप अकार, उकार और मकार हैं। इनमें "अकारस्वरूप चतुर्मुख ब्रह्मा का नाभि स्थान में, उकारस्वरूप विष्णु का हृदय स्थान में, मकारस्वरूप रुद्र का भ्रूमध्य स्थान में और ॐकार स्वरूप लिंग का द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करना चाहिए" इस तापनीय श्रुति में, "ॐकार के अवयवस्वरूप अकार, उकार और मकार नामक तीन मात्राएँ क्रम से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का बोध कराती हैं। बची हुई आधी मात्रा त्रिमूर्तियों के साक्षी स्वरूप शिवलिंग का बोध करा रही है" इस शिवपुराण के वचन में और "हे शिव ! सर्वज्ञस्वरूप एवं ॐकारस्वरूप आपको नमस्कार करता हूँ" इस विष्णुकृत स्तुति में शिवलिंग की महिमा वर्णित है। इस प्रकार

"सर्वज्ञाय नमस्तुभ्यमोङ्काराय नमो नमः" इत्यनेन चार्धमात्रास्वरूपौङ्कारस्य परमशिववाचकत्वाभिधानात् ।

न चाकारप्रकृतिकौङ्कारस्य अकारवाच्यविष्णुवाचकत्वमिति वाच्यम्, अशेषवाक्यानामकारप्रकृतिकत्वेन तद्वाच्येनैव वाच्यसिद्धौ शक्तिमात्रोच्छेदापत्तेः, "अकारो वै सर्वा वाक्" (ऐ० आ० २।३।६) इत्यस्य "ओङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा" (छा०उ० २।२३।३) इतिवत् स्तावकत्वात् । अन्यथा पूर्वपूर्ववर्णानामुत्तरोत्तरविनाश्यत्वेनाकारादित्रयस्यार्धमात्रादिलीनत्वेन तदात्मतापत्त्या तद्वाच्यशिववाचकत्वमिति वैपरीत्यापत्तेः ।

शक्तिमात्रोच्छेदापत्तेरिति। विष्ण्वतिरिक्तेऽर्थे कस्यापि पदस्य शक्तिर्न सिद्ध्येदिति भावः। का तर्ह्यकारो वै सर्वा वागित्यस्य गतिरित्यत आह—स्तावकत्वादिति। सन्तृण्णेत्यस्य व्याप्तेत्यर्थः। प्रकृतित्वेन लयाधिष्ठानत्वेन च तिसृणां पूर्वासां मात्राणामर्धमात्रायां लीनत्वेनार्धमात्रावाच्यपरमात्मतत्त्वमात्रवाचकत्वं तासामपि सिद्ध्येदित्याह—वैपरीत्यापत्तेरिति।

के अनन्त वेदागमपुराण आदि के प्रमाणों के आधार पर इस मन्त्र में आया हुआ ॐकार शिवलिंगपरक है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है ।

शंका—ऊपर के समाधानों से ॐकार शिव को बता रहा है, यह निश्चय हो जाता है, लेकिन वह लिंग को नहीं बता रहा है। इस लिए वह मन्त्र लिंगधारण का विधान कर रहा है, यह बात हम कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—इस प्रकार के अनेक प्रमाण 'लिंग ॐकारवाच्य है' इसी बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से कह रहे हैं। इतना ही नहीं, "जो अपरिच्छिन्न, अव्यक्त, सनातन और ब्रह्मपदवाच्य लिंग है, वह भक्तों की उपासना सिद्धि के निमित्त अपने में ही रहनेवाली माया-शक्ति से परिच्छिन्न स्वरूप का हो जाता है। जिस वस्तु में यह चराचरात्मक जगत् लीन हो जाता है और जिस वस्तु से बार-बार उत्पन्न होता है, उसी वस्तु को लिंग कहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र आदि दिक्पाल गण एवं सनक, सनन्दन आदि महर्षि, सिद्ध, गन्धर्व, दानव, मानव आदि सभी लोग अपने अपने हृदय में निरन्तर उसी लिंग का ध्यान करते रहते हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग प्रयत्नपूर्वक उस शिवलिंग का ध्यान करके समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं" ऐसा श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य का स्पष्ट निर्देश है ।

अत एव मङ्गलार्थकत्वमपि सिद्धयति, "समेधयति शं नित्यं सर्वार्थानामुपक्रमे । शिवमिच्छन्मनुष्याणां तस्माद्देवः शिवः स्मृतः ।।" (म० भा० ७।१७३।९०), "समा भवन्ति मे सर्वे दानवाश्च सुराश्च ये । शिवोऽस्मि सर्वभूतानां शिवत्वं तेन मे सुराः ।।" (म० भा० ८।२।३-४) इति कर्णपर्वणि शिवपदनिरुक्त्या शिवस्य सर्वमङ्गलप्रदत्वनिश्चयात् ।

न चौङ्कारस्य शिववाचकत्वेऽपि लिङ्गपरत्वे किमायातमिति वाच्यम्, लिङ्गे सुषुप्तिरिति पूर्वोदाहृतहंसोपनिषद्वाक्येन शिवस्यैव लिङ्गरूपत्वावसायात्, 'ओङ्कारं लिङ्गमाख्यात'मित्यागमवचनेन साक्षादेव तत्परत्वाच्च ।

यच्चोक्तं भूतिरुद्राक्षयोरेव धारणेऽन्वय इति, तत्र विकल्पयामः—प्राधान्येनान्वयो वा लिङ्गधारणनान्तरीयकत्वेन वा ?

"ओङ्कारश्चाथशब्दश्च" (ना० पु० १।५१।१०) इत्युक्तमोङ्कारस्य मङ्गलार्थकत्वं तु शिववाचकत्वेऽत्यन्तमनुकूलमित्याशयेनाह—'समेधयति शमित्यादिना । मङ्गलवर्धकत्वात्, मङ्गलप्रदत्वात्, मङ्गलरूपत्वाच्च शिवस्य तदर्थकौङ्कारे माङ्गलिकत्वस्यात्यन्तमौचित्यात् ।

किमायातमिति । ओङ्कारस्य लिङ्गपरत्वं न सिद्धयतीति भावः । लिङ्गे सुषुप्तिरिति । हृत्पुण्डरीकावयवदलेषु चरतो जीवस्य लिङ्गप्राप्तौ परमात्मलयापरपर्यायायाः सुषुप्तेः प्रदर्शनाल्लिङ्गस्य परमात्मरूपत्वावसायात् तथा न शङ्क्यमिति भावः ।

भूतिरुद्राक्षधारणस्य लोकशास्त्रसिद्धतया तयोरेव धारणप्रतियोगित्वं कस्मान्नेति पूर्वमाशङ्कितं तन्निराकरोति—यच्चोक्तमित्यादिना ।

ॐकार का मंगलपरक अर्थ करना महाभारत के भी अनुकूल है । जैसा कि "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चतुर्विध पुरुषार्थ को देकर रक्षा करने के कारण वह शिव कहा कहलाता है अथवा समस्त देव-दानव आदि का सम्पूर्ण मंगल करने के कारण उसका शिव नाम हो गया है" । इस प्रकार महाभारत में शिवपद की निरुक्ति होने से शिव सकलमंगलार्थक, सर्वमंगलप्रद और सर्वमंगलस्वरूप है, ऐसा सिद्ध हो जाता है । इस तरह ॐकार की मंगलार्थता के कारण उसके लिंगधारणपरक अर्थ की पुष्टि हो जाती है ।

नाद्यः तदुपस्थापकपदाभावात् । नहि भूतिरुद्राक्षोपस्थापक ओङ्कार इति कुत्रापि प्रसिद्धम् । न द्वितीयः, इष्टापत्तेः । केचित्तु—अनिराकरणमित्यनेन भूतिरुद्राक्षयोर्ग्रहणम्, ओमिति लिङ्गस्य । तथा च त्रयाणामपि धारणे प्राधान्येनान्वय इत्याहुः ।

यदप्युक्तम्—भूयासमित्यत्राशीर्लिङ्त्वेन न विधिसंभव इति, तन्मन्दम्, "मेधावी भूयासम्" (ऋ० खि० १०।१५१।६), "अहमेकः प्रथममासम्" (अ० शिर० १) इत्यत्रेव तत्संभवात् । न च तत्र विधिप्रयोजकरूपसत्त्वेन तत्संभवेऽप्यत्र तदभावान्न विधिसंभव इति वाच्यम्, अत्रापि "धारयिता भूयासम्" (तै० आ० १०।९।१) इति विहित-लिङ्गधारणं "सर्वलिङ्गं स्थापयति" (तै० आ० १० १६।१) इत्यनेनानूद्य पाणिमन्त्रमित्यधिकरणमात्रविधिरित्यङ्गीकारेऽ-न्यथासिद्ध्यभावेन विधिसंभवात् ।

लिङ्गवाचकमोमिति पदमस्ति, भूतिरुद्राक्षवाचकं तु किमपि नास्तीत्याह—पदाभावादिति । इष्टापत्तेरिति । अविरुद्धोक्तिनिराकरण-प्रयोजनाभावादिति तात्पर्यम् ।

अन्यथासिद्ध्यभावेनेति । सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यनेन विहितलिङ्ग-धारणस्य प्राप्तत्वादप्राप्तत्वरूपविधित्वप्रयोजकरूपं नास्तीति भवदभिप्रायः, परं धारयिता भूयासमिति विहितलिङ्गधारणं सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यनेना-नूद्य पाणौ मन्त्रमित्यधिकरणमात्रविधाने विधित्वप्रयोजकरूपमस्त्येवेति परेणोच्यत इत्यालोचनीयम् । "मेधावी भूयासम्" (ऋ० खि० १०।१५१।६)

शंका—यह मन्त्र लिंगधारण की मुख्यार्थता का बोधक है, तो भी अन्य देवतापरक व अन्य देवताओं से संबद्ध शंखचक्रधारणपरक अर्थ करने पर क्या बाधा हो सकती है ?

समाधान—इस प्रकार अन्य देवतापरक अथवा शंखचक्रधारण परक अर्थ करने पर शैवसिद्धान्त का विरोध होगा, क्योंकि उसके अनुसार शंख, चक्र आदि का धारण निषिद्ध माना गया है । इसके अतिरिक्त प्रकरणविरोध नामक दोष की भी संभावना है । जैसा कि इसी तैत्तिरीय श्रुति के "दहरं विपाप्मं"......

आस्तां वा तावदयमर्थवादः, तथापि न लिङ्गधारण-परत्वं हीयते, "कर्णयोः श्रुतमनिराकरणम्" (तै० आ० १०।९।१) इत्यादिना तस्यैव स्मृतिसमर्पणात्, उक्तरीत्या "दहरं विपाप्मम्" (तै० आ० १०।१०।२३) इत्यस्य "सर्व-लिङ्गं स्थापयति" (तै० आ० १०।१६।१) इत्यस्य च बाह्या-भ्यन्तरलिङ्गधारणपरत्वेन तत्प्रकरणगतस्य "नमो ब्रह्मणे" इत्येतस्य तदन्यपरत्वायोगाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

उपबृंहितं चैतदेवमेव ब्रह्माण्डपुराणे—"नमोऽस्तु ब्रह्मणे तुभ्यमाचार्याय महात्मने । तन्निराकरणं विश्वं जन्यत्वान्मृत्यु-

---

इति मेधायाः प्रार्थ्यमानत्वेऽपि पदसामर्थ्यरूपलिङ्गेनानेन मन्त्रेणात्मानं मेधाविनं कुर्यादिति विधेः कल्पनवत् "अहं धारयिता भूयासम्" (तै० आ० १०।९।१) इत्यत्र लिङ्गबलेनैवानेन मन्त्रेण धारणं कुर्यादिति विधेः कल्पनं भविष्यतीति तात्पर्यम् । अहमासमित्यत्र विधित्वशङ्कागन्धोऽपि नास्ति, तथा पीश्वर एव सनातनत्वेन चिन्तनीय इति विधिर्यथा कल्प्यते, तद्वदिति भावः ।

वैपरीत्येऽपि नास्ति काचित् क्षतिरित्याह—आस्तां तावदिति । तथा-पीति । अस्मिन् कल्पेऽनिराकरणत्वप्रणवरूपत्वबोधनेन धृतलिङ्गस्य गुण-स्तुत्योर्लाभादर्थवादत्वं गुणविधित्वं च बोध्यम् । तदन्यपरत्वेति । प्रकरण-बलान्नमो ब्रह्मण इति नमस्कारोऽपि लिङ्गरूपब्रह्मोद्देश्यक एव ।

उपबृंहितमिति । विस्तरेण व्याख्यातमित्यर्थः । मृत्युनेति । "जातस्य मरणं ध्रुवम्" इति नियमाज्जन्यं यावद्विश्वं मृत्युना निराक्रियते । ब्रह्म तु तदुपासितव्यम्" इस मन्त्र से दहराकाश में ज्योतिर्लिंग का धारण और "निधनपतये नमः''''सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस वाक्य से स्थूल देह में इष्ट-लिंग के धारण करने का विधान करके 'पाणिमन्त्रम्' इस वाक्य से हथेली पर लिंगपूजा का विधान किया गया है। यहाँ 'पवित्रम्' यह पद शुचि व अशुचि के समय भी लिंगपूजा और लिंगधारण की पवित्रता का विधायक है । इसी प्रकरण में "ॐ नमो ब्रह्मणे धारणम्" (हे गुरु ! मुझे शिवलिंग का धारण कराकर पवित्र करें) इस प्रकार के शिष्य की प्रार्थना से संबद्ध मन्त्र का भी लिंगधारणपरक अर्थ करके अन्य देवतापरक व अन्य शंखचक्रधारणपरक अर्थ करने पर प्रकरणविरोध नामक दोष होता है ।

नैव हि ॥ अनिराकरणं ब्रह्म कारणत्वाच्चिरन्तनम् । अनिराकरणं मेऽस्तु धारणं देशिकोत्तम ॥ वेदशास्त्रपुराणेषु प्रसिद्धं कर्णयोः श्रुतम् । अहं धारयिता देवो भूयासं सर्वकारणम् ॥ ब्रह्मविष्ण्वादयो देवाः प्रसिद्धाश्च तथा श्रुताः । ते निराकरणाः सर्वे मृत्युना सर्वशत्रुणा ॥ मे निराकरणास्त्वेते नहि धार्य्याः कदाचन । नाहं धारयिता देवान् भूयासं मज्जतः सुरान् । न शक्नुवन्ति मां ततुं मज्जन्तं मृत्युसागरे । ऊर्ध्वं ममेदमोंलिङ्गं मां चामुष्य समाश्रय ॥" इति ।

कारणत्वादर्थाद् मूलकारणत्वान्न केनापि निराक्रियते । तस्मात् तदेवानिराकरणमित्युच्यते, अन्यत् सर्वं निराकरणमित्युच्यते । तेनाहं ब्रह्मण एव धारयिता भूयासं नान्येषां देवानामित्यर्थः । अत्र हेतुमाह—मज्जतः सुरानिति । संसारे स्वयं मग्नाः सुरा अन्योद्धरणं कर्तुं कथं शक्ष्यन्तीति तात्पर्यम् । अत्र देवान् सुरानिति पौनरुक्तिपरिहारः—"वारुणीग्रहणात् सुराः" (१।४५।३८) इति वाल्मीकिरामायणोक्तेः सुरशब्दस्य यौगिकत्वाश्रयणेन करणीयः । मां चामुष्य समाश्रयेति देशिकं प्रति प्रार्थनेयम् । अमुष्य ओङ्कारलिङ्गात्मकस्य समाश्रयणं मां कारयेत्यर्थः ।

इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्डपुराण में कहा गया है कि—"हे गुरुश्रेष्ठ ! ब्रह्मस्वरूप एवं महात्मस्वरूप आपको नमस्कार है । यह दीखने वाला प्रपंच एक समय पर उत्पन्न होने के कारण कालान्तर में कालकवलित हो जाता है । सृष्टि, स्थिति और संहार का कारणस्वरूप ब्रह्मशब्दवाच्य शिवलिंग ही सबका कारण है । इसका निराकरण (कभी रहता है और कभी नहीं रहता है) नहीं किया जा सकता । अन्य देवता निराकरण करने योग्य हैं । इस प्रकार सन्मय (शाश्वत) शिवलिंग को ही धारण करना चाहता हूँ, न कि निराकरणयोग्य अन्य देवताओं को । वेदशास्त्र, पुराण आदि में बताये गये इस शिवलिंग को मुझे धारण कराकर कृतार्थ करें । चतुर्मुख ब्रह्मा आदि सभी देवता इस शिवलिंग से उत्पन्न होने के कारण नाशवान् हैं, इसलिए इन देवताओं को धारण करने की मेरी इच्छा नहीं है । इस जननमरण रूप संसार में डूबे हुए ये देवता मुझे इस दुःखसागर से पार नहीं कर सकते । अतः ॐकारपदवाच्य यह शिवलिंग मेरे अंग से कभी भी वियुक्त न हो, ऐसा अनुग्रह आप करें" । इस प्रकार उस मन्त्र में आये हुए "ब्रह्मणे, धारणम्, भूयासम्, अनिराकरणम्, ओं" इन शब्दों का अनुवाद करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मन्त्र इष्टलिंग के धारण का विधान करता है, न कि अन्य देवता व अन्य शंख, चक्र आदि प्रतीकों के धारण का ।

स्कान्दे कुमारसंहितायां यात्राखण्डे—"महातपस्विनां चैव यतीनां योगिनां तथा। शाम्भवानां द्विजातीनां शैवानां लिङ्गधारिणाम् ।। महापाशुपतानां च मन्नामव्रतधारिणाम् । मृत्युञ्जयरतानां च ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।। पञ्चाक्षररतानां च मत्प्रीत्या द्विजसेविनाम् । सर्वेषामपि सिद्धानां नित्यं देयं गिरोश्वर ।। लिङ्गधारणकं नाम व्रतं माहेश्वराभिधम् । ये धारणं प्रकुर्वन्ति ते यान्ति शिवमन्दिरम् ।। व्रतं पाशुपतं नाम शिवलिङ्गार्चनं शुभम् । षाट्कालिकं त्रिकालं वा एककालं महेश्वरम् ।। ये पूजयन्ति विप्रर्षे ते यान्ति शिवमन्दिरम् ।" इत्यादीन्युक्तार्थोपोद्बलकान्यनुसन्धेयानीति ।

तैत्तिरीयशाखायामेव—"यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपश्छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्तृणोतु अमृ-

---

यश्छन्दसामृषभ इति । यद्यपि पूर्वोऽयं च मन्त्रोऽधीतवेदस्याविस्मरणाय धारणाशक्तिप्रार्थनाभिप्रायकः, तथापि पुराणेषु भगवता वेदव्यासेन लिङ्गधारणपरत्वेनापि व्याख्यातत्वात् तत्राप्यस्य तात्पर्यमवश्यं मन्तव्यम् । यश्छन्दसामृषभ इति । वेदानां ऋषभः स्वामी कर्तृत्वेन प्रतिपाद्यत्वेन च

स्कन्दपुराण का निम्न वचन भी इस अभिप्राय का समर्थन कर रहा है। जैसे कि—'हे ब्राह्मणोत्तम ! तपस्वी हो, संन्यासी हो, योगी हो, लिंगधारी हो, पाशुपत हो, द्विजाति हो, शैव हो, शिवव्रती हो, मृत्युंजयव्रती हो, ब्राह्मण हो, अथवा पंचाक्षर-मन्त्रासक्त हो, सबको शिवलिंग-धारण नामक महाव्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। जो शिवलिंग-धारण नामक व्रत का आचरण कर रहे हैं, जो लोग शिवलिंग की छः कालों में, तीन कालों में, अथवा एक ही समय पूजा कर रहे हैं, वे लोग पवित्रात्मा होकर शाश्वत शिवानन्द को प्राप्त कर लेते हैं, देह-वियोग के बाद शिव से मिलकर एक हो जाते हैं"। इस प्रकार यहाँ भी लिंगधारण की महिमा का विस्तारपूर्वक नाना प्रकार से वर्णन किया गया है।

इस प्रसंग में तैत्तिरीय शास्त्र का यह मन्त्र भी ध्यान देने योग्य है—यः = जो शिव, छन्दसां = समस्त विद्याओं का अथवा समस्त वेदों का, ऋषभः = कर्ता

तस्य देवधारणो भूयासम् ।। शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुतम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः श्रुतं मे गोपाय" (तै० आ० ७।४।१) इति मन्त्रेणापि तदेव सिद्धयति । "देवधारणो भूयासम्" (तै० आ० ७।४।१)

विश्वरूपः सर्वान्तर्यामी। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूवेति। अमृतात् मोक्षार्थम्, फलस्य हेतुत्वविवक्षया पञ्चमी, अध्ययनेन वसतीत्यत्र तृतीयावत्। छन्दोभ्योऽधिसम्बभूव। आधिक्येन ज्ञापित इत्यर्थः। स मेन्द्रो मेधया स्तृणोतु। स इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमेश्वरः, मेधया धारणाख्यया बुद्धया मा मां स्तृणोतु आच्छादयतु, योजयत्विति यावत्। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्। तादर्थ्यस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षायां षष्ठी। मोक्षार्थं देवस्य लिङ्गात्मकशिवस्य धारणो धारणकर्ता भूयासं भवानि। शरीरं मे विचर्षणं भूयादिति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। मे मम शरीरं विचर्षणं दृढं भूयादित्यर्थः। जिह्वा मे मधुमत्तमा प्रियवादिनी भूयात्। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुतं भूरि बहु विश्रुतं विशेषरूपेण श्रुतं भूयादिति। ब्रह्मणः कोषोऽसि वेदस्याधारोऽसि। मेधया धारणाशक्त्या पिहितो रक्षितो वेदो मम यथा भवेत्,

होने मे, अथवा वेदों द्वारा प्रतिपाद्य होने से स्वामी है, च = और, विश्वरूपः = सर्वान्तर्यामी है, अमृतात् = मोक्ष के प्रतिपादक, छन्दोभ्यः = वेदों से, अधिसम्बभूव = मुख्यतया ज्ञापित है, स इन्द्रः = परम ऐश्वर्यशाली वह परमेश्वर (परशिव), मा = मुझको, मेधया = इष्टलिंग को धारण करना है, ऐसी बुद्धि से, स्तृणोतु = विशिष्ट करे, अथवा बल प्राप्त करावे। अमृतस्य = मोक्ष के लिए, देवधारणः = देवशब्दवाच्य शिवलिंग को धारण करने वाला, भूयासं = होऊँ। अतः = मुक्तिसाधक इष्टलिंग को धारण करने से, मे = मेरा शरीर, विचर्षणं = पापरहित होवे। मे = मेरी, जिह्वा = जीभ, मधुमत्तमा = रुचिकर वचन बोले। कर्णाभ्यां = कानों से, भूरि = निरन्तर, विश्रुतं = शिवज्ञानयोग्य शास्त्र का श्रवण करूँ। ब्रह्मणः = शिव का, कोशोऽसि = तलवार के आश्रय स्वरूप म्यान की तरह अधिष्ठान हो, मेधया = अज्ञानावृत बुद्धि से, पिहितः = आवरित (ढका) हूँ, मे = मुझे, श्रुतं = भक्ति, ज्ञान आदि का श्रवण कराकर, गोपाय = इष्टलिंग का देह से वियुक्त न हो ऐसी कृपा करें। इस प्रकार यह मन्त्र लिंगधारण एवं मुक्ति का प्रतिपादन कर रहा है।

शंका—इस मन्त्र में लिंगवाचक पद नहीं है। 'देवधारणम्' यहाँ देव पद का अवयवों की शक्ति से शिवलिंग अर्थ करने पर अन्य देवताओं से सम्बद्ध अर्थ भी

इत्यत्र देवशब्दस्य "तं देवतानां परमं च दैवतम्" (श्वे० उ० ६।७) इति, "तस्माद् देवः शिवः स्मृतः" (म० भा०) इति च परमशिवे प्रयोगदर्शनाद् देवतान्तरधारणविधायकप्रमाणा-भावावाचाराभावाच्च धारणशब्दस्य कर्तरि ल्युडन्तत्वेन देवं धरतीत्यर्थे सत्यमृतस्य मोक्षार्थं देवधारणो यतो भूयासम्,

---

एतदर्थं मे श्रुतं गोपाय मदधीतं रक्षेत्यर्थः। यद्वा धारणाशक्त्या पिहित आच्छादितः पुटके स्थापित इत्यर्थः, लिङ्गरूपेणेति यावत्, एतादृशो भूत्वा मे श्रुतं श्रुतिपुराणादिषु धार्यत्वेन बोधितं तदभिन्नं लिङ्गं गोपाय रक्षेत्यर्थः। मद्देहाद् यावज्जीवं च्युतं यथा न भवेत् तादृशं कुर्वित्यर्थः। देव-शब्दस्य मुख्यया वृत्त्या परमशिवस्यैव बोधकत्वमित्यत्र प्रमाणं दर्शयति— तस्माद्देवः शिवः स्मृत इति। कर्तरि ल्युडन्तत्वेनेति "कृत्यल्युटो बहुलम्" (पा० ३।३।११३) इत्यनेन। अत एव पुल्लिङ्गत्वोपपत्तिः। भावार्थकत्वे तु "नपुंसके भावे क्तः, ल्युट् च" (पा० ३।३।११४-११५) इत्युक्तेर्नपुंसकत्वं

कर सकते हैं, तो लिंगधारणपरक यह अर्थ नियमित रूप से कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान— मुख्यार्थ वृत्ति से देव शब्द परशिव में जैसे रूढ है, वैसे अन्य देवताओं में रूढ नहीं है। इस विषय पर "तं देवतानां परमं च दैवतम्" (देवताओं में शिव ही परदेवता है), "तस्माद् देवः शिवः स्मृतः" (इससे शिव ही देव पद का मुख्यार्थ है, अन्य देवता नहीं हैं), इस प्रकार के अनेक वचन देव पद का परशिव अर्थ बता रहे हैं। "देवं धारयतीति देवधारणः" इस व्युत्पत्ति से कर्ता के अर्थ में ल्युट् प्रत्यय आने पर देवधारण ऐसा सिद्ध हो जाता है, "अमृतस्य देवधारणो भूयासम्" (मुक्ति के निमित्त देवशब्दवाच्य शिवलिंग का धारण करता हूं) यह अर्थ सिद्ध हो जाता है। इसको न मानकर देव शब्द का अर्थ नारायण आदि अन्य देवतापरक करने पर उस प्रकार के देवताओं को देह में धारण करना, इस अर्थ को बताने वाला कोई प्रामाणिक ग्रन्थ अथवा लोक-व्यवहार भी नहीं दीखता। इससे देव शब्द के आगे का धारण पद भी व्यर्थ हो जाता है। देह में शिवलिंग को धारण करने का विधान वेद, पुराण आदि अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ कर रहे हैं। इतना ही नहीं, अनादि काल से हम लिंगधारण करने वालों को भी देख ही रहे हैं।

अत इन्द्रो निग्रहानुग्रहसमर्थः स लिङ्गरूपः शिवो मा मां मेधया स्तृणोतु संयोजयत्विति पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातम् ।

स्यात् । इन्द्रशब्दार्थमाह—निग्रहानुग्रहसमर्थ इति । तादृशसामर्थ्यमेव परमैश्वर्यम् । मेधया स्तृणोत्विति । मेधां विना देवधारणेऽवश्यं प्रमादः स्यात् । स मा भूदेतदर्थमिदं मेधाप्रार्थनं बोद्धव्यम् ।

कैवल्य, अथर्वशिरस्, कालाग्निरुद्र, मुण्डक आदि उपनिषदें ऐसा बता रही हैं कि लिंगधारणरूप पाशुपत व्रत का अनुसरण करने वाला ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो सकता है । ब्रह्मसूत्र के ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' इस प्रथम सूत्र के 'अथ' शब्द का वीरशैव भाष्यकार श्रीपति पण्डिताराध्य इस प्रकार अर्थ करते हैं—

श्रीगुरु शिष्य के स्थूल, सूक्ष्म, कारण नामक तोन शरीरों में अनादि काल से रहने वाले और एक के ऊपर एक रहने वाले आणव, मायीय और कार्मिक नामक मलत्रय का वेधा, मनु और क्रिया नामक दीक्षाओं से निवारण करके और शक्तिपात करने के बाद इष्टलिंगधारण रूप शिवदीक्षा देकर गुरु, लिंग, जंगम, पादोदक, प्रसाद, मन्त्र, रुद्राक्ष ओर भस्म नाम अष्टावरण तथा भृत्याचार, गणाचार, सदाचार, लिंगाचार और शिवाचार नामक पंचाचारों का उपदेश करते हैं । तब वह शिष्य ब्रह्मजिज्ञासा के लिए अधिकारी होता है ।

अन्यत्र भी बताया गया है कि लिंगांगियों का पुनर्जन्म नहीं है । लिंगधारण रूप यह पाशुपत व्रत सांसारिक बन्धन को निवृत्त कर देता हैं । लिंगधारण ही सम्पूर्ण उपनिषदों का सार है । जो ब्रह्मवाच्य शिवलिंग को स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीनों शरीरों में भक्ति से धारण करता है और जो इस ब्रह्मलिंग का ध्यान करते हुए दुनियाँ में विचरण करता है, वही पाशुपत कहलाता है । परशिव ही लिंग है । शरीर ही अङ्ग है । इन अङ्ग लिंगों का संयोग ही आश्रय है । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी—इनमें जो भी अपने अंग में लिंग को धारण करता है, वही अत्याश्रमी कहलाता है ।

सामवेद को जैमिनीय शाखा की सदानन्दोपनिषद् कहती हैं कि द्विज मात्र को हृदयाकाश में ज्योतिर्लिंग को धारण करने की सामर्थ्य हो या न हो, किन्तु श्रीगुरु के द्वारा संस्कृत इष्टलिंग को अपने वक्षस्थल पर अवश्य धारण करना चाहिये ।

''यो वामहस्तार्पित'' इत्यादि वचन भी इस बात की पुष्टि कर रहा है। इसका अर्थ इस प्रकार है—ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, जो गुरु के द्वारा बायें हाथ पर रखे गये शिवलिंग को निरन्तर धारण करता है, वह निरंजनस्वरूप पर-

अत्रेदं विचार्यते—"यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः" (तै० आ० ७।४।१) इत्ययमनुवाद इत्यभ्युपेतव्यम्, यच्छब्दोपबन्धात् । तस्य च पुरोवादसापेक्षत्वेन—"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" (तै० आ० १०।११।१२) इत्येतन्नारायणोपनिषद्वाक्यमिह पुरोवादः । तत्र च "पद्मकोशप्रतीकाशम्" (तै० आ० १०।११।६) इत्यादिना हृदयं निरूप्य "तस्यान्ते सुषिरम्" (तै० आ० १०।११।८) इति तदन्तर्वर्ति सुषिरं प्रदर्श्य—"तस्य मध्ये महानग्निः" (तै० आ० १०।११।९) इत्यारभ्य—"परमात्मा व्यवस्थितः" (तै० आ० १०।११।१२) इत्यन्तेन तदन्तर्वर्ति सुषिरं प्रदर्श्य परमात्मनः प्रदर्शितत्वेन तथाविधमात्मानं "यश्छन्दसामृषभः" (तै० आ० ७।४।१) इत्यनेनानूद्य "धारणो भूयासम्" इति विधीयते । तथा च देवधारणो देवस्य शिखामध्यवर्तिपरमात्मनो धारणोऽन्तर्धारणो भूयासमित्यर्थे सति

यच्छब्दोपबन्धादिति । यच्छब्दयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणमित्युक्तेरयमाशङ्कितुराशयः—उद्देश्यताचिह्नभूतेन यच्छब्देन योगात् छन्दसामृषभ इत्युद्देश्यताप्रयोजकं मन्तव्यम्, उद्देश्यतायाश्च सिद्धत्वसापेक्षत्वात् केनचिद्वाक्येन प्राप्तिरत्रापेक्षिता । तच्च वाक्यं नारायणोपनिषदि सन्निहितम्—"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" (तै० आ० १०।११।१२)

शिव के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है" । यह वचन अथर्ववेद की ऐश्वर्य शाखा का है । इसलिए "यश्छन्दसां····गोपाय" यह और "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यह मन्त्र उसी तैत्तिरीय शाखा में बताये गये इष्टलिंगधारण का अनुवाद करते हुए "अमृतस्य देवधारणो भूयासम्" (मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त लिंग को धारण करता हूँ) इस प्रकार लिंगधारण का प्रयोजन दिखलाकर "मेरी जीभ शिव की स्तुति करे, कान शिव से सम्बद्ध कथाओं को सुने, मन तो निरन्तर लिंग में ही आसक्त हो और जननमरण रूप कर्मपाश का नाश हो" इस प्रकार की प्रार्थना को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वचन लिंगधारण और उसके फल का समर्थन कर रहे हैं ।

शंका—लिंगधारण पूर्वक मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ को बताने वाले "यश्छन्दसां····अमृतस्य देवधारणो भूयासम्" इस मन्त्र के पहले की "दहरं विपाप्मम्", "पद्मकोशम्" आदि श्रुतियां हृदयकमल को दिखलाकर "तस्यान्ते

न लिङ्गधारणसिद्धिः। किञ्चात्र विश्वरूप इति ब्रह्मलिङ्ग-प्रदर्शनेन—ब्रह्मणः कोशोऽसीति निरुपपदब्रह्मपदप्रयोगेण च परमात्मन एवान्तर्धारणप्रतीतेश्चेति चेत्? मैवम्, तन्मते देवधारणो भूयासमित्यत्र देवस्य परमात्मनो धारणमन्तरनु-सन्धानमुपासनमिति फलितम्। तथा च—"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" (तै० आ० १०।११।१२) इत्येतत्पुरोवादप्राप्तस्य तस्य—"दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतम्" (तै० आ० १०।१०।२३) इत्यादिना पुरोवादप्राप्ततदुपासना-विषयत्वविधानेन तस्यैव देवधारणो भूयासमित्यत्र विधेयत्वा-ङ्गीकारे पुरोवादाप्राप्तार्थसिद्धिर्न स्यात्, नहि पुरोवादप्राप्त-मनूद्य तदप्राप्तं किञ्चिद्विधातुं प्रवृत्तं वाक्यं तत्प्राप्तमेवार्थं विधाय साफल्यं लभते।

इति, एतदेव धर्तव्यम्। तद्वाक्येन हृदयपद्माकाशवर्ती नारायणः प्रदर्श्यते। ततश्चायमर्थः सम्पन्नः—यो नारायणो हृत्पद्माकाशवर्ती वेदानां स्वामी, तस्य देवस्य धारयिता भूयासम् अन्तरनुसन्धानकर्ता भूयासमित्यादि।

न च तदभिन्नतयाऽध्यवसितायाः शालग्रामादिमूर्तेरपि प्राप्ततया बहि-र्धारणमपि प्राप्तमिति वाच्यम्, तद्धारणस्याचारविरुद्धत्वात्। ततश्च नारा-यणानुसन्धानमात्रमनेन विधीयत इति समाधत्ते—मैवमिति। अयमाशयः—पूर्वोपदर्शितनारायणस्य दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतमित्यादिनाऽनुसन्धानरूपो-पासनस्य पूर्वमेव विहिततया तस्यैव देवधारणो भूयासमित्यनेन पुनर्विधाने सम्पूर्णवाक्यस्यैवेदानीं वैयर्थ्यापातान्न तथा वक्तुं शक्यत इति।

सुषिरम्" इस प्रकार उस कमल में अतिसूक्ष्म प्रदेश को दिखलाते हुए आगे "तस्य मध्ये महावह्निः" ऐसा आरम्भ करके "तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यव-स्थितः" (उस ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा रहता है) ऐसा बताया गया है। इन वाक्यों को लेकर विचार करने पर आगे के "यश्छन्दसां····भूयासम्" इस मन्त्र का भी "ब्रह्मरन्ध्र में रहनेवाले ज्योतिर्लिंग को धारण करना" ऐसा अर्थ करना ही उचित है। इस प्रकार का अर्थ न करके इष्टलिंग धारणपरक अर्थ करने से पूर्व और उत्तर के श्रुति-वाक्यों में विरोध होना स्वाभाविक है। इतना ही नहीं,

अत एव—"यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः" (श्वे० उ० ४।१८) इत्यत्र "तमः-परे देव एकीभवति" (सु० उ० २।२), "दिव्यो देव एको नारायणः" (सु० उ० ६।१) इति तमःप्रापकवाक्ये तमोऽधिष्ठातृत्वेन नारायणस्य प्राप्तेः शिवपदस्यापि नारायण-परत्वमिति पूर्वपक्षीकृत्य यदा तम इति यदुपबन्धेन तमः-प्रापकनिखिलवाक्यान्तरप्राप्तानुवादपुरस्सरं विधातुं प्रवृत्तस्य "तन्न दिवा न रात्रिः" (श्वे० उ० ४।१८) इत्यादिवाक्यस्य शिवपदस्य नारायणपरत्वे पुरोवादाप्राप्तविधायकत्वं न स्यादिति पुरोवादगतनारायणपदस्यैव लक्षणादिना शिवपरत्व-मिति सिद्धान्तितं कर्णामृतादिष्वप्पय्यदीक्षितैः। न चास्य "तस्याः शिखाया मध्ये" (तै० आ० १०।११।१२) इति पुरो-वादतोऽन्तस्तदुपास्यत्वेन प्राप्तमेव परमात्मानमनूद्यामृतस्येत्य-नेन मोक्षरूपं फलं विधीयत इति वाच्यम्, तस्यापि—"ब्रह्मणः

अत एव यदा तम इति। अत एवेत्यस्य यच्छब्दोपनिबद्धवाक्यस्य पूर्व-वाक्याप्राप्तविधायकत्वनियमादेवेत्यर्थः। अत्र दिव्यो देव एको नारायण इति पूर्ववाक्यसान्निध्यात् शिव एव केवल इति शिवपदस्य कथञ्चिन्नारायणपरत्व-मस्त्विति पूर्वपक्षमुत्थाप्य तथा सति—"यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः" (श्वे० उ० ४।१८) इति वाक्यस्य वैयर्थ्यमेव स्यात्। इदं वाक्यं हि पूर्ववाक्याऽप्राप्तशिवबोधनेनैव चरितार्थम्। शिवपदेन नारायणस्यैव परिग्रहे तु तद्बोधस्य पूर्वमेव गतत्वेन तादृशविधित्वं न स्यादित्यप्पय्यदीक्षितैः सिद्धान्तितम्। न च दर्शिते नारायणपदस्यैव लक्षणा-दिना शिवपरत्वरूपेऽप्यप्पय्यदीक्षितसिद्धान्तेऽपि तद्दोषतादवस्थ्यम्, पूर्वं

इन श्रुतियों में लिंग पद भी तो नहीं दीख रहा है। तब इष्टलिंग धारणपरक अर्थ कैसे किया जा सकता है ?

समाधान—"यश्छन्दसां....भूयासम्" इन मन्त्र का इष्टलिंग धारण अर्थ ही न्यायसंगत है। जैसे कि "पद्मकोशप्रतीकाशम्", "तस्यान्ते सुषिरम्", "परमात्मा व्यवस्थितः" इस प्रकार की सूक्ष्मब्रह्मोपासना की प्रतिपादक श्रुतियाँ "अमृतस्य"

सायुज्यं सलोकतामाप्नोति'' (सदा० उ० १६) इति पुरोवादत एव प्राप्तत्वेन तदप्राप्तत्वाभावात् ।

अथ भवन्मतेऽपि देवधारणो भूयासमित्यत्र स्थूलाङ्गलिङ्गधारणविधाने पुरोवादविरुद्धार्थविधानं स्यादिति चेत् ? मैवम्, नहि—"यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः"(तै०आ० ७।४।१) इत्यस्य—"तस्याः शिखाया मध्ये'' (तै० आ० १०।११।१२) इत्ययमेव पुरोवाद इति नियमः, परन्तु सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्ययमेव पुरोवादः। तत्प्राप्तमेव स्थूलाङ्गलिङ्गधारणमनूद्य प्रकृतेऽमृतस्येत्यनेन तदप्राप्तमोक्षरूपं फलं विधीयते, अन्यथा वाक्यमेवेदं व्यर्थं स्यात् ।

नारायणस्य पूर्वोक्तत्ववदिदानीं शिवस्य पूर्वोक्तत्वापातादिति वाच्यम्, नारायणपदेन शिवपरिग्रहे रूढ्यंशे चित्तवृत्तेराकृष्यमाणतया शिवस्य स्पष्टप्रतीत्यभावात्, निश्चयात्मकतत्प्रतीत्यर्थं शिव एव केवल इत्यस्यावश्यकत्वात्। अत्रत्यशिवपदेन नारायणपरिग्रहे तु रूढिशक्त्या प्रथममेव निर्णीतप्रतीतिविषयीकृतस्य गौण्या वृत्त्या पुनर्बोधने वैयर्थ्यावश्यंभावात्। यदेत्यादिश्रुत्यर्थस्तु—यदा सृष्टेः प्राक् तमोऽज्ञानात्मकं केवलमासीत्, न दिनं न रात्रिर्न सत् परमाण्वादिकारणं न चासद् महाभूतादिकार्यमासीत्, किन्तु केवलो निरञ्जनः शिव एव तदानीमासीदित्यर्थः। अत्र तमसः सत्ताया अनुपदमेवोक्तत्वात् शिव एव केवल इति कैवल्योक्तिर्नित्याभिव्यक्तचैतन्यवत्त्वेन सजातीयद्वितीयव्यावृत्त्यभिप्राया बोद्धव्या।

पुरोवादविरुद्धार्थेति। तस्याः शिखाया इति पुरोवादे नारायणस्य ध्यानं विहितम्, अत्र बहिर्लिङ्गधारणमिति प्रकरणविरोध इति भावः। परन्त्विति। सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यत्र विहितं सदाशिवात्मकलिङ्गधारणमेवात्रापि देवधारणपदेनानूद्यामृतस्येति मोक्षरूपं फलं विधीयते।

इस श्रुति की पूर्व श्रुतियां हैं, वैसे ही "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यह श्रुति भी पूर्व श्रुति है। इस श्रुति में बताये गये इष्टलिंग धारण से प्राप्त होनेवाले मोक्षस्वरूप प्रयोजन को न दिखाने पर इस प्रकार के लिंगधारण के विषय में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः इष्टलिंग धारण से होनेवाले प्रयोजन को दिखाने के लिए "अमृतस्य''''भूयासम्'' यह उत्तर वाक्य आया है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर पूर्वोत्तर वाक्यों के विरोध का परिहार हो जायेगा।

न चेष्टापत्तिः, पूर्वतन्त्रे द्वित्वविधायकवाक्यवैयर्थ्यपरिहाराय—"पञ्चावत्तैव वपा कार्या" (आप० श्रौ० ७।२०।९) इत्यत्र लक्षणां स्वीकृत्य वैयर्थ्यपरिहारः कृतः, इह तु लक्षणां विनैव देवधारणो भूयासमित्यत्र बहिर्लिङ्गधारणे मोक्षरूपफलविधानेन सर्वसामञ्जस्यकरणे को भार इति। न च सर्वलिङ्गवाक्येनान्यथासिद्धिरपि, सामान्येन विशेषफलविधायकस्यान्यथासिद्ध्ययोगात्।

नन्वेवमपि—"ज्ञानं महेश्वरादिच्छेन्मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात्" इति स्मरणेन जनार्दनस्य मुक्त्युपायत्वेन कथं लिङ्गोद्देश्यकमुक्तिविधानमिति चेन्न, "ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति" (श्वे० उ० ४।१४), "ईशं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति" (श्वे० उ० ३।७), "शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य"

न चेष्टापत्तिरिति। वाक्यवैयर्थ्यमिष्टमेवापन्नमिति न वक्तव्यम्, द्विरवद्यतीति वाक्यवैयर्थ्यपरिहारस्य पञ्चावत्तैव वपा कार्येत्यत्र वपापदस्य लक्षणावलेशं स्वीकृत्य कृतत्वेन वाक्यवैयर्थ्येष्टतायाः शून्यहृदयेतरेण वक्तुमशक्यत्वात्।

शंका—लेकिन स्मृति में कहा गया है—"ज्ञान को भगवान् शिव से प्राप्त करे और मोक्ष को नारायण से"। इन वाक्यों को लेकर विचार करने पर ऐसा लगता है कि परम पुरुषार्थ रूप मोक्षसुख को प्रदान करने की शक्ति नारायण में है, न कि शिव में। जब ऐसा निश्चय किया गया है, तो लिंगधारण मोक्षसुख का आधार कैसे हो सकता है ?

समाधान—श्वेताश्वतर और अथर्वशिखा उपनिषद् में बताया गया है कि परशिव को जानकर ही शान्ति (मुक्ति) को प्राप्त कर सकता है। शिव को जिसने जान लिया है, वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। केवल एक शिव ही सम्पूर्ण शुभों का आश्रय है, अतः अन्य देवता को छोड़कर केवल शिव का ही ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार की अनन्त श्रुतियाँ शिव को ही मोक्षदायक बताती हैं। अतः श्रुति और स्मृतियों का विरोध होता है। यहाँ किसको प्रमाण माना जाय ?

८

(अ० शिखो० ३) इत्यादिश्रुतिभिरितरव्यवच्छेदपूर्वकं शिवस्य मुक्त्युपायत्वावधारणेन श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे विरोधाधिकरणन्यायेन स्मृतेर्दुर्बलत्वात् ।

विरोधाधिकरणन्यायेनेति । "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" (१।३।३) इति सूत्रोक्तेनेत्यर्थः । सूत्रार्थस्तु—विरोधे श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे, अनपेक्षं श्रुतिः, प्रमाणमिति शेषः । असति वेदवाक्ये साक्षादनुपलभ्यमाने, अनुमानं स्मृतिः प्रमाणं भवतीत्यर्थः । तथा च 'औदुम्बरीं स्पृशन्नुद्गायेत्"इति श्रुतेः "औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या" इति स्मृतेश्च परस्परविरोधे श्रुतिविरोधात् सर्ववेष्टनस्मृतिस्त्यज्यते, तद्वदिहापि "ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति" (श्वे० उ० ४।१४), "ईशं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति" (श्वे० उ० ३।७) इत्यादिश्रुतिविरोधात् "मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात्" इति स्मृतिर्दुर्बला मन्यत इति भावः ।

ऐसा संशय उपस्थित होने पर इसके निवारण के लिए पूर्वमीमांसा शास्त्र में 'विरोधाधिकरण' नामक न्याय की रचना की गई है । वहाँ बताया गया है कि जहाँ पर श्रुति और स्मृतियों में विरोध होता है, वहाँ श्रुतियाँ प्रबल हो जाती हैं । जहाँ इस प्रकार के श्रुति वाक्य नहीं हैं, वहाँ स्मृतियाँ प्रमाण मानी गई हैं । जैसा कि—"औदुम्बरीं स्पृशन्नुद्गायेत्" याग प्रकरण में औदुम्बर (गूलर) का स्पर्श करके मन्त्र का उद्गान करना चाहिये, ऐसा श्रुति कहती है । "औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या" औदुम्बर वृक्ष को पूर्णतया ढँक लेना है, ऐसा स्मृति कह रही है । यहाँ श्रुति और स्मृति वाक्य में विरोध हो जाता है । इस लिए यहाँ इन दोनों वाक्यों में कौन सा वाक्य प्रबल है, इसका निर्णय करने के लिए शास्त्रीय प्रक्रिया से जब विचार किया जाता है, तब स्पर्श मात्र को बताने वाली श्रुति प्रबल हो जाती है और सम्पूर्ण वृक्ष को आच्छादित करने के लिए आदेश देनेवाली स्मृति दुर्बल हो जाती है । उसी प्रकार "मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात्" (नारायण से मोक्ष की प्राप्ति होती है) इस स्मृति वाक्य की अपेक्षा "शिव एको ध्येयः", "ईशं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति" इस प्रकार के श्रुतिवाक्य ही प्रबल माने जाते हैं । अतः शिवलिंग की मुक्तिदायकता सिद्ध हो जाती है । इससे "अमृतस्य देवधारणो.....गोपाय" इस मन्त्र का मोक्ष के निमित्त लिंग को धारण करता हूँ, यह अर्थ निश्चित हो जाता है ।

न च—"स मेन्द्रो मेधया स्तृणोतु" (तै० आ० ७।४।१) इति मेधाजनयितृत्वविधानेन तस्याश्चान्तर्धर्मत्वादन्तरुपासनायां तद्धर्मप्राप्तिरेव साध्वीति वाच्यम्, "स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु" (तै० आ० १०।१०।१९) इति श्रुत्या "लिङ्गाङ्गसङ्गिनो वत्स पुनर्जन्म न विद्यते। युगपज्ज्ञानसंसिद्धिस्ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥" इति शङ्करसंहितावचनेन च मुक्तिजनकज्ञानस्य लिङ्गरूपशिवाधीनत्वात् तस्यैव धारणान्वयावश्यंभावात्। अन्यथा—"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनका-

---

न च स मेन्द्र इति। मेधाया अन्तःकरणपदार्थत्वात् तत्कारणीभूतमीश्वरधारणमपि कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यायोपासनारूपमेव ग्राह्यमिति प्रश्नः। परमेश्वरस्य सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन व्यापकत्वेन च लिङ्गरूपेण शरीरे धृतोऽपि सर्वत्र फलं जनयितुं शक्नोतीत्युत्तरमाह—स नो देवः शुभेत्यादि, लिङ्गाङ्गसङ्ग इत्यादि च। बाह्यकर्मणामपि मनोयोगेन

शंका—इस मन्त्र में "स मेन्द्रो मेधयास्तृणोतु" शिवलिंग मुझे प्रज्ञाशक्ति प्रदान करे, ऐसा एक विशेष पद है। यह प्रज्ञाशक्ति देह के अन्तःकरणनिष्ठ धर्म के अतिरिक्त कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। इसलिए यह मन्त्र दहराकाश में स्थित ज्योतिर्लिंगोपासना को बता रहा है, न कि बाहर की इष्टलिंगोपासना को।

समाधान—ऐसी बात नहीं, क्योंकि "स नो देवः" और "लिङ्गाङ्गसङ्गिनो वत्स" इत्यादि प्रमाणों में परशिव ब्रह्म सर्वसमर्थ और सर्वव्यापक है, अतः उस परशिव ब्रह्म का परिच्छिन्न स्वरूप इष्टलिंग भी मोक्षरूप महाफल को देने में समर्थ है।

शंका—बाह्य कर्म मोक्षदायक नहीं हो सकते। उन बाह्य कर्मों में से एक यह इष्टलिंगोपासना भी है, इस लिए यह मोक्षप्रदायक नहीं हो सकती।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गीता का कहना है कि जनक आदि राजर्षियों ने उस प्रकार के बाह्य कर्मों के अनुष्ठान से ही मोक्ष को प्राप्त कर लिया था। तीर्थयात्रा, गंगास्नान आदि बाह्य कर्मों से बहुत से लोगों ने मोक्ष पा लिया है। बाह्य कर्म मुक्ति के सहकारी हैं, ऐसा अनेक महर्षि लोग मानते हैं। बाह्य कर्मों को मोक्ष के प्रति सहकारी न मानने पर सबके सब व्यर्थ हो जायेंगे, अतः इनकी

दयः" (भ० गी० ३।२०) इत्यादिना तीर्थयात्रागङ्गास्नानादीनां मुक्त्युपायजनकत्वं न स्यात्, लिङ्गधारणस्याऽदृष्टद्वारान्तरङ्गत्वाच्चेति ।

किञ्चास्य शरीरधृतलिङ्गविधायकत्वे—"शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुतम् ।।" (तै०आ० ७।४।१) इति बहिःपदार्थेषु विशेषविधानमपि सार्थकं भवति ।

क्रियमाणत्वाद् मानसातिशयसम्पादकत्वं शास्त्रसम्मतमित्युच्यते—कर्मणैव हि संसिद्धिमिति । तीर्थयात्रागङ्गास्नानादीनामिति, लिङ्गधारणस्येति च ।

शरीरस्य विचर्षणत्वं जिह्वाया मधुमत्तमत्वं च शरीरस्थमपि वस्त्विह प्रार्थितमस्ति, तदर्थं बाह्यलिङ्गधारणमेवोचितमित्याह—किञ्चेत्यादिना ।

उपयोगिता को मानना ही पड़ेगा । इस प्रकार यहाँ स्थूल देह पर धारण किये जाने वाले इष्टलिंगों की उपासना भी क्रम से आत्मा में अदृष्ट का उत्पादन करती हुई अन्त में मोक्षरूप महाफल को देती है, ऐसा सिद्ध हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त इस मन्त्र में "शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुतम्" इस प्रकार स्थूल शरीर में रहनेवाली जीभ के लिए मधुरभाषण और कानों के लिए शास्त्रश्रवणमूलक परिशुद्धि की प्रार्थना होने से "यश्छन्दसां ⋯ गोपाय" यह मन्त्र लिंगधारणपरक है, ऐसा किसी विवाद के बिना निश्चित हो जाता है ।

इस विषय पर लिंगपुराण में भी विचार किया गया है कि जैसे अग्निदेवता वेदोक्त हैं, वैसे ही स्थूल देह में लिंग का धारण करना भी वेदोक्त है । इस तरह से लिंगधारण के लिए वैदिकत्व की सिद्धि हो जाती है । वेद और उपनिषदों में तथा स्कन्द आदि पुराणों में ब्राह्मण के लिए लिंगधारण विहित है । ऋगादि चारों वेदों में जो उत्तम यजुर्वेद है, उसकी जो तैत्तिरीय शाखा है, उसका "यश्छन्दसां⋯गोपाय" यह मन्त्र लिंगधारण मुक्ति का साधन है, ऐसा बोध करा रहा है । जो समस्त वेदों का अधिपति है, ऐसा परम ऐश्वर्य विशिष्ट शिवलिंग मुझे प्रज्ञाशक्ति प्रदान करे । देवशब्दवाच्य उस लिंग को मोक्ष के निमित्त दीक्षापूर्वक परिशुद्ध देह में धारण करने से यह देह पापरहित हो जाता है । मेरी जीभ मधुर भाषण कर रही है । मेरा कान

"रुद्रो भूत्वा यजेद् रुद्रं नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्। प्राणलिङ्गाङ्ग-सम्बन्धो स रुद्रो नात्र संशयः ॥" इति शङ्करसंहितावचनेन लिङ्गसम्बन्धादेव शिवाभेदसिद्धया शरीरस्याप्युत्कर्षसिद्धेः, इष्टलिङ्गप्रकृतिकगुरुलिङ्गस्य जलतत्त्वाभिमानिनो जिह्वाग्र-वर्तित्वेन मधुमत्तमत्वप्राप्तेः, भावलिङ्गप्रकृतिकप्रसादलिङ्ग-स्याकाशतत्त्वाभिमानिनः श्रोत्रवृत्तित्वेन भूरिश्रवणसिद्धेः।

रुद्राराधने आराधकस्य रुद्रत्वप्राप्तेरपेक्षितत्वात् तस्याश्च लिङ्गधारणा-धीनत्वाल्लिङ्गधारणमवश्यं कर्तव्यमित्युपपादयति—रुद्रो भूत्वा यजेद् रुद्र-मिति। रुद्रत्वप्राप्तौ शरीरदार्ढ्यादिकमर्थादुपपन्नं भवतीति श्लिष्यन्ति श्रुत्य-क्षराण्यपि। इष्टलिङ्गप्रकृतिकेति। ध्रियमाणलिङ्गे जलतत्त्वाभिमानित्वा-काशतत्त्वाभिमानित्वादीनां धर्माणां मान्त्रिकसंस्कारबलात् सम्पादितत्वेन रसनेन्द्रियश्रोत्रेन्द्रियोः सम्बन्धात्—"जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरि विश्रुतम्" (तै० आ० ७।४।१) इत्युपपन्नतरं भवतीत्यतोऽपि बाह्यलिङ्ग-

शिवज्ञान को सुनने को लालायित है। तलवार की म्यान जैसे तलवार का आश्रय लेकर रहती है, वैसे ही यह इष्टलिंग उस निष्कल शिव का आश्रय है। यह लिंग संसार में डूबे हुए मुझ अज्ञानी को ज्ञान और वैराग्य प्राप्त कराकर मोक्ष रूपी सम्पत्ति प्रदान करे। इस प्रकार मन्त्र में आये हुए शरीर, कर्ण, जिह्वा आदि पदों को लेकर महर्षि वेदव्यास इष्टलिंगधारणपरक अनुवाद करते हुए दिखाई पड़ते हैं। यह लिंगधारण वेदों के द्वारा भी उपदिष्ट है, अतः ऐसा कहने में कोई सन्देह नहीं रहता।

फिर शंकरसंहिता कहती है कि रुद्र होकर रुद्र की पूजा करे और रुद्र हुए बिना रुद्र की पूजा न करे। जो दीक्षा संस्कार से परिशुद्ध होकर स्थूल देह में इष्टलिंग को धारण करता है, वही रुद्रस्वरूप है। अतः जब देह लिंग से विशिष्ट होती है, तब इस देह के जीभ आदि अवयवों में पटुता आ जाती है। उस दशा में गुरुलिंग जब सहजतया तत्त्वाभिमानी होने से जीभ पर रहकर रस का आस्वाद करता हुआ मधुर भाषण करता रहता है और भावलिंग का अवयवस्वरूप प्रसादलिंग भी सहज आकाशतत्त्वाभिमानी होने से श्रोत्रेन्द्रिय में रहकर शब्दों को ग्रहण करता हुआ श्रवणसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इष्टलिंगधारण से अपने में रुद्रत्व की प्राप्ति हो जाने से रुद्र की आराधना के निमित्त "जिह्वा मे

यच्चोक्तं विश्वरूप इति ब्रह्मलिङ्गस्य निरुपपदब्रह्मपदस्य च परिच्छिन्नलिङ्गधारणपरत्वेऽनुपपत्तिरिति, तदप्यरमणीयम्, भक्तानुग्रहार्थं परिच्छिन्नलिङ्गस्वरूपशिवस्यैवाथर्वशिरः-प्रभृतिषु—"प्राञ्चोऽहं प्रत्यञ्चोऽहम्" (अ० शिर० १।१) इत्यादिना सार्वात्म्योपदेशेन शिवस्यैव विश्वरूपत्वावसायात्, "लिङ्गं तद् ब्रह्मसंज्ञितम्" इत्यपराधस्तवे शङ्कराचार्यैर्लिङ्गे निरुपपदब्रह्मपदप्रयोगकरणेनानुपपत्त्यभावादिति ।

धारणपरेयं श्रुतिर्मन्तव्येत्यभिप्रायः। प्राञ्चोऽहं प्राचीनोऽहम्, प्रत्यञ्चोऽहम् अर्वाचीनोऽहम्। भक्तवात्सल्येन परिच्छिन्नविग्रहं धृतवतः परमेश्वरस्योक्ति-रियम्। अतश्च लिङ्गरूपे परमेश्वरे विश्वरूपब्रह्मपदयोः प्रयोगो नानुपपन्न इति भावः।

मधुमत्तमा, कर्णाभ्यां भूरि विश्रुतम्" यह मन्त्र वाक्पटुत्व और श्रवणयोग्यत्व आदि की प्रार्थना करता है।

शंका——इस मन्त्र में 'विश्वरूपः', 'ब्रह्मणः' इस प्रकार के दो साधारण पद हैं। ये सर्वकारण और अपरिच्छिन्न इष्टलिंगधारण परक हैं, वैसा कहने का अवकाश नहीं मिलता। तब ये इष्टलिंग से सम्बन्धित हैं, ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

समाधान——ऐसी बात नहीं, क्योंकि "प्राञ्चोऽहं प्रत्यञ्चोऽहं प्राचीनोऽहम् अर्वाचीनोऽहम्" अर्थात् मैं पूरब दिशा में हूँ, मैं पश्चिम दिशा में हूँ; मैं पहले भी था, मैं अभी भी हूँ, इस प्रकार की श्रुतियाँ ब्रह्म वस्तुतः अपरिच्छिन्न होने पर भी भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए उन उन समयों में एक एक आकार-विशेष को ग्रहण कर लेता है, ऐसा कहती हैं, अतः लिंग के विश्वरूपत्व और ब्रह्मत्व की सिद्धि हो जाती है। इस विषय में सिद्धान्तशिखामणि का यह वचन प्रमाण है——

परब्रह्म नामक वह महालिंग प्रपंचातीत एवं नाशरहित है। समस्त प्राणियों के आधार, हृदय और भ्रूमध्य (भौहों के बीच में) नामक तीनों स्थानों में चमक रहा है। आगमशास्त्र जिसको ब्रह्म कह रहा है, वही वस्तु अपरिच्छिन्न, अव्यक्त, सनातन होकर अन्तःस्थली में रहकर ज्योतिर्लिंग नाम से प्रसिद्ध है। भक्तों की उपासना की सिद्धि के लिए अपने में अविनाभाव सम्बन्ध से रहनेवाली माया शक्ति से विभाग को प्राप्त होती है।

अन्ये तु "श्रुतं मे गोपाय" (तै० आ० ७।४।१) इत्यत्र गोपायेत्यनन्वयापत्त्या "देवधारणो भूयासम्" (तै० आ० ७।४।१) इत्यत्र देवेति पदच्छेदः, तस्य च गोपायेत्यत्रान्वयः, तथा चामृतस्य धारणो भूयासमिति प्राप्त्या न लिङ्गधारणसिद्धिरिति पूर्वपक्षमवलम्ब्य देवपदस्य सन्निधिश्रुतधारणान्वयं परित्यज्य अपरिमिताधिकरणन्यायेन गोपायेत्यत्रान्वयासंभवेन "ब्रह्मणः कोशोऽसि" (तै० आ० ७।४।१) इति सन्निधिश्रुतब्रह्मपदस्यैव विभक्तिविपरिणामेनान्वयः स्वीकरणीयः, अन्यथा धारणपदस्य संयोगार्थकत्वेन तत्रामृतपद-

---

अन्ये त्विति। गोपायेति मध्यमपुरुषैकवचनदर्शनेन देवेति संबोधनं मन्तव्यम्। धारणेत्यत्र चामृतस्येत्यत्र चास्यान्वयः। ततश्च मोक्षस्य धारणो भूयासमित्यर्थलाभान्न लिङ्गधारणं सिद्ध्यतीति पूर्वपक्षः। प्रत्यासत्तिरेवापरमिताधिकरणन्यायेनान्वयनियामिका भविष्यति। न्यायस्वरूपं तु पुरस्तान्निरूपितम्। देवपदस्य प्रत्यासत्त्या धारणपदार्थेऽन्वयस्वीकारेऽपि गोपायेत्यत्र सम्बोधनलाभो भविष्यति। ब्रह्मण इति षष्ठ्यन्तस्य सम्बुद्धिविभक्त्यन्तत्वेन विपरिणामे हे ब्रह्मन् गोपायेत्यन्वयसम्भवात्, दुःखध्वंस-

शंका—इस श्रुति में 'गोपाय' ऐसा मध्यम पुरुष के एकवचन का प्रयोग करने से यह सम्बोधन विभक्ति की अपेक्षा रखता है। "देवधारणो भूयासम्" इस वाक्य में "देव इस प्रकार पद का विभाग करके हे देव ! मे = मेरी, गोपाय = रक्षा करो, अमृतस्य = मोक्ष के लिए, धारणः = धारण करनेवाला, भूयासं = होऊँ"। इस प्रकार सामान्यतया अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त लिंगधारण रूप विशेषार्थ कैसे कह सकते हैं ?

समाधान--ऐसी बात नहीं, "देवधारणो भूयासम्" इस वाक्य के देव पद को सम्बोधन विभक्ति मानकर दूरवर्ती 'गोपाय' इस क्रियापद के साथ अन्वय करने की अपेक्षा 'देव-धारण' इन दोनों पदों का समास करके देव पद का समीपवर्ती धारण पद के साथ अन्वय कर लेना ही उत्तम है ऐसा न करके 'गोपाय' इस क्रिया पद में अन्वय करने पर दूरान्वय नामक दोष तो होगा ही, इसके अलावा मीमांसा शास्त्र में बताये गये 'अपरिमिताधिकरण' नामक न्याय का भी विरोध

वाच्यमोक्षस्यान्वयासंभवादिति समाधानमप्याहुः। अस्याः श्रुतेरुक्तार्थे—"यूयं श्रद्धान्विता विप्राः प्राणलिङ्गाङ्गसङ्गिनः। स्थापयध्वमिमं मार्गं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्॥ मङ्गलात्मशिवलिङ्गधारणं संगवर्जिततनुः कुरुते यः। अङ्गजौर्वदहनं भवसिन्धुं संगभङ्गतरलं प्रतरेत् सः॥ शिवभक्तान् सदाचारनिरतान् धृतलिङ्गकान्। विप्रानाराधय सदा भस्मरुद्राक्षधारिणः॥" इत्यादिशङ्करसंहितावचनानि पूर्वोक्तान्यपि कानिचिदुपबृंहणच्छायापन्नान्यनुसन्धेयानीति।

"विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशिनी श्रुतौ। तत्र पञ्चाक्षरी तस्यां शिव इत्यक्षरद्वयम्॥"इति सकलवेदशिखा-

---

रूपमोक्षस्य तु धारणपदबोध्यसंयोगेऽन्वयस्य बाधात् तथा वक्तुं न शक्यत इत्युत्तरम्। उपबृंहणछायापन्नानीति। मङ्गलात्मकशिवलिङ्गधारणमिति धारणपदश्रवणेन देवधारणेति श्रुतिच्छाया गम्यत इति भावः।

विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टेति। ततश्च सर्वविद्याशिरोभूता रुद्रैकादशिनी, तस्यामपि या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनीति मन्त्रेऽपापेषु भक्तेषु

होता है। 'गोपाय' इस क्रिया पद के समीप में 'ब्रह्मणः' ऐसा एक पद है। इस षष्ठ्यन्त ब्रह्मपद को विभक्ति व्यत्यास से सम्बोधन विभक्ति बना कर हे ब्रह्म! मे = मेरी, गोपाय = रक्षा करो, इस प्रकार का अर्थ करने से सम्बोधन विभक्ति का लाभ हो जाता है और संयोग इस अर्थ को बताने वाले धारण पद का 'अमृत' पद से अन्वय करना भी प्रयोजन का कारण नहीं है। इस लिए देव पद का धारण पद से अन्वय कर लेना ही सर्वोत्तम मार्ग है। इस विषय का समर्थन शंकरसंहिता के "यूयं श्रद्धान्विता विप्राः" इत्यादि वचनों से किया गया है। इस प्रकार के इसी श्रुति के अर्थ को बताने वाले अनन्त छाया वाक्य दीख रहे हैं। इस लिए "यच्छन्दसाम्" यह श्रुति इष्टलिंगधारण का ही विधान कर रही है॥

यजुर्वेदीय रुद्रानुवाक में लिङ्गधारण

"वेदों में यजुर्वेद श्रेष्ठ है, उसमें एकादश रुद्रमन्त्र श्रेष्ठ हैं और उनकी अपेक्षा अष्टम अनुवाक श्रेष्ठ है उसमें भी पंचाक्षरी श्रेष्ठ है। उस पंचाक्षरी में भी

मणौ रुद्रैकादशिन्याम्—"या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी" (तै० सं० ४।५।१।१) इति श्रुतिरपि। रुदं रोदनं संसारदुःखजनितं द्रावयतीति रुद्रः, रुदमज्ञानं द्रावयतीति वा रुद्रः। हे रुद्र अघोरा शान्ताकारा, शिवा सर्वमङ्गलप्रदा, या ते तनुः लिङ्गरूपशरीरम्, सा अपापकाशिनी। लिङ्गरूपशरीरावच्छिन्नः शिवः शमदमसंपन्नो भक्तगात्रे धार्य इति पर्यवसितार्थः। तत्र जागरूकेत्यनुसन्धेयम्। उपबृंहितं च सिद्धान्तशिखामणौ—"अघोरा पापकाशिनी या ते रुद्र शिवा

या ते तनूः शिवलिङ्गरूपा काशते शोभत इत्यर्थके लिङ्गधारणस्य कर्तव्यत्वं प्रतीयते। सिद्धान्तशिखामणिसम्मतोऽयमर्थ इत्याह—उपबृंहितं चेत्यादिना।

"शिव" यह दो अक्षर परम श्रेष्ठ हैं"। इस प्रमाण के अनुसार सर्वश्रेष्ठ रुद्रैकादशी में कहा गया है—

हे रुद्र = दुःखनाशक हे शिव, ते = आपका, अघोरा = शान्त, शिवा = मंगलस्वरूप, या तनूः = जो लिंगरूप शरीर, अपापकाशिनी = पापशून्य भक्तों के शरीरों में प्रकाशमान है, शन्तमया = उस सुखप्रद, तनुवा = सूक्ष्म, तया = लिंगरूप शरीर से, नः = हमारे शरीरों में, अभिचाकशीहि = प्रकाशक होकर रहें।

यहाँ पर शिव का—"रोदनं द्रावयतीति रुद्रः" अथवा "रुद्रम् अज्ञानं द्रावययीति रुद्रः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जननमरण रूप संसार दुःख का नाश करने के कारण अथवा जीवात्मा के आवरक मलत्रय का नाश करने के कारण 'रुद्र' यह नाम पड़ा है।

इस मन्त्र में 'अघोरा' यह पद 'तनूः' इस पद का विशेषण होने से शान्तशरीर ऐसा अर्थ होता है। इसका यह अभिप्राय है कि भगवान् शिव के लिंग और बेर (अलिंग) नामक दो शरीर हैं। इनमें से एक को, जो कर-चरण आदि अवयवों से तथा सर्प, त्रिशूल और बाघ की खाल आदि से विशिष्ट होता है, उसी को अलिंग कहते हैं। लिंग शरीर पीठ, गोमुख, वृत्त, दैर्घ्य और विस्तार नामक पाँच सूत्रों से विशिष्ट होता है, इसलिए इसे लिंग कहते हैं। बेर (अलिंग) शरीर भयावह होने से इसे सोम नाम से पुकारा जाता है। लिंग शरीर अघोर (सौम्य) होने से इसे रुद्र नाम से पुकारा जाता है। यहाँ पर लिंगधारण व लिंग पूजा का विधान केवल अघोर नाम से अभिहित शिवलिंग को बता रहा है, न कि घोर मूर्ति को।

तनूः । यजुषा गीयते यस्मात् तस्माच्छैवोऽघवर्जितः ॥ यो लिङ्गधारी नियतान्तरात्मा नित्यं शिवाराधनबद्धचित्तः'' (६।६१-६२) इति ।

दर्शयित्वा यजुर्वेदे विधितो लिङ्गधारणम् ।
ऋग्वेदेऽपि तथा कुर्यां नत्वा वीरेश्वरं मुदा ।।

समाप्तमिदं प्रकरणं यजुर्वेदेन लिङ्गधारणस्य कर्तव्यताबोधकम्, ऋग्वेदेनापि तत्कर्तव्यत्वसाधनं प्रतिजानीते—ऋग्वेदेऽपि तथा कुर्यामिति । ''अपापेषु काशत इत्यपापकाशिनी'' इस प्रकार विग्रह करने से त्रिविध दीक्षाओं से तीन प्रकार के मलों को नाश करके परिशुद्ध शिव-भक्तोंके हृदय में धारण करने योग्य, ऐसा बोध होने से यह मन्त्र देह में शिव-धारण का प्रतिपादन कर रहा है । 'लिङ्गं तु शिवयोर्देहः' अर्थात् लिंग शक्ति से विशिष्ट परशिव का निवास स्थान रूप देह है, ऐसा शिवागम बोध करा रहा है । श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य शिष्य के शक्तिपात (योग्यता) की परीक्षा करके क्रिया, मनु और वेधा नामक तीन दीक्षारूपी साधनों से त्यागांग, भोगांग और योगांग नामक तीनों शरीरों में अनादि काल से रहने वाले कार्म, मायीय और आणव नामक तीनों मलों का निवारण करके क्रमशः इष्ट, प्राण और भाव नामक तीन लिंगों को धारण करके और उन लिंगों की उपासना के क्रम का बोध करा के लिंगधारण के महत्त्व को बताते हैं—

''चतुर्मुख ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और अग्नि आदि देवता; गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि आदि महर्षिगण लक्ष्मी, सरस्वती, शची आदि महाशक्तिस्वरूप देवियाँ अपने भाल भाग में शिवलिंग को निरन्तर धारण करते हैं । यह लिंगधारण वेद, आगम और पुराण आदि में विशेष रूप से प्रशंसित है, अतः लिंग को धारण करना ही वीरशैव का मुख्य लक्षण है'' ।

''अघोराऽपापकाशिनी'' इस मन्त्र में अघोरा, अपापकाशिनी, रुद्र, शिव और तनूः आदि पदों को लेकर उनका लिंगधारणपरक अर्थ किया जाता है । अठारह पुराणों के प्रणेता श्रीव्यास महर्षि भी—''हे परमात्मा ! अखण्डैकरसस्वरूप ! आप घोर और अघोर नामक दो शरीरों को धारण करते हैं । इन दोनों में से दीक्षा संस्कार से परिशुद्ध भक्त लोग अघोर नामक (लिंग) की उपासना करते हैं । इस प्रकार के लिंगधारी ही शिष्ट हैं । आपकी इस अघोर मूर्ति के मेरे शरीर में प्रकाशित होने से आप मुझे कभी भी न छोड़कर मेरी रक्षा करें ।

"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहं स्तत्समाशते ॥" (ऋ० ९।८३।१) इत्यत्र ब्रह्मशब्देन लिङ्गमुच्यते, लीनमर्थं गमयतीति व्युत्पत्त्या, तदधिकरणत्वात् तद्व्यपदेशः। "तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम्" (६।३६), "लिङ्गं ब्रह्म सनातनम्" (६।३५) इति सिद्धान्तशिखामणौ, "लिङ्गं

पवित्रं ते ब्रह्मणस्पत इति। ब्रह्मशब्देन शिवलिङ्गाभिधाने लिङ्गपदव्युत्पत्तिप्रदर्शनं यद्यप्यनुपयुक्तम्, ब्रह्मपदस्य स्वनिरुक्त्या स्वनिष्ठरूढ्यादिशक्त्या वा प्रवृत्तिमत्त्वात्, तथापि लीनमर्थं गमयतीत्यनेन शिवलिङ्गस्य

इस प्रकार यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों से लिंगधारण का प्रतिपादन करके आगे ऋग्वेदीय मन्त्रों से भी लिंगधारण का प्रतिपादन करेंगे।

ऋग्वेद में लिंगधारण

यजुर्वेद की तरह ऋग्वेद के "पवित्रं ते" इत्यादि मन्त्र में भी लिंगधारण की चर्चा है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

ब्रह्मणस्पते = लिंगरूप शरीर में निरन्तर सन्निहित हे परमेश्वर ! ते = आपके, तत् = वह ब्रह्मपदवाच्य लिंग, पवित्रं = शुचि-अशुचि रूप साधारण काल में भी धारण करने योग्य है। विततं = इष्टलिंग, प्राणलिंग, भावलिंग, आचारलिंग, गुरुलिंग, शिवलिंग, जंगमलिंग, प्रसादलिंग और महालिंग आदि अनन्त रूपों में विभक्त हो, अथवा प्रत्येक भक्त के अंग में धारित होने से अनेक प्रकार के हैं। प्रभुः = निग्रहानुग्रह समर्थ, त्वं = आप, विश्वतः = समस्त, गात्राणि = भक्तों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में, पर्येषि = लिंगरूप शरीर के द्वारा व्याप्त हैं। अतप्ततनुः = आणव आदि मलों को नाश करने वाले शिवदीक्षारूपी संस्कार को पाया हुआ, आमः = परिपक्व अन्तःकरण शून्य होने से, तत् = उस शिवलिंग को, नाश्नुते = नहीं प्राप्त करता। इद्वहन्तः = शिवज्ञानवाले, श्रुतासः = शिवलिंग का आश्रय करने मे, तत् = उस इष्ट लिंग को समाशत = प्राप्त कर लेते हैं।

इस मन्त्र में "ब्रह्मणस्पते" इस पद में रहनेवाला "ब्रह्मणः" इस पद का इष्टलिंग इस प्रकार का अर्थ करके आगे के 'पतिः' इस पद का 'लिंगाधिष्ठित परशिव' ऐसा अर्थ करना है। श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य "तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम्",

तद् ब्रह्मसंज्ञितम्'' इति शङ्कराचार्यकृतापराधस्तवेऽपि प्रयोगदर्शनाच्च। तस्य पतिरधिष्ठाता तच्छरीरकः सन् तत्र स्थित इत्यर्थः।

तदित्यध्याहारः, पवित्रपदविततपदयोर्लिङ्गार्थकत्वे कोशाद्यभावेन वृद्धप्रयोगाभावाच्च विशेष्यविशेषणभावासंभवेन विशेषणद्वयान्वयानुपपत्त्या विशेष्यवाचकतत्पदाध्याहारसूचकत्वाच्चेति।

तथा च हे ब्रह्मणस्पते! लिङ्गरूपशरीरावच्छेदेन शरीरिभावेनाधिष्ठितपरमशिव! ते तव, तद् ब्रह्मपदवाच्यलिङ्गरूपं शरीरम्, पवित्रम् उक्तरीत्या शुच्यशुचिकालेऽपि धर्तुं योग्यम्, विततम् इष्टादिभेदेन भक्तशरीरादिभेदेन वा बहुविधम्। प्रभुः निग्रहानुग्रहसमर्थस्त्वं विश्वतः समस्तानि, सार्वविभक्तिक-

---

निगूढतत्त्वप्रतीतिहेतुत्वलाभात् सर्वतो निगूढस्य ब्रह्मणः शरीरत्वप्रतीत्या ब्रह्मपदवाच्यत्वार्हं तद्भवतीत्येतद्बोधयितुं लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गपदव्युत्पत्तिर्दर्श्यत इति भावः।

तदित्यध्याहार इति। पवित्रपदविततपदयोर्विशेष्यलाभायेत्यर्थः। एतत्पदद्वयार्थानुपपत्तिरेव तत्पदाध्याहारे प्रमाणमित्याह—अन्वयानुपपत्तिरिति। सूचकत्वाच्चेति चकारः पञ्चम्यर्थहेतुत्वानुवादकः।

समुदायार्थमाह—हे ब्रह्मणस्पत इत्यादिना। शरीरिभावेनेति आत्मरूपेणेत्यर्थः। इष्टभेदेनेति इष्टलिङ्गप्राणलिङ्गाद्यनेकरूपेणेत्यर्थः। भक्तशरीरभेदेनेति प्रतिशरीरं भिन्नभिन्नलिङ्गस्य ध्रियमाणत्वेन भक्तशरीराऽनेकत्वमपि

''लिङ्गं ब्रह्म सनातनम्'' इस प्रकार और श्रीशंकर भगवत्पादाचार्य ''लिङ्गं तद् ब्रह्मसंज्ञितम्''इसप्रकार ब्रह्मपद का 'लिंग' ऐसा अर्थ स्वीकार करते हैं। ''लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्'' इस व्युत्पत्ति से भी ''तदधिकरणत्वात् तद्व्यपदेशः'' इस उक्ति के बल (समर्थन) से निगूढ निष्कल परमात्मा के लिये इष्टलिंग का आश्रय होने से लिंग को भी ब्रह्म कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इस मन्त्र में 'अतप्ततनुः' यह पद ब्रह्म पद का विशेषण होने से वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार जिनकी शिवदीक्षा नहीं हुई है, वे इस मुक्तिदायक लिंग को धारण करने के अधिकारी नहीं हैं, इस

स्तसिल्, गात्राणि भक्तशरीराणि, पर्येषि व्याप्नोषि, धार्यमाणः सन् लिङ्गरूपशरीरद्वारा भक्ताङ्गसंयुक्तोऽसीत्यर्थः ।

ननु ब्रह्मणस्पत इत्यत्र ब्रह्मपदेन स्थावरलिङ्गमुच्यते, ततश्च हे ब्रह्मणस्पते ! शरीरिभावेन स्थावरलिङ्गाधिष्ठित-परमशिव ! ते ब्रह्मपदवाच्यं लिङ्गं पवित्रम् अध्वशोधनादिना संस्कृतत्वेन परिशुद्धम्, विततं स्वयंव्यक्तार्षपुरुषकृतादिभेदेन नानाविधमित्यर्थः किं न स्यात् ? इति चेन्मैवम्, स्थावर-

लिङ्गविततत्वप्रयोजकं बोध्यम् । भक्ताङ्गसंयुक्तोऽसीति । यद्यप्यत्र विधि-बोधको लिङादिर्नास्ति, तथापि श्रुतिबोधितलिङ्गधारणादिसदाचारेण विध्यनुमानं भविष्यतीति तात्पर्यम् । स्वयंव्यक्तार्षपुरुषकृतभेदेनेति । स्वयं

लिए इसको धारण करना चाहिए, ऐसा सिद्ध हो जाता है । "तप्ता तनुर्यस्य स तप्ततनुः, तप्ततनुर्न भवतीति अतप्ततनुः" इस व्युत्पत्ति के बल से शिवलिंग धारण के योग्य दीक्षासंस्कार को जिन्होंने नहीं प्राप्त किया है, वे ही 'अतप्ततनुः' कहे जायेंगे, जो दीक्षासंस्कार को प्राप्त हैं, वे 'तप्ततनु' हैं, ऐसा समझा जाता है । 'आमः' यह पद, इस प्रकार के दीक्षा संस्कार से रहित व्यक्ति की बुद्धि परिपक्व नहीं हो सकती, इस प्रकार के अर्थ का बोधक है ।

शंका--इस मन्त्र में रहने वाले 'ब्रह्मणस्पते' पद में जो ब्रह्म पद है, इस पद का जमीन पर प्रतिष्ठित स्थावर लिंग ऐसा भी तो अर्थ कर सकते हैं । हे ब्रह्मण-स्पते ! स्थावरलिंगाधिष्ठित हे परशिव ! ते = आपका, ब्रह्मपदवाच्य स्थावर लिंग, पवित्रं = अध्वशोधन आदि से परिशुद्ध हो गया है, विततं = जमीन से उत्पन्न, अगस्त्य आदि महर्षियों से प्रतिष्ठित और श्रीराम, हरिश्चन्द्र आदि से संस्थापित (स्वयंव्यक्त, आर्ष और पुरुषकृत) लिंगभेद से नाना प्रकार का है, ऐसा अर्थ जब सिद्ध हो जाता है, तो यह ब्रह्मपद इष्टलिंगधारणपरक है, ऐसा कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान--ऐसी बात नहीं, क्योंकि "पवित्रं ते" इस मन्त्र में "गात्राणि पर्येषि", "अतप्ततनुः" यह विशेष पद जमीन में प्रतिष्ठित लिंग का बोध न करा-कर शरीर में धारण किये हुए इष्टलिंग का ही बोध करा रहे हैं । इस बात को न मानकर सामान्य अर्थ को लेकर स्थावर लिंग परक अर्थ करने पर मन्त्र में आये हुए विशेष पदों का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता । इसके अतिरिक्त स्वभाव से

लिङ्गस्य शरीरधारणासंभवेन प्रागुक्तार्थकस्य गात्राणि पर्येषि विश्वत इत्यस्यानन्वयापत्तेः ।

न च तस्याप्यपरिच्छिन्नस्वरूपेण भक्तशरीरसम्बन्धोऽस्तीति वाच्यम्, तर्ह्यपरिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मलिङ्गविश्वव्यापित्वस्यैव वक्तव्यत्वेन भक्तगात्रमात्रसम्बन्धकथने प्रयोजनाभावात् ।

ननु "पवित्रम्" इत्येतन्मन्त्रस्य सोमे दशापवित्रानुमन्त्रणे विनियुक्तत्वेन कथं लिङ्गधारणपरत्वम् ? यद् यत्र

व्यक्तानि लिङ्गानि विश्वेश्वरादीनि ज्योतिर्लिङ्गानि, आर्षाणि अगस्त्येश्वरादीनि, पुरुषकृतानि हरिश्चन्द्रेश्वरादीन्यसंख्यातानि, तद्भेदेनेत्यर्थः ।

न च तस्येति । स्थावरलिङ्गस्यापि परमेश्वराऽभिन्नत्वेन व्यापकतया तस्मिन्नपि गात्राणि पर्येषीत्यंशो बाधितो न भवतीति भावः । प्रयोजनाभावादिति । ब्रह्माण्डमात्रव्यापकस्य भक्तगात्रसम्बन्धित्वोक्ते निष्प्रयोजनत्वोक्तिरुचितैव ।

सोमे सोमयागे । दशापवित्रानुमन्त्रण इति । दशापवित्रं च शुक्लाया अवेरूर्णाभिः सूत्रीकृताभिरोतप्रोतविशिष्टसोमशोधनाधारभूतो वासोविशेषः ।

अणु-रेणु (अणु-अणु में कण-कण में), तृण (घास-पूस), काष्ठ (लकड़ी) आदि में व्याप्त और अपरिच्छिन्न वह ब्रह्मलिंग स्थावरलिंग आदि की अभेद दृष्टि से केवल भक्तों के शरीरों में ही व्याप्त है, ऐसा कहना होगा । यह अर्थ अखण्ड वस्तु को संकुचित स्थान में रखने की तरह हो जाता है । इस की अपेक्षा इस मन्त्र का इष्टलिंगधारणपरक अर्थ करना ही उचित है ।

शंका--लेकिन "पवित्रं ...अश्नुते" इस मन्त्र का सोमयाग करते समय 'दशापवित्र' नामके ऊनी के कपड़े में जब सोमरस का शोधन किया जाता है, उस समय विनियोग किया जाता हैं । जिस मन्त्र का जिस प्रकरण में विनियोग किया जाता है, उस मन्त्र का उस प्रकरण के अनुसार अर्थ करना ही उत्तम पक्ष है । इसलिये यह मन्त्र लिंगधारणपरक कैसे हो सकता है ?

समाधान--ऐसी बात नहीं, क्योंकि सोमयाग में विनियोग किये जाने मात्र से इस मन्त्र का अर्थ सोमयागीय देवता परक करना है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

विनियुक्तं तस्य तत्परत्वमेव, सन्ध्यावन्दनकालीनतत्तद्देवतोपस्थानविनियुक्तमित्रस्येत्यादिमन्त्राणां तत्तद्देवतापरत्ववदिति। किञ्च, सोमप्रकरणपठितस्यास्य मन्त्रस्य लिङ्गधारणपरत्वे प्रकरणविरोधश्चेति चेत्, तदप्यसारम्, विनियोगमात्रस्य पूर्वोदाहृतप्रयोगावगमितब्रह्मपदलिङ्गपरत्वभञ्जकत्वायोगात्। अस्ति चान्यपराणामपि मन्त्राणामन्यत्र विनियोगः, "अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्" (ऋ० ८।४४।१६) इत्यादिमन्त्राणां वाचकश्रुतिबलादग्न्यादिपराणामेव ग्रहयज्ञे भौमादिपूजायां विनियोगदर्शनात्, "यजेत् पुरुषसूक्तेन धनदं विश्वरूपिणम्"

विनियुक्तत्वेनेति। कल्पसूत्रे दशापवित्रानुमत्रणाङ्गतया बोधितत्वेनेत्यर्थः। कथं लिङ्गधारणपरत्वमिति। आर्षवाक्येनान्यपरतया बोधितस्यान्यपरत्वं विश्वासानर्हमिति सोमप्रकरणपठितस्य लिङ्गधारणपरत्वोपगमः कर्तुं न शक्यत इति च प्रश्नाशयः। तदप्यसारमिति। तत्तद्यागस्वरूपसम्पत्त्युपयुक्तोपयोगांशबोधनाय प्रवृत्तस्य विनियोगस्य वाक्यशक्त्या प्रतीयमानाङ्गाङ्गिभावाबाधकत्वादिति भावः। तदेव दर्शयति—अग्निर्मूर्धेत्यादि।

इस मन्त्र की अवयव शक्ति से इष्टलिंग को देह में धारण करना चाहिए, ऐसा अर्थ जितना स्फुट है, उतना स्फुट सोमयाग से सम्बद्ध देवतापरक अर्थ नहीं है। जो मन्त्र जिन-जिन देवताओं का बोध करा रहा है, उन-उन मन्त्रों का उन उन देवताओं की आराधना के समय विनियोग करना है, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। भिन्न भिन्न देवताओं की प्रशंसा करनेवाले मन्त्रों का उस देवता के सम्बन्ध से रहित कर्मों में भी विनियोग करने का सम्प्रदाय है ही। इसके अतिरिक्त प्रयोग भी देखने में आ रहा है, जैसे कि—"अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्" यह मन्त्र अपनी अवयव शक्ति से मात्र अग्निदेवतापरक है, किन्तु गृहयज्ञ करते समय सूर्यादि नवग्रह पूजा के समय पर भी इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। परमेश्वर के सहस्रशीर्षत्व आदि विराट् स्वरूप के बोधक "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इस पुरुष सूक्त का "यजेत् पुरुषसूक्तेन धनदं विश्वरूपिणम्" इस प्रमाण से कुबेर की पूजा में भी विनियोग किया गया है। इस प्रकार विनियोग करने मात्र से उन उन मन्त्रों का वाच्यार्थ नहीं बदला जा सकता है। इसलिए 'पवित्रम्' इस मन्त्र का सोमयाग

इति देवतान्तरपरस्यापि पुरुषसूक्तस्य धनदयजने विनियोगदर्शनाच्च ।

यद्यत्र विनियुक्तमिति नियमस्तु प्रकृतार्थवाचकपदघटितमन्त्रविनियोगस्थल एव । नहि पवित्रशब्दस्य दशापवित्रार्थकत्वे किञ्चिन्नियामकमस्ति । तर्ह्यभिधायकश्रुत्यघटितविनियोगस्थले प्रकृतप्रकाशनं कथमिति चेत्, "कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे" (मै० सं १।५।४) इतीन्द्रदेवताकस्य मन्त्रस्य "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" (मै० सं० १।५।११) इति गार्हपत्योपस्थानविनियोगेऽपि मन्त्रस्याभिधानश्रुति-

---

भौमादिपूजायामिति मङ्गलादिग्रहादिपूजायामित्यर्थः । देवतान्तरेति । सहस्रशीर्षत्यादिलिङ्गेन विष्णुपरस्यापि कुबेरयागे विनियोगदर्शनान्नैकार्थनिष्ठत्वनियमो मन्त्राणामिति भावः ।

अभिधायकश्रुत्यघटितेति । देवताकर्मप्रकाशनमात्रे मन्त्राणामुपयोगात् तद्वाचकपदाभावे मन्त्रपाठो व्यर्थः स्यादिति भावः ।

कदाचनस्तरीरसि नेन्द्रेति मन्त्रस्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठतीति विधिवाक्येन गार्हपत्योपस्थानाङ्गत्वेऽपि स्वघटकपदशक्तिलब्धमिन्द्रविषयकत्वं

में प्रयोग होने पर भी ब्रह्मपदवाच्य इष्टलिंग को दीक्षा संस्कार से परिशुद्ध किये गये देह में धारण करना चाहिए, इस प्रकार के यौगिक अर्थ के किये जाने पर भी कोई बाधा नहीं दीखती ।

जो मन्त्र जिस कर्म में जिस देवता के निमित्त विनियुक्त है, वह मन्त्र उस कर्म में उस देवता का बोध कराता है, यह नियम भी सभी स्थानों पर अन्वित नहीं हो पाता । उन उन प्रकरणों में विनियोजित कुछ मन्त्र जहाँ उन उन कर्मों को, उन उन देवताओं को प्रकाशित कर रहे हैं, केवल उन स्थानों पर ही इस नियम को मानना चाहिए, क्योंकि—"कदाचनस्तरीरसिनेन्द्रसश्चसि दाशुषे" इस प्रकार के इन्द्र (देवता) से सम्बद्ध अर्थ वाले मन्त्र "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इस प्रमाण से गार्हपत्योपस्थान पर विनियोजित होने पर भी मन्त्र के वाच्यार्थस्वरूप इन्द्रदेवताविषयत्व का विरोध नहीं करते । लेकिन इस विधि के आधार पर गार्हपत्योपस्थान का अर्थ लक्षणादि से ही सिद्ध हो जाता है । इसी को

प्राप्तेन्द्रपरत्वं न हीयते। प्रकृतप्रकाशनं तु लक्षणादिना भवतीत्यैन्द्रयधिकरणन्यायेनावगन्तव्यमिति।

यदुक्तं प्रकरणविरोध इति, तदपि न, "सोमः पवते-र्जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्ने-र्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥" (ऋ० ९।९६।५) इत्यत्र जडीभूतसोमलताया नारायणादिजनकत्वा-संभवेनोमया सहितः सोम इति सोमपदश्लेषमहिम्ना शिव-

---

न बाध्यते, विधिबलाल्लक्षणादिना गार्हपत्योऽप्युपस्थाप्यत इतिवद् इहापि दशापवित्रानुमन्त्रणाङ्गत्वेऽपि स्वार्थपरता न हीयत इति भावः।

पूर्वमापादितं प्रकरणविरोधं समाधत्ते—यदुक्तमित्यादिना, सोमः पवते-र्जनितेत्यादिना। सोमः लताविशेषः, पवतेः पावनस्य यागस्य, मतीनां यागबुद्धीनां स्वरसपरिणामद्वारोत्तमबुद्धीनां दिवो यागफलस्य स्वर्गस्य पृथिवीसूर्येन्द्रविष्णूनां च जनितेत्यर्थ आपाततः प्रतीयते, परन्तु लताविशेषे सूर्येन्द्रादिजनकत्वस्य बाधितत्वाद् उमया सहित इति व्युत्पत्त्या शिवो

"ऐन्द्रयधिकरण न्याय" कहा जाता है। इस न्याय की तरह "पवित्रं····अश्नुते" इस मन्त्र के सोमयाग के दशापवित्र (सोमरस को शोधन करनेवाला वस्त्र) का अंग होने पर भी लिंगधारण रूप वाच्यार्थ के लिए बाधक नहीं है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

शंका—सोमयाग प्रकरण में बताये गये इस मन्त्र का लिंगधारण प्रकरण में अन्वय करने पर प्रकरण-विरोध नामक दोष क्यों नहीं होगा?

समाधान—ऐसी बात नहीं, क्योंकि "सोमः पवते" इस मन्त्र के अनुसार इसका समाधान हो जाता है। इस श्रुति का अर्थ यह है—सोमः = सोमलता, पवतेः = पवित्र याग को, जनिता = उत्पन्न करती है। मतीनां = याग करने की सद्बुद्धि को, जनिता = उत्पन्न करती है। दिवः = याग के फलस्वरूप स्वर्ग की सिद्धि को, जनिता = उत्पन्न करती है। पृथिव्याः = भूमि को, जनिता = उत्पन्न करती है। सूर्यस्य = सूर्य को, जनिता = उत्पन्न करती है। इन्द्रस्य = इन्द्र को, जनिता = उत्पन्न करती है। यहाँ जड़ पदार्थ स्वरूप सोमलता से इन्द्र, सूर्य, विष्णु आदि देवता उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कहना सम्भव नहीं है। इसलिये उस

स्यापि प्रसक्तत्वेन तमादाय तत्सिद्धिरिति सिद्धान्तितत्वेन लिङ्गधारणप्रकरणस्यापि सोमप्रकरणत्वे विरोधाभावात् । किञ्च, "अयं सोमः कपर्दिने" (ऋ० ९।६७।११) इति श्रुत्या सोमयागस्योत्पत्तिविशिष्टशिवसम्बन्धबोधनेन रुद्र आहूत इति श्रुत्या सोमपदस्थाने रुद्रपदप्रक्षेपेण सोमयागस्य रुद्रतादात्म्यबोधनेन—"अहं हि सर्वहविषां भोक्ता चैव फल-प्रदः । सर्वदेवतनुर्भूत्वा सर्वात्मा सर्वसंस्थितः ।।" (२।४।८) इति कूर्मपुराणे शिववचनेन च शिवस्य सर्वहविर्भोक्तृत्व-कर्मफलदत्वप्रतिपादनेन सोमयागस्य रुद्रदेवताकत्वनिश्चयात्, तत्प्रकरणपठितस्याप्यस्य मन्त्रस्य लिङ्गधारणपरत्वेन प्रकरण-विरोधाभावाच्च ।

योग्यताबलाद् ग्रहीतुमुचित इति तात्त्विकोऽर्थ इति नास्ति प्रकरणविरोधः । "अयं सोमः कपर्दिने" (ऋ० ९।६७।११) इति श्रुत्या सोमयागस्य कपर्दि-सम्बन्धित्वोक्तेः, सोमागमनोत्तरं रुद्र आहूत इत्युक्त्या रुद्रसोमयोरेकात्मत्व-बोधनेन च सोमयागस्य रुद्रदेवताकत्वबोधनाच्च सोमप्रकरणपठितस्य रुद्रपरत्वे नास्ति प्रकरणविरोध इति भावः ।

सोमपद का "उमया सहितः सोमः" अर्थात् शक्ति से विशिष्ट शिव इस व्युत्पत्ति से शिवपरक अर्थ करना ही उत्तम है । उस प्रकार की शक्ति से विशिष्ट परशिव में सम्पूर्ण देवताओं की जनकता सिद्ध हो जाती है और सोमयाग के रुद्रदेवता से सम्बद्ध होने से प्रकरण का विरोध भी नहीं होता । "अयं सोमः कपर्दिने" इस श्रुति के आधार पर सोमयाग केवल शिव से सम्बद्ध है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है । "रुद्र आहूतः" इस श्रुति में सोम पद के स्थान पर रुद्र पद का प्रयोग करने से सोम और रुद्र दोनों एक ही स्वरूप वाले हो जाते हैं—"अहं हि सर्वहविषाम्" कूर्मपुराण का यह वचन भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है कि समस्त देवताओं के शरीर की आकृति में समस्त हवि को ग्रहण करने वाला, सभी प्रकार के फल को देनेवाला मैं अकेला ही हूँ । इस प्रकार के भगवान् शिव के उपदेश से सोमयाग रुद्रदेवतात्मक है, ऐसा निश्चय हो जाता है । अतः "पवित्रं····अश्नुते" इस मन्त्र का सोमयाग में विनियोग किये जाने पर भी लिंगधारणपरक अर्थ करने पर प्रकरणविरोध नामक दोष नहीं होगा ।

नन्वास्तां तावदुक्तरीत्या प्रकरणाद्यविरोधः, तथापि पवित्रं त इत्येतन्मन्त्रे लिङाद्यभावेन न विधिसंभवः, न वा विधिप्रयोजकरूपसंपत्तिः, एतन्मन्त्रविहितलिङ्गधारणस्य तत्पावित्र्यस्य च सर्वलिङ्गं स्थापयतीति विधिप्राप्तत्वेनान्यथा-सिद्धत्वात्, इति चेन्मैवम्, "तस्मात् पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमनामयम्" इति वक्ष्यमाणोपबृंहणानुरोधेन, "प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः" (ऋ० ९।८३।१) इति मन्त्रलिङ्गेन च तल्लिङ्गं धार्यमिति कल्पयितुं शक्यत्वात् ।

लिङाद्यभावेनेति । एतच्च श्रुतिबोधिताचारेण विधिकल्पनायामुपयुक्त-त्वेन समाहितम् । "तस्मात् पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमनामयम्" इत्येतन्मन्त्रोपबृंहकपुराणवाक्यम्, "प्रभुर्गात्राणि पर्येषि" (ऋ० ९।८३।१) इति लिङ्गं च विधिकल्पनायामनुकूलमित्याह—मैवमिति ।

शंका—लेकिन यह मन्त्र लिंगधारण का प्रतिपादन करने पर भी विध्यर्थ को बताने वाले लिङ्-लोट्-तव्य आदि प्रत्ययान्त पद इस मन्त्र में न होने से लिंगधारण विधायक मन्त्र नहीं हो सकता । "व्रीहीन् प्रोक्षति", "व्रीहीनवहन्ति" आदि स्थानों पर उस प्रकार के लिङ् आदि प्रत्ययों के न होने पर भी विधि-प्रयोजक रूप को पूर्वमीमांसाकारों ने जैसे मान लिया है, वैसे ही यहाँ पर मान भी लें, तो भी इस मन्त्र के द्वारा दीखने वाला लिंगधारण, इस लिंग की पवित्रता और लिंगधारण की योग्यता का सम्पादक दीक्षासंस्कार—ये सब "सर्वलिङ्गं स्थापयति" इस यजुर्वेदीय मन्त्र से ही उक्त हो गये हैं । इस प्रकार एक वाक्य से एक नियम का विधान करने के बाद दूसरे वाक्य से उसी नियम का विधान करने पर अपूर्वविधि का लक्षण भंग हो जाता है । इतना ही नहीं अन्यथासिद्ध नामक दोष भी आ जाता है, तो यह प्रतिपादन कैसे ठीक हो सकता है ?

समाधान—इस प्रतिपादन में कोई दोष नहीं है, क्योंकि "सर्वलिङ्गं स्थापयति" यह वाक्य यजुर्वेद का वाक्य है और "पवित्रं ते" यह वाक्य ऋग्वेदीय वाक्य है । इस प्रकार जब वेद ही भिन्न हैं, तब तो अपूर्वविधि का कोई अवरोधक ही नहीं है । एक वेदवाक्य को लेकर दूसरे वेदवाक्य को अन्यथासिद्ध नहीं कह सकते । इस नियम को न मानकर भिन्न-भिन्न शाखाओं में आये हुए वेदवाक्यों को

यदप्यन्यथासिद्धत्वेन विधिप्रयोजकरूपं नास्तीति प्राचीनग्रन्थेनोक्तम्, तदप्ययुक्तम्, शाखाभेदात् । नहि शाखान्तरविहितकर्मणां शाखान्तरेऽन्यथासिद्धिसम्भवः, तथा सति यजुःशाखाविहितकर्मणामेव केषाञ्चिद् ऋग्वेदविहितत्वेन तद्विधायकवाक्यानां प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः । इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ।

एवं पवित्रं त इत्यारभ्य पर्येषि विश्वत इत्यन्तेन लिङ्गधारणं तत्पावित्र्यं च विधायानेकश्रुतिविहितत्वेऽप्यत्यन्ताभ्यर्हितफलाभावाल्लिङ्गधारणमकर्तव्यमिति केषाञ्चिज्जडानामाशापिशाचिकोच्चाटनार्थं भगवती श्रुतिरेवमुक्त्वा उपाया-

---

शाखाभेदादिति । वेदभेदादित्यर्थः । सर्वलिङ्गमिति वाक्यं कृष्णयजुः, "पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते" (ऋ० ९।८३।१) इति मन्त्रस्तु ऋक् । ततश्च वाक्यद्वयस्य भिन्नशाखावृत्तित्वेन नास्त्येकेनापरस्यान्यथासिद्धिरिति । शाखाभेदेऽप्यन्यथासिद्ध्यङ्गीकारेऽग्निहोत्रादिकर्मणामनेकशाखासु विहितत्वेन तद्बोधकवाक्यानां सर्वेषामेव स्वेतरकृतान्यथासिद्धत्वापत्त्या कस्यापि वाक्यस्य विधायकत्वं न सिद्ध्येदिति भावः ।

अन्यथासिद्ध कहने पर अग्निहोत्रादि कर्म ऋग्वेद में जैसा बताया है, वैसा यजुर्वेद में भी बताया है. अतः प्रमाणान्तरों से प्राप्त हो जाने से इस प्रकार के अग्निहोत्रादि कर्मों को भी अन्यथासिद्ध नामक दोष से ग्रस्त कहना होगा । इसलिये भिन्न शाखाओं में बताये गये वाक्यों को एक से दूसरे का सम्बन्ध न जोड़कर सब के सब विधिवाक्य हैं, ऐसा स्वीकार कर लेना है । इससे इस सन्दर्भ में "पवित्रं ते" इस मन्त्र के भिन्न शाखा में उक्त होकर लिंगधारण विधायक होने से अन्यथासिद्ध नामक दोष नहीं कह सकते ।

शंका—इस मन्त्र में लिंगधारणत्व और पवित्रत्व आदि स्पष्ट होने पर भी उससे मिलने वाले फल को न बताने से फलरहित उस लिंगधारण को क्यों माना जाय ?

समाधान—लिंगधारण और मोक्ष इन दोनों का कार्यकारणभाव सम्बन्ध है । लिंगधारण कारण है और मोक्ष कार्य है । जहाँ कारण है वहाँ कार्य है, यही अन्वय-व्याप्ति है । जहाँ पर कारण नहीं है, वहाँ पर कार्य भी नहीं है, यही व्यति-

न्तरव्यवच्छेदसूचनाय व्यतिरेकमुखेन लिङ्गधारणस्य प्रयोजकत्वमभिवदति।

"अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते" (ऋ० ९।८३।१) इति तप्ता वेधामनुक्रियादीक्षात्रयेण निर्दग्धपापपञ्जरा तनुर्यस्य, सा न भवतीत्यतप्ततनुर्दीक्षात्रयरहितः, आमः अपरिपक्वाऽन्तःकरणः सन् तत्परशिवस्वरूपं नाश्नुते। एवं च—"लिङ्गाङ्गसङ्गिनो वत्स पुनर्जन्म न विद्यते" इति शङ्करसंहितावचनानुरोधेन दीक्षात्रयमेव मुक्तावसाधारणकारणमिति फलितार्थः।

व्यतिरेकमुखेनेति। लिङ्गधारणरूपमोक्षकारणाभावे मोक्षरूपकार्यस्याभावो भवतीत्येवं मोक्षाभावे लिङ्गधारणाभावव्यापकत्वबोधनमुखेन। ततश्च लिङ्गधारणाभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिर्लिङ्गधारणस्य मोक्षे सिद्धा भवति। ततश्च लिङ्गधारणरहितानां मोक्षो न भवतीत्युक्त्या लिङ्गधारणस्य मोक्षप्रयोजकत्वं लभ्यते।

दीक्षात्रयेणेति वेधादीक्षामनुदीक्षाक्रियादीक्षाभिरित्यर्थः। पापपञ्जरेति। पञ्जरं पक्षिणां नियन्त्रितवासस्थानम्। तद्वदावरकत्वात् पञ्जरत्वं पापेऽप्यारोप्यते।

रेक-व्याप्ति है। जहाँ पर धूम (धुंआँ) उठ रहा है, वहाँ अग्नि होती है, ऐसा कहना ही इस अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त है और जहाँ धूम नहीं उठ रहा है, वहाँ पर अग्नि भी नहीं रहतो, यह कहना ही व्यतिरेक-व्याप्ति का दृष्टान्त है। मोक्ष की अपेक्षा रखने वाला वीरशैव दीक्षा से परिशुद्ध होकर लिंग को धारण करे, जो मोक्षापेक्षी नहीं है, उनको लिंगधारण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार मोक्षाभाव में लिंगधारणाभाव का व्यापकत्व बोधनपूर्वक लिंगधारण रहित वीरशैवों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसी व्यतिरेक-व्याप्ति से लिंगधारण की सिद्धि हो जाती है। मुख्यतया "अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते" इस उत्तरार्ध मन्त्र में वेधा-क्रिया-मनु नामक (तीनों) दीक्षाओं से आणव आदि मलों को जो नाश नहीं कर पाता, वह अपक्वमति मनुष्य शिवस्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता, ऐसा स्पष्टतया बताया गया है। इस कथन के समर्थक और भी शंकरसंहिता आदि के वचन हैं। इस प्रकार के प्रमाणों से लिंगधारणरूप दीक्षा को जिन्होंने नहीं

रामानुजमतानुयायिनस्तु—"पवित्रं चरणं चक्रम्" इति कोशप्रसिद्धचा पवित्रपदं चक्रार्थकम्, ब्रह्मणस्पत इत्यत्र ब्रह्म-पदं चतुर्मुखब्रह्माभिधायि, तस्य पतिः—"नारायणाद् ब्रह्मा जायते" (नारा० अ० १) इति श्रुत्या जनकत्वेनाधीश्वरः। तथा च हे ब्रह्मणस्पते चतुर्मुखाद्युत्पादक, ते पवित्रं चक्रं विततम्। प्रभुः निखिलभुवननियामकस्त्वं गात्राणि भक्ता-

---

एवं स्वमते पवित्रं ते ब्रह्मणस्पत इति ऋङ्मन्त्रस्य लिङ्गधारणपरत्वं व्यवस्थाप्य रामानुजाचार्याभिमतस्यैव मन्त्रस्य तप्तमुद्राधारणपरत्वं निराकर्तुमुपक्रमते—रामानुजमतानुयायिनस्त्वित्यादिना। कोशप्रसिद्धचेति। अयं कोशः साम्प्रतिककोशपुस्तकेष्वनुपलभ्यमानतया कल्पित इवाभाति।

ग्रहण किया है, वे मोक्षरूप महाफल को प्राप्त नहीं कर सकते, इस प्रकार अनुमान कर लेने के कारण मोक्षरूप कार्योत्पत्ति के लिए लिंगधारण ही असाधारण कारण है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

पहले के आचार्यों ने वेद मन्त्रों का अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्यान किया है। उसी प्रकार वीरशैव मताचार्य इस "पवित्रं ते" मन्त्र का लिंगधारण-परक अर्थ और विशिष्टाद्वैत मताचार्य तप्तचक्रधारणपरक अर्थ (व्याख्यान) करते हैं। इस प्रकार कामधेनु और चिन्तामणि से जैसे अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार वस्तु प्राप्त की जाती है, वैसे ही इन मन्त्रों से अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। इस मन्त्रों में ऐसी शक्ति है। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्यान इसलिये करते हैं कि एक आचार्य का अभिप्राय दूसरे आचार्य को पसन्द नहीं है। अपने से उपासित देवता-विषयक मन्त्रार्थ के प्रतिपादन में तुष्टि न मिलने पर उसी मन्त्र को प्रकारान्तरों से उपासक के समर्थक अर्थ का आविष्कार कर लेते हैं। इससे अपनी आराध्य देवता में उपासकों की आसक्ति एवं प्रवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करना ही उन लोगों का मुख्य उद्देश्य है। अन्य देवता की निन्दा अथवा अन्य देवताओं का विरोध करना उन लोगों का उद्देश्य नहीं है। इसी अभिप्राय से प्रत्येक मत के आचार्य—"नहि निन्दा" इस न्याय का उदाहरण देते हैं। यहाँ पर "पवित्रं ते" इस मन्त्र को लेकर श्रीरामानुजाचार्य—हे ब्रह्मणस्पते = चतुर्मुख ब्रह्मोत्पादक हे नारायण! ते = आपका, पवित्रं = चक्रायुध, विततं = विस्तार वाला है। प्रभुः = सकल भुवनों के नियामकस्वरूप आप, गात्राणि = भक्तों के शरीरों को, पर्येषि = व्याप्त कर लेते हैं।

ङ्गानि पर्येषि प्राप्नोषीत्यर्थः । अत एव—"अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते" (९।८३।१) इत्यप्यन्वर्थकम् । तप्ता वह्नि-सन्तप्तचक्रेण पूर्वरूपपरावृत्तिपूर्वकरूपान्तरप्रादुर्भावा तनुर्यस्य तादृशो न भवतीत्यतप्ततनुः दोर्मूलचक्रधारणरहितः, तन्नारा-यणात्मकपरब्रह्मस्वरूपम्, आमः अपरिपक्वान्तःकरणो नाश्नुते न प्राप्नोतीत्यर्थ इति व्याचक्रुः, तदप्यश्रद्धेयम् । यद्यपि "पवित्रं चरणं चक्रम्" इति धूर्तवैष्णवकल्पितस्य कोशत्व एव विवादः, तथापि तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेनाभ्युपेत्य निराक्रियते, मन्त्रे चक्रधारणविधायकाभावात् । न च—"गात्राणि पर्येषि विश्वतः" (ऋ० ९।८३।१) इत्येतद्विधा-यकम्, तस्य विष्णोरेव भक्ताङ्गसम्बन्धविधायकत्वात् ।

ननु पवित्रं त इति विष्णुसम्बन्धिचक्रमभिधाय गात्राणि पर्येषि विश्वत इत्यनेन धारणविधानान्नारायणस्य धारणा-

---

भक्ताङ्गानि पर्येषीति प्रत्यासत्त्या तप्तचक्रसंयोगजनिताङ्करूपेणेत्यर्थः । अस्मिन् मतेऽतप्ततनुरिति तप्‌धातुप्रयोगः प्रसिद्धार्थक एव परिगृह्यत इति तेषामभिप्रायः । धूर्तवैष्णवकल्पितस्येति । उपलभ्यमानकोशपुस्तकेष्वनुपलम्भ एव तत्कल्पितत्वचिह्नमिति भावः । चक्रधारणविधायकाभावादिति । लिङाद्यभावादित्यर्थः । गात्राणि पर्येषीति सिद्धवदनुवादेन लिङ्गधारणपक्ष इवात्रापि विधेरनुमानं भविष्यतीति नाशङ्कनीयम्, ब्रह्मणस्पते इति सम्बोध्य पर्येषीति मध्यमपुरुषप्रयोगेण नारायणस्य भक्ताङ्गसङ्गित्वलाभेऽपि चक्रस्य तदलाभात् । स्वमते तु शिवलिङ्गस्य शिवाभिन्नत्वेन शिवस्य भक्ताङ्गसङ्गित्वलाभे शिवलिङ्गस्य तल्लब्धं भवति । तप्तमुद्राङ्कने तु विष्ण्वभिन्नत्वं वैष्णवग्रन्थेष्वपि नास्तीति नास्ति निरूढमित्याशयः ।

इसलिए अतप्ततनुः = तप्त (दागे हुए) चक्र का प्रतीक रहित व्यक्ति, तत् = उस नारायण के स्वरूप का, आमः = चित्त, उनका (भक्त का) अपक्व (अपरिशुद्ध) होने से, नाश्नुते = साक्षात्कार नहीं कर पाता है । इस प्रकार की व्याख्या करते हैं ।

प्रसिद्धचा तदीयचक्रस्यैव तत्सिद्धिरिति चेत्? मैवम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—चक्रस्य तल्लाञ्छनत्वेन धार्यत्वम्, उत तत्स्वरूपत्वेन, आहोस्विन्नारायणाश्रयत्वेन? नाद्यः, "कौमोदकी गदा खड्गो नन्दकः कौस्तुभो मणिः" (अ० को० १।१।२८) इति कोशावगमिततल्लाञ्छनानां बहुशः सत्त्वेन तस्यैव धार्यत्वे विनिगमकाभावात्। न द्वितीयः, तत्स्वरूपत्वे तदभेदसिद्धौ चक्रनारायणयोर्भेदगर्भितलाञ्छनिलाञ्छनभावासम्भवेन तद्बोधककोशविरोधापत्तेः। तृतीयेऽपि—"अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (त० आ० १०।११।५) इति श्रुतिबोधितशर्वान्तर्यामिभावेन तदाश्रयत्वमुत शरीरिभावेन? नाद्यः पक्षः शोभां कलयते, अन्तर्यामिभावेन नारायणस्य सकलपदार्थवृत्तित्वेन सर्वेषामपि धारणीयतापत्तेः। नोत्तरः पक्षः, शरीरिभावेन स्थित्यङ्गीकारे शालग्रामवैष्णवपूज्य-

---

ननु तन्मते शालग्रामादेर्धारणाप्रसिद्धया पवित्रपदेन चक्रस्य प्रत्यासन्नतया तद्धारणद्वारैव नारायणस्य व्यापकत्वमभिप्रेतम्? इत्याशङ्क्य निराकरोति—मैवमिति। भेदगर्भितेति। "शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनम्" (अ० को० १।१।२८) इति कोशे लक्ष्मीपतेरिति षष्ठीबोधितस्वस्वामिभावसम्बन्धाक्षिप्तभेदगर्भितेत्यर्थः।

तृतीयेऽपि नाराणाश्रयत्वेन चक्रस्य धार्यत्वमिति कल्पेऽपि। आश्रयत्वं विचारयति—अन्तरित्यादिना। अयं भावः—"अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (तै० आ० १०।११।५) इति श्रुत्या वर्तमानस्य नारायणस्य चक्रेऽपि वृत्तितालाभान्नारायणाश्रयत्वं चक्रस्य स्वीक्रियते, आहोस्विच्चक्रस्य नारायणशरीरतया शरीरेषु जीवानामिव चक्रे नारायणस्यात्मरूपेण स्थिततया नारायणाश्रयत्वं मन्यत इति भावः। नाद्यः पक्ष इत्याह—सर्वेषां धारणीयत्वापत्तेरिति। घटपटादीनामपि तदानीं धारणीयत्वादित्यर्थः। नाप्युत्तरः पक्ष इत्याह—शरीरिभावेनेत्यादि। शालग्रामेति। शालग्राम इव वैष्णवैः पूज्या ये ताम्रादिमयभगवद्विग्रहाः,

ताम्रादिविग्रहालयप्रतिष्ठिततत्तत्प्रतिमास्विव बाहुमूलधार्य-चक्रादावपि नारायणस्य पूजानिवेदनादिकरणापत्तेः।

यदुक्तम्—"अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते" (ऋ० ९।८३।१) इत्यनेन तत्सिद्धिरिति, तदपि निर्मुक्तनीरदाकाशे वर्षधाराशा-मेवानुकरोति। "ब्राह्मणस्य तनुर्ज्ञेया सर्वदेवसमाश्रिता। सा चेत् सन्तापिता राजन् किं वक्ष्याम्यस्य पातकम्॥ गङ्गा-स्नानरतो वापि ह्यश्वमेधरतोऽपि वा। चक्राङ्किततनुं दृष्ट्वा पश्येत् सूर्यं जपेन्नरः॥ जपेच्च पौरुषं सूक्तमन्यथा रौरवं व्रजेत्। भुजाग्रे व्यानते विप्रस्तप्तचक्राङ्कितो यदि। वेदाग्नि-ज्ञानवान् सोऽपि दहत्या सप्तमं कुलम्॥" इत्यादिधर्मशास्त्र-वचनैस्तप्तमुद्राधारणस्य निषिद्धत्वेन तत्परत्वेन व्याख्याना-सम्भवेऽस्मदुक्तरीत्यैव व्याख्येयत्वात्। किञ्चास्य मन्त्रस्य सोमप्रकरणपठितस्य चक्रधारणपरत्वे प्रकरणविरोधश्च। न चास्मन्मते तदापत्तिः, पूर्वमेव निरसितत्वात्।

यद्येवमपि "अतप्ततनुः" (ऋ० ९।८३।१) इत्यस्य ह्यव-सानगत्या चक्रसन्तप्तशरीरार्थकत्वमेवाङ्गीकरोषि, तदा

तेषामालयेषु मन्दिरेषु प्रतिष्ठिता यास्तत्तत्प्रतिमाः, तासु इव बाहुमूलधृत-चक्रादौ गन्धपुष्पादिभिः पूजायाः करणीयत्वापत्तेः।

तप्तशरीरस्य ब्राह्मणस्य मोक्षलाभस्तु दूरे तिष्ठतु, वर्तमानमपि ब्राह्म-णत्वमपैति, ब्राह्मणशरीरस्य सर्वदेवमयत्वेन तद्दहनप्रयुक्तं महत्पापमेव प्रत्युतोत्पद्यत इत्याह—ब्राह्मणस्य तनुर्ज्ञेयेत्यादिना। न चास्मन्मते तदा-पत्तिरिति। लिङ्गधारणपरत्वोपगमकल्पे तस्य सोमप्रकरणपठितत्व-प्रयुक्तप्रकरणविरोधस्यापत्तिर्नास्तीत्यर्थः। कथमित्याह—पूर्वमेव निरस्तत्वा-दित्यर्थः। सोमपदे उमया सह वर्तत इति व्युत्पत्त्याश्रयणेनेत्यर्थः।

अवसानगत्येति। अन्ततो गत्वेत्युक्तिवदियमुक्तिर्बोद्धव्या। अतप्त-तनुरित्यस्य विष्णवे तप्ता तनुर्यस्येत्यादिव्याख्यानं यद्यप्यत्यन्तक्लिष्टम्, तथापि तप्ता चक्रतापितेत्यादिवैष्णवैः कृतस्य व्याख्यानस्यापि क्लिष्टत्वात्

"अकारो विष्णुवाचकः" इति स्मरणेन आय विष्णवे, विष्ण्वर्थमिति यावत् । तप्ता तनुर्यस्य सोऽतप्ततनुः । एवं-भूतः आमः अपरिपक्वान्तःकरणः सन् तत् परब्रह्मस्वरूपं नाश्नुते, परन्तु "श्रीञ् पाके" (१४७६ क्र्या०) इति धातोः श्रृताः सन्तप्ताः सन्त इत्तापजन्यं किणं वहन्तस्तत्किणमेव समाशते प्राप्नुवन्तीत्येवार्थः स्यात्, प्रागुक्तनिषेधानुरोधात् ।

अथैवमपि पवित्रपदस्य कोशप्रसिद्ध्या चक्रार्थकत्व-मावश्यकम्, तथापि न पावित्र्यादिबोधः, रूढेर्योगापहारकत्वा-दिति चेन्न, सति बाधके कोशस्य शक्तिग्राहकत्वानङ्गी-कारात् । अत एव नीलो घटः, शुक्लः पट इत्यादौ "गुणे

"तपोमूलमिदं सर्वं तपोमध्यं तपोऽन्तकम् ॥ ऋषयः संयतात्मानः फलमूला-निलाशिनः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥" (११।२३४,२३६) इत्यादिमनुस्मृत्यादिभिर्वर्णितस्य तपस एव अतप्ततनुरित्यत्र तप्धातुना ग्रहीतुमौचित्येन तदनुरोधेनातप्ततनुरित्यादेः कृच्छ्रचान्द्रायणपरमेश्वरा-राधनादिनाऽक्लेशितशरीरस्तद्ब्रह्मपदं नाश्नुत इत्याञ्जस्येन प्राप्तव्याख्या-विरुद्धत्वाच्च यादृशो यक्ष इति न्यायेन तन्निराकरणायैवं व्याख्यातमिति बोध्यम् । ननु लिङ्गधारणपरतया व्याख्यानेऽपि तपःपरकव्याख्यानविरोध-स्तुल्य एवेति चेत्, मैवम्, यावज्जीवं शिवलिङ्गावियोगरक्षायाः, यावज्जीवं प्रत्यहं तत्पूजननिर्वाहस्य च परमतपोरूपत्वात् । तथैवाग्रेऽपि प्रतिद्वन्द्वि-रूपार्थभावनापत्तियोग्यत्वबोधनाभिप्रायेणैव व्याचष्टे—श्रीञ् पाक इत्यादि । नन्वीदृशार्थे किं मानमित्याह—प्रागुक्तनिषेधानुरोधादिति । "चक्राङ्किततनुं दृष्ट्वा पश्येत् सूर्यं जपेन्नरः" इत्यादिदोषोक्तिसूचितनिषेधानुरोधादित्यर्थः ।

रूढेर्योगापहारकत्वादिति । वैष्णवपरिकल्पितकोशसिद्धरूढिशक्त्या पावित्र्यार्थकत्वस्य बाधो भविष्यतीति भावः । ततश्च चक्रधारणपरतयैवायं मन्त्रो व्याख्यायत इति शङ्कितुराशयः । कल्पितेऽपि कोशे कोशत्वमभ्युपेत्य समाधत्ते—सति बाधक इति । गौरवादिरूपबाधके सति कोशस्य लक्षणादि-

शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" (अ० को० १।५।१७) इति कोशेन नीलादिपदस्य रूपवाचकत्वेऽपि समानविभक्तिक-पदस्थले भेदसंसर्गबोधासंभवेन रूपवति शक्त्यङ्गीकारे गौरवेण च निरूढलक्षणैवाङ्गीकृता। रूढेर्योगापहारकत्वमपि रूढ्यर्था-बाधस्थल एव। अन्यथा पङ्कजमानयेत्यादौ पद्मबाधेऽपि योगार्थकुमुदबोधो न स्यात्। प्रकृते तूक्तदिशा चक्रार्थकत्वं बाधितमेवेति। एतेन तप्तं चक्रं द्विभुजे धार्यमिति विधित एव चक्रधारणसिद्धिरित्यप्यपास्तम्, पठ्यमानशाखायामनूचानेन पाठस्यादर्शनात् तस्य श्रुतित्व एव विवादात्। यदि च विप्र-कीर्णशाखापाठादिकमभ्युपेत्य तथात्वमङ्गीकरोषि, तथापि न तेन तत्सिद्धिः, प्रागुक्तविकल्पपराहतत्वात्, निषेधशास्त्रानुरो-धाच्च। सर्वं वाक्यमिति न्यायेन भुजद्वयोद्देशेन चक्रधारण-

---

ग्राहकत्वमङ्गीक्रियत इति भावः। लक्षणैवाङ्गीकृतेति। "गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" (१।५।१७) इत्यमरकोशस्यात्यन्तप्रामाणिकस्यापि गौरवदोषेण शुक्लादिपदानां गुणिनि लक्षणाग्राहकत्वमेवोपगम्यते। कोशपुस्तकेष्वनुप-लभ्यमानतया कोशवाक्यत्वमेव यस्मिन् सन्दिग्धं तद्बलात् चक्रधारणनिषेध-वाक्यानां विरोधिनां पुरस्तात् कथं शक्तिस्तत्रेष्यत इति तात्पर्यम्।

रूढ्यर्थाबाधेति। तद्बाधे तु केवलयोगार्थस्यापि बोधो भवति। अत एव पङ्कजपदात् पद्मबाधे कुमुदबोधोऽपि भवतीत्याशयः। इदं रूढेर्योगापहारक-त्वादित्यक्षरखण्डनावेशमात्रेणोच्यते। वस्तुतस्त्वनुपयुक्तं स्वविरुद्धं च, प्रकृते चक्रत्वपावित्र्ययोरेकत्राबाधितत्वेनोभयोर्विशेषणभावापन्नयोर्बोधः कस्मान्नेति शङ्काया उत्थापकत्वात्। अत्रोदाहरणमपेक्षितम्। उक्तदिशेति। चक्रधारण-निषेधानुसन्धानेनेत्यर्थः। अनूचानेन साङ्गवेदाध्यायिना।

विकल्पपराहतत्वान्निषेधशास्त्रानुरोधाच्चेति। युक्तिविरोधात्, प्रत्यक्ष-वाक्यविरोधाच्च उच्छिन्नशाखास्वप्युक्तविधिवाक्यसत्त्वसम्भावना निरस्ता भवति। अनुपलभ्यमानशाखासु प्रामाणिकस्मृतिषु चानुपलम्भेनाविगीत-शिष्टाचारपरिग्रहाभावविशिष्टेन तादृशविधेरुच्छिन्नशाखावृत्तित्वाभावानु-मितौ विपक्षे निषिद्धत्वानुपपत्तिरूपो बाधकस्तर्कोऽस्तीति भावः। सर्वं वाक्यं

रूपविधाने शङ्खधारणासिद्धया—"दक्षिणे तु भुजे विप्रो बिभ्रियाद् वै सुदर्शनम्। सव्ये तु शङ्खं बिभ्रियादिति ब्रह्म-विदो विदुः ॥" इति वचनविरोध आचारविरोधश्चेत्यल-मसदावेशेन।

गुरुचरणास्तु ब्रह्मणस्पत इत्यनेन—"विश्वाधिको रुद्रो महर्षिर्हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" (श्वे० उ० ३।४) "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" (श्वे० उ० ६।१८) इत्यादि-श्रुतिभिर्हिरण्यगर्भजनयितृत्वेन प्रसिद्धः परमशिवोऽभिधीयते। पवित्रपदं लिङ्गार्थकम्, "सर्वलिङ्गं स्थापयति पाणिमन्त्रं पवित्रम्" (तै० आ० १०।१६।१) इत्यत्र लिङ्गपदसामाना-धिकरण्यात्। लिङ्गपदसमानाधिकृतपवित्रशब्दस्य कथं लिङ्गार्थकत्वमिति चेन्न, "वज्रं यथा मक्षिकयाऽवकीर्णम्" इति रामायणश्लोकव्याख्याने—"वज्रो वा आज्यम्" इति

सावधारणमिति महाभाष्यकारदर्शितन्यायेन तप्तं चक्रं द्विभुजे धार्यमिति विधावपि चक्रमेव द्विभुज एव इत्याद्याकारलाभात्। "दक्षिणे तु भुजे विप्रो बिभृयाद् वै सुदर्शनम्। सव्ये शङ्खं च बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥" इति भवन्मतसिद्धवचनेनैव तद्विधिवाक्यं विरुद्धं भवतीति भावः।

परमशिवोऽभिधीयत इति। ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य जनयितृत्वात् पालकत्वाच्चेति भावः। सामानाधिकरण्यादिति। वज्रो वा आज्यमिति

इस व्याख्या के ऊपर वीरशैव मताचार्य अनेक प्रकार की निस्सारता का ज्ञापन करते हुए तप्तलिंग और तप्तचक्र धारण श्रुतिसम्मत नहीं है, ऐसा प्रमाण दिखला कर इस मन्त्र के सोम प्रकरण में कहे जाने से उसका लिंगधारणपरक अर्थ करना ही न्यायसंगत है, ऐसा बता कर शिवोपासना में परम भक्ति को दिखाते हैं। उनका कहना है कि भगवान् शिव चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि करके, उनके लिये चारों वेदों का उपदेश करके, प्रपंच की सर्जना में उनको नियुक्त करते हैं। वे 'ब्रह्मणस्पते' इस पद की परशिवपरक व्याख्या करके 'पवित्रं' इस पद का शिवलिंगपरक अर्थ निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त "सर्वलिङ्गं स्थापयति पाणिमन्त्रं पवित्रम्" इस मन्त्र में रहने वाले पवित्र पद के पास लिंग

श्रुतावाज्यपदसामानाधिकरण्येन वज्रपदस्य संस्कृताज्यपरत्व-मिति महेश्वरतीर्थादिभिरङ्गीकृतत्वात् । न च प्रकृते पवित्र-पदस्य मन्त्रपदसामानाधिकरण्येऽपि न लिङ्गपदसामानाधिक-रण्यमिति वाच्यम्, मननात् त्रायत इति व्युत्पत्त्या मन्त्रपद-स्यापि लिङ्गार्थकत्वात् । "वाच्यवाचकरूपेण द्विधा मन्त्रः प्रकीर्तितः । वाचको वर्णरूपः स्याद्वाच्यश्च परमः शिवः ।।" इति व्यासनिरुक्तेश्च । तथा च हे ब्रह्मणस्पते परमशिव, ते तव, पवित्रं लिङ्गम्, विततम् इष्टादिभेदेनानेकविधत्वाद् विस्तृतम्, प्रभुः अखण्डजगदण्डनियामकस्त्वं गात्राणि भक्तशरीराणि विश्वतः समन्तात् पर्येषि । "सर्वाङ्गेषु च सर्वत्र सर्वदा सर्वतो-मुखम् । लिङ्गं गुरूपदेशेन सुप्रतिष्ठितमात्मनि ।।" (अ० सू० ६।२) इत्यारभ्य "एकमेव परं लिङ्गमङ्गेऽस्मिन् सुप्रतिष्ठि-तम् । सर्वतोमुखमाभाति नामरूपक्रियात्मना ।। इष्टलिङ्गं तु

श्रुतेर्वज्रशब्दस्याज्यार्थकत्वात् पाणिमन्त्रं पवित्रमिति सामानाधिकरण्यात् पद के होने से जैसे "वज्रो वा आज्यम्" इस श्रुति के आज्य (घी) पद के पास रहनेवाले वज्र पद का मीमांसक संस्कृत आज्यपरक अर्थ करते हैं, वैसे ही यह पवित्र पद लिंग को ही बता रहा है, ऐसा निर्णय लिया गया है । "पाणिमन्त्रं" इस मन्त्र के पद भी "मननात् पूजनात् त्रायत इति मन्त्रः" इस व्युत्पत्ति से और "वाच्यवाचकरूपेण द्विधा मन्त्रः प्रकीर्तितः" व्यास की इस उक्ति से भी शिवलिंगपरक है, ऐसा कहने में कोई सन्देह नहीं है । इसलिए "पवित्रं ते" यह पवित्र शब्द शिवलिंगपरक है, ऐसा निर्णय हो जाता है । "प्रभुर्गात्राणि पर्येषि" इस आगे के मन्त्र से दीक्षा लिये हुए शिव-भक्तों के सभी अंगों में लिंग का संबन्ध रहना चाहिये यह अभिप्राय सिद्ध हो जाता है । इसी अभिप्राय के समर्थक और भी वाक्य यहाँ उदाहृत हैं ।

पर शिव अपने में अविनाभाव संबन्ध से विशिष्ट विमर्श शक्ति के स्फुरण से खुद ही नाम, रूप, क्रिया के रूप में अनन्ततया अभिव्यक्त होकर, भक्तों के शरीरों में इष्ट, प्राण और भाव रूप से विराजमान है । इनमें से विराट् तत्त्व नामक इष्ट-लिंग विश्व नाम से प्रसिद्ध त्यागांग में, हिरण्यगर्भ तत्त्व नामक प्राणलिंग तैजस

बाह्याङ्गे प्राणलिङ्गं तथान्तरे। भावलिङ्गं तथैवास्ति आत्माङ्गे सुप्रतिष्ठितम् ।। हृदयाङ्गे महालिङ्गं श्रोत्राङ्गे तु प्रसादकम् । त्वगङ्गे चरलिङ्गं च दृगङ्गे शिवलिङ्गकम् ।। जिह्वाङ्गे गुरुलिङ्गं स्यान्नासिकाङ्गे तथैव च । आचार-लिङ्गमश्रान्तं सुप्रतिष्ठितमेव हि ।। यथा ज्ञानेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् । तथा कर्मेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।।" (अ० सू० ६।४-८) इति वातुलागमोत्तर-

---

पवित्रशब्दस्य लिङ्गार्थकत्वं भविष्यतीत्याशयः। वातुलागमोत्तरेति। प्राहु-

नामक भोगांग(सूक्ष्म शरीर) में और ईश्वरतत्त्व नामक भावलिंग प्राज्ञ नामक योगांग में निवास करता है। इनमें से भावलिंग को महालिंग और प्रसादलिंग के नाम से, प्राणलिंग को जंगम और शिवलिंग नाम से, इष्टलिंग को गुरुलिंग और आचारलिंग नाम से, (दो दो भेद से) पुकारा जाता है। इनमें से महालिंग हृदयस्थान का, प्रसादलिंग श्रोत्रेन्द्रिय का, जंगमलिंग त्वगिन्द्रिय का, शिवलिंग नेत्रेन्द्रिय का, गुरुलिंग रसनेन्द्रिय का, आचारलिंग घ्राणेन्द्रिय का आश्रय लेकर उन उन बिषयों का अनुभव करते हुए सुख से परिवर्तित होता रहता है। उनमें से योगांगस्थल ऐक्यस्थल और शरणस्थल नाम से, भोगांगस्थल प्राणलिंगिस्थल और प्रसादस्थल नाम से और त्यागांगस्थल माहेश्वरस्थल और भक्तस्थल के नाम से विभक्त हुए हैं। इस प्रकार परब्रह्म अपने पूज्यपूजक लीलावैभव से शिवतत्त्व और जीवतत्त्व नामक दो प्रकार का है। शिवतत्त्व को लिंगस्थल और जीवतत्त्व को अंगस्थल कहा जाता है। उपास्यरूप लिंगस्थल छः प्रकार का है और उपासकात्मक अंगस्थल भी छः प्रकार का है। ऊपर बताये गये लिंगों में महालिंग ऐक्यस्थल में चिच्छक्ति, शान्त्यतीतोत्तर कला और समरस भक्ति को प्राप्त होकर मन रूपी इन्द्रिय के रूप में परिणत होकर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द नामक विषयों के ग्रहण करने का साधन बन गया है। प्रसादलिंग शरण-स्थल में पराशक्ति, शान्त्यतीत कला और आनन्द भक्ति को प्राप्त करके श्रोत्रेन्द्रिय होकर शब्द ग्रहण का कारण बन गया है। जंगमलिंग प्राणलिंगिस्थल पर आदि-शक्ति, शान्ति कला और अनुभव भक्ति को प्राप्त करके त्वगिन्द्रिय होकर स्पर्श ग्रहण का साधन बन गया है। शिवलिंग प्रसादिस्थल पर इच्छा शक्ति विद्या कला और अवधान भक्ति को प्राप्त करके नेत्रेन्द्रिय होकर रूप ग्रहण का साधन बन गया

भागेऽनुभवसूत्रस्थितवचनरीत्या समस्तभक्ताङ्गान्यघटितघटना-पटीयांस्त्वमेव व्याप्नोषीत्यर्थ इति प्राहुः ।

अन्ये तु पवित्रं ते विततमित्यत्र विततशब्दस्तनुशब्दवत् "तनु विस्तारे" (१४६४ तना०) इति धातुनिष्पन्नत्वेन शरीरार्थकः, ब्रह्मपदं लिङ्गार्थकम् । तथा च हे ब्रह्मणस्पते

रिति । पूर्वस्मिन् कल्पे ब्रह्मणस्पते इत्यस्य लिङ्गशरीराधिष्ठित इत्यर्थः । अस्मिन् व्याख्याने च चतुर्मुखजनक इत्यर्थः ।

अन्ये त्विति । अस्मिन् मते विततपदस्य शरीरार्थकत्वमुपपादयति—तनु विस्तार इत्यादिना ।

है । गुरुलिंग महेशस्थल पर ज्ञान शक्ति, प्रतिष्ठा कला और निष्ठा भक्ति को प्राप्त करके रसनेन्द्रिय होकर रस ग्रहण का साधन हो गया है । आचारलिंग भक्तस्थल पर क्रिया शक्ति निवृत्ति कला और श्रद्धा भक्ति को प्राप्त करके घ्राणेन्द्रिय होकर गन्ध ग्रहण का साधन हो गया है ।

इसके अतिरिक्त भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा (बुढ़ापा), मरण नामक ऊर्मिषट्क से और जायते, अस्ति, वर्धते, परिणमते, अपक्षीयते, म्रियते—इन षड्भाव विकारों से अलग होकर, विकल्परूप भेदभाव से शून्य होकर महालिंग में जो एकाकार हो जाते हैं, वे ऐक्यस्थली कहे जाते हैं । लिंग में पतित्व भावना और अपने में सतीत्व भावना करके सती के लिए सब कुछ पति ही है, ऐसी भावना से स्रक्, चन्दन, वनिता आदि प्रापंचिक सुखों को तिलांजलि देकर निरन्तर शिवानन्द से विशिष्ट होकर रहनेवाले ही शरणस्थली कहे जाते हैं । लिंग में प्राण को और प्राण में लिंग को लीन करके सुख और दुःख से विमुख रहनेवाले ही प्राणलिंगी हैं । लिंगार्पित पदार्थों को ही जीविकोपार्जन के निमित्त उपयोग में लेते हुए लिंग में मन को लय करके लिंग को समर्पित न किये हुए पदार्थों को छाड़ देनेवाले ही प्रसादस्थली कहे जाते हैं । परस्त्री, परद्रव्यों को त्याग करते हुए भावशुद्धि के साथ लिंग में निष्ठा रखनेवाले ही महेश्वरस्थली कहे जाते हैं । सदाचारी होकर भगवान् शिव में अनन्य भक्ति से युक्त होकर गुरु, लिंग, जंगमों में समत्व बुद्धिवाले, भस्म, रुद्राक्ष आदि प्रतीकों में तथा शिवशरणों में भक्ति रखने वाले भक्तस्थली कहे जाते हैं । इस प्रकार षडंगों में षड्लिंगों को आराधना करनेवाले ही षट्स्थलब्रह्मी कहे जाते हैं ।

लिङ्गाधिष्ठानक परमशिव, ते विततं लिङ्गरूपशरीरं पवित्रं शुच्यशुचिकालेऽपि धारणयोग्यम्। प्रभुः तादृशलिङ्गशरीरको भुक्तिमुक्तिफलप्रदाता भक्तशरीराणि पर्येषि व्याप्नोषि। लिङ्ग-शरीरावच्छिन्नः शिवो भक्तगात्रेषु धार्य इत्यक्षरार्थ इत्याहुः।

गुरुमते त्वियान् विशेषः—"उद्देश्यवचनं पूर्वं विधेयश्च ततः परम्" इति मिश्रकारिकानुरोधेन पवित्रं ते विततमित्यत्र पवित्रपदस्य लिङ्गार्थकत्वे विततपदवाच्यविस्तृतत्वस्य विधेय-त्वेनोद्देश्यविधेयवाचकशब्दयोः पौर्वापर्यं सिद्ध्यति। वितत-शब्दस्य लिङ्गार्थकत्वे पावित्र्यस्य विधेयत्वे तु वैपरीत्यमिति। उक्तार्थानुरोधेनैवास्य मन्त्रस्योपबृंहणमप्यस्ति लिङ्गपुराणे—"कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम्। मानवः शिवयोगेन शिवो भवति निश्चयः।। ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा मुनयो गौतमा-दयः। धारयन्ति सदा लिङ्गमुत्तमाङ्गे विशेषतः।।" इत्यु-पक्रम्य—"ब्रह्मेति लिङ्गमाख्यातं ब्रह्मणस्पतिरीश्वरः। पवित्रं तद्धि विख्यातं तत्सम्पर्कात् तनुः शुचिः। ऋगित्याह पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते। तस्मात् पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमना-मयम्।। अतप्ततनुरज्ञो वै आमः संस्कारवर्जितः। दीक्षया रहितः साक्षान्नाश्नुते लिङ्गमुत्तमम्।। यः करोति तपः पूर्वं स तप्ततनुरुच्यते। परिपक्वो विमोक्षाय सोऽश्नुते लिङ्गधारणम्।।

उद्देश्यवचनं पूर्वमिति। पर्वतो वह्निमानित्यत्रेवेति भावः। मिश्रकारि-केति मण्डन मिश्रकारिकेत्यर्थः। ब्रह्मेति लिङ्गमाख्यातमिति। इदं प्रथम-

यहाँ पर विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त "गात्राणि पर्येषि विश्वतः" इस वाक्य के आधार पर षडंगों में षड्लिंगों का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। यह षट्स्थल सिद्धान्त बहुत विस्तृत एवं दुरूह होने पर भी इस सन्दर्भ में संक्षेप से दिखाया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद का "पवित्रं ते" यह मन्त्र लिंगधारणपरक अर्थ को ही बोध करा रहा है। इस मन्त्र के अर्थं के समर्थक वाक्य पुराणों में भी मिलते हैं।

न करोति तपः पूर्वं सोऽतप्ततनुरुच्यते । अपक्वोऽयं विमोक्षाय नाश्नुते लिङ्गधारणम् ।।" इति । अत्र ब्रह्मेति लिङ्गमाख्यातमिति, तद्धि विख्यातमिति, धार्यं शैवमिति चोक्तार्थोपोद्बलकमिति स्पष्टम् ।

किञ्च, "इति सम्बोधितः शिष्यो गुरुणा शास्त्रवेदिना । धारयेच्छाङ्करं लिङ्गं शरीरे प्राणयोगतः ।। लिङ्गस्य धारणं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् । आदृतं मुनिभिः सर्वैरागमार्थविशारदैः ।।" (सि.शि.६।२७-२८),"इष्टलिङ्गमिदं साक्षादरिष्टपरिहारकम्। धारयेदवधानेन शरीरे सर्वदा बुधः ।।" (सि० शि० ६।५०), "धारयेदवधानेन लिङ्गं तद्गुरुणार्पितम् । प्रमादात् पतिते लिङ्गे प्राणानपि परित्यजेत् ।।" इत्यादिशङ्करसंहितासिद्धान्तशिखामण्यादिवचनान्युक्तार्थोपोद्बलकान्यनुसन्धेयानीति ।

ऋग्वेदेऽपि न केवलं पवित्रं त इति मन्त्रेणैव तत्सिद्धिः, किन्तु—"अयं मे हस्तः" (ऋ० १०।६०।१२) इति मन्त्रान्तरेणापि तदेव सिद्ध्यति ।

"अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ।।" (ऋ० १०।६०।१२), "अयं

व्याख्यानानुकूलम् । ऋग्वेदस्यैव मन्त्रान्तरं प्रमाणयति—अयं मे हस्त इत्यादिना । अर्थस्तु—अयं भगवान् लिङ्गरूपसदाशिवः, मे हस्तः, मम हस्तगत

इस प्रकार इस मन्त्र के पवित्रम्, ब्रह्मणस्पते, अतप्ततनुः, आमः—इत्यादि पदों को लेकर लिंगधारण का स्पष्टतया निरूपण किये जाने से इस मन्त्र का 'पवित्रम्' यह पूर्वार्ध इष्टलिंगधारण का और 'अतप्ततनुः' यह उत्तरार्ध लिंगधारण रूप शिवदीक्षा संस्कार का बोध करा रहा है, ऐसा समझ लेना चाहिये ।

इसके बाद ऋग्वेदीय दूसरे मन्त्र को लेकर लिंगधारणपरक अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है ।

अवयवार्थ— अयं भगवान् = लिंगरूप यह सदाशिव, मे हस्तः = मेरे हाथ पर विराजमान हैं । अयं = यही शिवलिंग, मे = मुझे, भगवत्तरः = सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य

माता अयं पिता अयं जीवातुरागमात् । इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरीहि ।।" (ऋ० १०।६०।७) इत्यत्र भगवच्छब्देन परमशिव एवोच्यते, "अथैनं भगवन्तं रुद्रं कुमारः पप्रच्छ", "अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ" (काला० उ० २) इत्यादिश्रुतिषु, "इति संस्तूयमानस्तु भगवान् वृषभध्वजः" इति हरिवंशादिषु च शिवे तत्पदप्रयोगात् । एवं चायं भगवान् लिङ्गरूपः शिवः, मे हस्तः हस्तगतः, मे मत्सम्बन्धी, अयं शिवो भगवत्तर इत्यर्थः ।

इत्यर्थः । अयमेव सदाशिवो मे भगवत्तरः मम सर्वैश्वर्यवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजः विश्वेषां रोगाणां निवर्तकौषधस्वरूपः । अयं शिवाभिमर्शनः सर्वेषां कल्याणानां प्रापकः । अयं माता मातृवद् वात्सल्यवान् । अयं पिता पितृवद्रक्षकः । अयं जीवातुः जीवनसाधनभूतः । आगमात् शास्त्रप्रामाण्यात् । इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि । हे सुबन्धो ! निरुपाधिकविश्वसुहृत् ! एहि आगच्छ । इदं तव प्रसर्पणम् इदं मद्धस्तगतं लिङ्गं तव प्रसर्पणं विहारस्थानम् । निरीहीति निर्गमचेष्टारहितः सन् अस्मिन् शिवलिङ्गे तिष्ठेत्यर्थः । अत्र कतिपयपदानामर्थान्तरं स्वयमग्रे मूलकारो वक्ष्यति । अत्र भगवत्पदेन सदाशिव एवोच्यते—"भगवन्तं रुद्रं कुमारः पप्रच्छ", "अथ कालाग्नि-

को देनेवाला है । अयं = मेरे हाथ पर विराजमान यह शिवलिंग, मे = मेरे, विश्वभेषजः = सम्पूर्ण भवरोगों का नाश करने वाला महावैद्य है । अयं = मेरे हाथ पर विराजमान यह शिवलिंग, शिवाभिमर्शनः = समस्त कल्याणों को करने वाला है । अयं = मेरे हाथ में रहनेवाला यह लिंग, माता = माँ की तरह स्नेह वाला है । पिता = पिता की तरह रक्षा करने वाला है । अयं = यह शिवलिंग, जीवातुः = संजीवनी की तरह (जैसे संजीवनी नामक औषधि प्राणप्रद है, वैसा) प्राणरक्षक है । आगमात् = शास्त्र के प्रमाण से, हे सुबन्धो = हे निर्व्याज (बिना हेतु = कारण व लाभ के) बन्धु ! एहि = यहाँ पर पधारो । इदं = मेरे हाथ में रहनेवाला यह शिवलिंग, तव = आप के लिये, प्रसर्पणं = विहार स्थल है, निरीहि = इधर-उधर न जाकर इस इष्टलिंग पर निरन्तर निवास करो । इस तरह के अन्य मन्त्र भी यहाँ उद्धृत हैं । पितृमेधप्रकरण, श्वेताश्वतर, अथर्वशिरस्,

ननु हस्तगतो भगवानिति वक्तव्ये हस्त इत्युक्तिः कथमिति चेन्न, "आदित्यो भगवान् सूर्यो नीलग्रीवस्त्रिलोचनः। अधीयते सहस्रांशुः सामगाध्वर्युहोतृभिः ।।" इत्यादित्यपुराणवचने, "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते" इत्यारभ्य "अम्बिकापतय उमापतये पशुपतये नमो नमः" इत्यन्तेन तैत्तिरीयवचनेन, "सौरमण्डलमध्यस्थं साम्बं संसारभेषजम्", "मण्डलान्तरगतं हिरण्मयं भ्राजमानवपुषं शुचिस्मितम्

रुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ" (काला० उ० २) इत्यादिवेदवाक्येषु, "भगवान् वृषभध्वजः" इति हरिवंशादिषु च सदाशिव एव भगवच्छब्दस्य प्रयोगात् ।

हस्तगत इत्यनुक्त्वा अयं मे हस्त इति बाधितार्थकं कथमुच्यते ? इत्याशङ्क्य समाधत्ते—आदित्यो भगवान् सूर्यो नीलग्रीवस्त्रिलोचन इत्यादिना । "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते" इति, "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यमन्तरो यमयति यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरम्" (बृ० उ० ३।७।९) इत्यन्तर्यामिब्राह्मणमप्यत्रानुसन्धेयम् । एवम्—"सौरमण्डलमध्यस्थं साम्बं संसारभेषजम्" इत्यनेनापि मण्डलादिभिन्नत्वं

शतरुद्रीय आदि अनन्त श्रुतियाँ 'भगवान्' पद को केवल शिव में विनियुक्त करती हैं, अतः "अयं मे हस्तो भगवान्" इस मन्त्र के 'भगवान्' पद का शिवलिंग रूप अर्थ निर्विवाद हो जाता है ।

शंका—लेकिन इस मन्त्र में "अयं मे हस्तः" ऐसा प्रथमान्त पद है, न कि "हस्तगतः" ऐसा पद । इसलिये हस्त पद का हाथ इतना ही अर्थ होगा, न कि हाथ में धारण किया हुआ, ऐसा अर्थ । इसलिये भगवत्पदवाच्य शिवलिंग मेरे हाथ में धारण किया हुआ है, ऐसे अर्थ का निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान—ऐसो बात नहीं, क्योंकि—"हस्तो भगवान्" इस प्रकार हस्त पद भगवत्पद के पास होने से हाथ में धारण किया हुआ शिवलिंग, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये । आदित्यपुराण में स्पष्ट कहा गया है—भगवान् = सर्वव्यापक शिवलिंग, आदित्यः = सूर्यमण्डल में है । नीलग्रीवः = काली गर्दन से विशिष्ट है । त्रिलोचनः = सूर्य, चन्द्र और अग्नि नामक तीन नेत्रों से विशिष्ट है ।

इत्यादिवचनैश्चादित्यगतत्वेन प्रतिपादिते परमशिवे शिवादित्ययोरविभाज्यसम्बन्धद्योतनायादित्यगतस्त्रिलोचन इत्यनुक्त्वाऽऽदित्यस्त्रिलोचन इत्युक्तिवदयं मे हस्तो भगवानित्यत्रापि हस्तशिवलिङ्गयोरविभाज्यसम्बन्धसूचनाय हस्तगत इत्यनुक्त्वा हस्तो भगवानित्युक्तमिति वक्तुं शक्यत्वात् ।

मण्डलान्तर्गतत्वं साम्बशिवस्य प्रतीयते, तथापि "आदित्यस्त्रिलोचनः" इत्यभेदोपचारो दृश्यते, एवमेवायं मे हस्तो भगवानित्यत्रापि द्रष्टव्यमित्याह—आदित्यस्त्रिलोचन इत्युक्तिवदिति। त्रिलोचनस्यादित्यमण्डलान्तर्गतत्वेऽप्यादित्याभेदोपचारवत् शिवलिङ्गस्य हस्ते पूज्यरूपेण वर्तमानत्वेऽप्ययं मे हस्त इत्यभेदोपचार इति भावः। उपचारफलं तु हस्तशिवलिङ्गयोरविभाज्यसम्बन्धबोधनमेव। सम्बन्धेऽविभाज्यत्वं च जीवनदशावच्छिन्नभक्तशरीरवृत्त्यभावाप्रतियोगित्वम्। तेन च लिङ्गधारणस्य सर्वदा कर्तव्यत्वं

सूर्यः = सूर्य नाम वाला है। यहाँ पर भगवान्, नीलग्रीवः, त्रिलोचनः—इन पदों के पास रहनेवाले आदित्य और सूर्य पद का सूर्यमण्डल में रहनेवाले सूर्य की अपेक्षा भिन्न शिवलिंग को बताने के लिए "आदित्यो भगवान्" इस प्रकार का अभेद बताया गया है, वैसे ही हाथ पर निरन्तर पूजा करनी चाहिये, इस अर्थ को बताने के निमित्त "हस्तो भगवान्" ऐसा औपचारिक (गौण) अभेद दिखाने से हाथ और हाथ पर रखकर पूजा किये जाने वाले शिवलिंग, इन दोनों के नित्य सम्बन्ध का संकेत मिल जाता है। और "जो पुरुष सुवर्ण (सोने के) वर्ण की आभा से युक्त होकर निरन्तर सूर्यमण्डल में प्रकाशित हो रहा है, उसी उमा रूपी शक्ति से विशिष्ट परशिव को नमस्कार है"। इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों और समर्थक वाक्यों के आधार पर परशिव ब्रह्मलिंग सूर्यमण्डल में प्रकाशित होने पर भी उस सूर्यमण्डल से भिन्न है, ऐसा स्पष्टतया दीखने से "आदित्यो भगवान्" इत्यादि वाक्यों से सूर्य ही परशिव है, ऐसा सूर्य और परशिव इन दोनों में सामान्यतया दीखने वाला अभेद सूर्य और परमेश्वर के नित्य सम्बन्ध को दिखाने के लिये बताया गया है, न कि सूर्य ही परशिव है, ऐसा निर्णय करने के लिये। उसी प्रकार "हस्तो भगवान्" इस स्थान पर भी हाथ और हाथ पर रखकर पूजा किये जाने वाले शिवलिंग का आधाराधेयभाव सम्बन्ध होने से सहजतया भेद होने पर भी इस इष्टलिंग के आधारस्वरूप हस्त, कण्ठ आदि अंगों को छोड़कर वह

एवं चोभयोरविभाज्यसम्बन्धानुपपत्त्या, "संस्कृत्य गुरुणा दत्तं षडध्वन्यासपूर्वकम् । वामहस्तगतं लिङ्गं सावधानेन पूजयेत् ।। धारयेद् यस्तु हस्तादौ लिङ्गाकारं शिवं सदा । तस्य हस्तस्थितं विद्धि मत्पदं संपदाम्पदम् ।।"

सिद्धयति । न च धृतेऽपि लिङ्गेऽवयवान्तरावच्छेदेन वृत्त्यभावप्रतियोगित्वस्य सत्त्वे न बाध इति वाच्यम्, अभावे प्रतियोगिव्यधिकरणत्वस्य निवेशनीयत्वात् । न चैवं धारणपूर्वकपरित्यागेऽपि तादृशाप्रतियोगित्वाबाध इति वाच्यम्, स्वप्रतियोगिनिष्ठाधेयतावद्भिन्नत्वरूपवैयधिकरण्यस्य प्रवेशनीयत्वात् । आधेयतावैशिष्ट्यं च स्वावच्छेदककालावच्छिन्नत्वस्वनिरूपकशरीरनिरूपितत्वोभयसम्बन्धेन । एतदभिप्रायेण वक्ष्यति । षडध्वन्यासपूर्वकमिति । षडध्वन्यासो दीक्षाविधौ द्रष्टव्यः । अत्रैवेशावास्योपनिषद्वाक्यं प्रमाणत्वे-

लिंग जब तक देह रहता है, तब तक अलग नहीं होना चाहिये, वैसा नित्यसम्बन्ध बता रहा है । 'अयं मे भगवान्" इस मन्त्र में शिव अपने हाथ पर है, इस स्पष्ट अर्थ को बताने वाले "हस्तगतो भगवान्" वाक्य का प्रयोग न कर, "हस्तो भगवान्" (मेरा हाथ ही शिवलिंग है) ऐसा लाक्षणिक (औपचारिक) अभेद दिखाया गया है । इस प्रकार के अभेदार्थक "हस्तो भगवान्" ऐसे प्रथमान्त पद को इस श्रुति में न दिखलाने पर हस्त, कण्ठ आदि अंगों में धारण किये गये शिवलिंग और दीक्षाबद्ध देह का जो अविभाज्य सम्बन्ध है, उसका लोप हो जाता । वीरशैव सिद्धान्त में मुक्तिदायक और शिवस्वरूप इष्टलिंग को शिष्य गुरु से दीक्षापूर्वक जब से ग्रहण करता है, तब से जब तक यह स्थूल देह रहे, तब तक इष्टलिंग देह से अलग नहीं हो सकता, देह और शिवलिंग का वियोग होने पर महत्तर दोष बताया गया है । जैसा कि वातुलागम में कहा गया है—

श्रीगुरु शिष्य की योग्यता की परीक्षा करके उपयुक्त समय पर षडध्वन्यासपूर्वक शिवदीक्षा से परिशुद्ध करके शिष्य के वामहस्त नामक पीठ पर शिवकला से विशिष्ट शिवलिंग को 'सर्वलिङ्गम्' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्थापित करता है और कहता है कि इस शिवलिंग की सावधानी से पूजा करना और 'यज्ञोपवीतम्' इस मन्त्र से शिर, कण्ठ, वक्षस्थल, उदर (पेट), हस्त आदि उत्तमांगों में से किसी एक पर धारण करना । गुरु की इस आज्ञा के अनुसार जो शिष्य लिंगधारण और लिंगपूजा में आसक्त होकर रहता है, उसके लिये लौकिक सुखपरम्पराओं की प्राप्ति तो होती ही है, साथ ही साथ देह की समाप्ति के बाद शिव में लय हो जाता है । प्रमाद से इस लिंग के देह से वियुक्त होने पर प्राण को

इति वातुलवीरागमाद्युपबृंहणादिवचनानुरोधेन च हस्तादौ धारणं लभ्यते । हस्तशिवलिङ्गसम्बन्धस्याविभाज्यत्वादेव—"धारयेदवधानेन लिङ्गं तद् गुरुणार्पितम् । प्रमादात् पतिते लिङ्गे प्राणानपि परित्यजेत् ।। पतिते प्राणलिङ्गे यः प्राणान् धत्ते नराधमः । स चाण्डाल इति ज्ञेयः शिवद्रोही न संशयः ।। हस्तसिंहासने लिङ्गमप्रमादेन धारयेत् । प्रमादात् पतिते लिङ्गे सह प्राणान् परित्यजेत् ।। लिङ्गपातिनमाचारनिन्दकं न हृदि स्मरेत् । भूमौ प्रतिष्ठितं लिङ्गं पुनर्नोत्पाट्यते यथा । देहे प्रतिष्ठितं लिङ्गमन्तेऽपि न विभज्यते ।।" इत्यादि लिङ्गाङ्गविभागे दोषविधायकशङ्करसंहितादिवचनान्यपि सङ्गतानि । तद्वचनानामपि शरीरविभक्तलिङ्गस्य पुनः संग्रहे स्वगृह्योक्तविधानेन वाऽन्तरप्रायश्चित्तमेव, असंग्रहे तु मरणान्तप्रायश्चित्तमित्यत्र तात्पर्यमिति द्रष्टव्यम् । अत एवोक्तमीशावास्योपनिषदि—"तेन त्यक्ते न भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्"(ई. १) इति ।

नोपन्यस्यति—तेन त्यक्ते न भुञ्जीथा इति । तेन लिङ्गात्मना परमेश्वरेण त्यक्ते त्वच्छरीरेण विभागे जाते न भुञ्जीथा अन्यस्य धनं शिवलिङ्गरूपं मा गृधः न कामयस्वेत्यर्थः ।

भी छोड़ देने के लिये तैयार रहना चाहिये । कहने का अभिप्राय यह है कि भुक्ति-मुक्ति प्रदायक लिंग की अपने प्राण की तरह रक्षा करनी चाहिये । इस इष्टलिंग को खोकर जो शून्य हृदय हो जाता है, वह नरों में अधम है, चण्डाल के सदृश है, शिवद्रोही है और पतित है, ऐसा शिवागम बता रहे हैं । जिसने इष्टलिंग को छोड़ दिया है और जो आचार से भ्रष्ट हो गया है, उसका स्मरण न करना चाहिये । जमीन पर प्रतिष्ठित स्थावर लिंग को जैसे उखाड़ नहीं सकते, वैसे ही इस देहरूपी जमीन पर प्रतिष्ठित इष्टलिंग को भी उखाड़ना नहीं चाहिये ।

ईशावास्योपनिषद् कहती है – तेन = लिंगरूप परम शिव को, त्यक्ते = प्रमाद से छोड़ देने पर, न भुञ्जीथाः = खाना न खाकर, अर्थात् अनशन व्रत करते हुए

तेन कारणेन त्यक्ते प्रमादादिना लिङ्गत्यागे सति पुनरसंग्रहे च सति न भुञ्जीथाः, परन्त्वनशनादिना शरीरमेव विसृजेत् । कस्यस्विद् अन्यदीयं धनं लिङ्गं मा गृधः न स्वीकुरुष्व । "धनं वै लिङ्गम्" इति कौषीतकी श्रुतिरिति ।

ननु—"नारायणोऽपि भगवान् देवकीतनयो हरिः । ततः स भगवान् जज्ञे ब्रह्मा लोकपितामहः ।। सनत्कुमारो भगवान्" इत्यादिषु देवर्षिसाधारण्येन प्रयुज्यमानस्य भगवच्छब्दस्य कथं शिवलिङ्गपरत्वम् ? इति चेन्न, "हस्तेनावद्यति, स्रुवेणावद्यति, स्वधितिनाऽवद्यति" इत्यत्रावदानमात्रसाधारणस्यावद्यतीत्यस्य हस्तादिलिङ्गसाचिव्येन तत्तत्पुरोडाशावदानादिपरत्ववत् प्रकृतेऽपि देवतान्तराणां हस्तादिधारणाप्रसिद्ध्या हस्तगतत्व-

---

देवर्षिसाधारण्येनेति । ततश्चायं मे हस्तो भगवानित्यादौ ब्रह्मसनत्कुमारादीनां भगवत्पदेन प्राप्तिरस्तीत्याशयः ।

तत्तत्पुरोडाशेति । अवद्यतीत्येकानुपूर्वीकपदश्रवणेऽपि हस्तस्रुवस्वधितिपदानां भिन्नार्थकानां समभिव्याहारबलाद्योग्यताबलेन हस्तेन पुरोडाशस्य, स्रुवेण घृतस्य, स्वधितिना मांसस्य पृथक् पृथगवदानं प्रतीयते, एवमिहापि

शरीर को छोड़ देना चाहिये । कस्यस्वित् = दूसरे के, धनं = 'धनं वै लिङ्गम्" इस कौषीतकी श्रुति के प्रमाण के अनुसार शिवलिंग को, मा गृधः = स्वीकार न करे ।

शंका—लेकिन यहाँ पर "नारायणोऽपि" इस प्रकार के अनन्त लौकिक प्रमाणों से भगवत्पद का नारायण में, चतुर्मुख ब्रह्मा में और सनत्कुमार आदि महर्षियों में प्रयोग मिलता है। इस तरह सर्वसाधारण में प्रयुक्त नारायण पद को हाथ पर लिये हुए शिवलिंग के अर्थ में कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है ?

समाधान—ऐसा करने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि "हस्तेनावद्यति, स्रुवेणावद्यति, स्वधितिनावद्यति" हाथ से अवदान करना चाहिये (समूह से अलग करके ले लेने का नाम अवदान है)। स्रुव माने कलछुल से ग्रहण करना चाहिये। स्वधिति से ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार के पूर्वमीमांसा वाक्यों में अवदान केवल साधारण स्वरूप अवद्यति, अवद्यति,

लिङ्गेन भगवच्छब्दस्य शिवलिङ्गपरत्वावश्यम्भावात् । किञ्च, "अयं शिवाभिमर्शनः" (ऋ० १०।६०।१२) इति वाक्यशेषेणायं मद्धस्तगतो भगवान् शिव इत्यभिमृश्यते परामृश्यत इति शिवाभिमर्शनः, शिवपदोपस्थाप्य इति यावत्, इत्यर्थकेन यवव्रीह्यधिकरणन्यायेन भगवत्पदस्य शिवलिङ्गपरत्वनिश्चयाच्च ।

भगवच्छब्दस्य साधारण्येऽपि हस्तपदसान्निध्याद्धस्तधृतशिवलिङ्गपरत्वमिति समाधानग्रन्थाशयः। यवव्रीह्यधिकरणन्यायेनेति । "व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेत" (आप० श्रौ० ६।३१।१३) इत्यत्र यवशब्दस्य म्लेच्छेषु प्रियङ्गौ, आर्येषु दीर्घशूके च प्रयोगदर्शनात् कस्यार्थस्य प्रकृते ग्रहणं कार्यमिति जिज्ञासाम्—"यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते, अथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति" (श० ब्रा० ३।६।१।१०) इति वाक्यशेषेण दीर्घशूकस्यैव ग्रहणं निर्णीयते ।

इस प्रकार के समान स्वरूप वाले पद के होने पर भी इन पदों के पास हस्त, स्रुव, स्वधिति पद होने से "हस्तेनावद्यति" इस वाक्य से हस्त से पुरोडाश का अवदान (ग्रहण), "स्रुवेणावद्यति" इस वाक्य से स्रुवा से घृत (घी) का अवदान और "स्वधितिनावद्यति" इस वाक्य से स्वधिति में माँस का अवदान करना चाहिये । इस प्रकार हस्त आदि साधनों से पुरोडाश आदि हविर्द्रव्यों को अलग अलग ग्रहण करने का जैसे विधान है, वैसे ही 'अयं मे' इस मन्त्र के भगवत्पद के अन्य देवताओं से संबद्ध साधारण पद के होने पर भी इस भगवत्पद के पास 'हस्त' ऐसा पद आने से इस प्रकार के हाथ में नारायण आदि अन्य देवताओं को धारण करने का व्यवहार व प्रमाण कहीं पर भी न दीखने से इस भगवत्पद का शिवलिंग ऐसा अर्थ निश्चित हो जाता है । लौकिक प्रयोग की अपेक्षा श्रौत प्रयोग के प्रबल होने से भगवत्पद के पुराण आदि लौकिक वाक्यों से महर्षियों में, शिवेतर देवताओं में प्रयुक्त होने पर भी अनन्त श्रुतियों में शिवपरक अर्थ में भगवत्पद का प्रयोग रहने से इस पद का शिवलिंग अर्थ ही प्रधान है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

इससे इष्टलिंग को देह से कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये, ऐसा तात्पर्य सिद्ध हो जाता है । इसलिये हाथ और हाथ पर रखे गये शिवलिंग का नित्य संबन्ध दिखलाने के लिये ही "अयं मे हस्तो भगवान्" इस मन्त्र का आविष्कार है। इस मन्त्र में "शिवाभिमर्शनः" ऐसा एक विशेष पद है । यहाँ पर हाथ में रहने

एवं हस्तादौ लिङ्गधारणं विधाय तस्य लिङ्गस्य सृष्टयादिकर्तृत्वेनार्थवादः क्रियते। तत्रायं माता अयं पितेति सृष्टिकर्तृत्वमभिधीयते। अयं विश्वभेषज इत्यनेन विश्वस्य भवस्य भेषजः संसाररोगनाशक इत्यर्थकेन संहारकर्तृत्वं प्रतिपाद्यत इति।

एवमिहाप्ययं मे शिवाभिमर्शन इति वाक्यशेषबलाद् भगवच्छब्देन शिव एव गृह्यत इति भावः।

संहारकर्तृत्वमिति। मध्ये मध्ये प्रारब्धोपस्थापितनानाविधदुःखात्मक-रोगशामकत्वेन पालनकर्तृत्वमपि भेषजत्वोक्त्या बोध्यते।

वाले भगवत्पदवाच्य परमेश्वर "शिव इत्यभिमृश्यत इति शिवाभिमर्शनः" अर्थात् शिव ऐसा विचार किया जाता है, इस प्रकार के विग्रह से "हस्तो भग-वान्" इस वाक्य का भगवत्पद सामान्य वचन है, ऐसा बताने पर भी परशिव-लिंगपरक ही निश्चय हो जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्वमीमांसा में "व्रीहिभिर्यजेत", "यवैर्यजेत" अर्थात् जौ और धान से यज्ञ करे, इन वाक्यों में व्रीहि और यव को यज्ञ का साधन बताया गया है। आर्य लोग इसी यव शब्द का 'दीर्घशूक' (लम्बे बाल वाले) धान्य की जातिविशेष में प्रयोग करते हैं और म्लेच्छ लोग प्रियंगु में। इस प्रकार 'यव' शब्द के दो प्रकार के अर्थ हो जाने पर किस अर्थ का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा सन्देह हो जाने पर "यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमाना इवोपतिष्ठन्ते" अर्थात् जिस काल में दूसरी सारी फसल मुरझा जाती है, लेकिन यह दीर्घशूक धान्य जौ तो हरा-भरा रहता है। इस प्रकार के वाक्य के बल से 'यव' शब्द से दीर्घशूक विशिष्ट धान्य को ग्रहण करना है, न कि प्रियंगु (साँवा) धान को, ऐसा नियम बनाया गया है। इसी को 'यवव्रीह्यधिकरणन्याय' कहते हैं।

इस न्याय के आधार पर "अयं मे हस्तो भगवान्" इस मन्त्र का भगवत्पद इन्द्र आदि देवताओं तथा नारद आदि महर्षियों के अर्थ में प्रयुक्त माना जा सकता है, किन्तु आगे के 'शिवाभिमर्शनः' इस वाक्यशेष के बल से उस भगवत्पद का अर्थ हाथ में रहनेवाला लिंगरूप शिव, ऐसा निश्चय हो जाता है। यह मन्त्र हस्त आदि स्थानों में लिंगधारण का विधान करने के बाद "अयं माता, अयं पिता" इस प्रकार से सृष्टिकर्तृत्व और "अयं विश्वभेषजः"

नन्वयं शिवाभिमर्शन इत्यत्रेदंशब्देन प्रागुक्तहस्तः परामृश्यते, शिवमभिमृशति चन्दनलेपनादिना स्पृशतीति शिवाभिमर्शनः, तथा च दारुपीठादौ बाणमरकतलिङ्गाद्यर्चनाकाले दक्षिणहस्तस्य चन्दनलेपपूजानिवेदनादिविनियुक्तस्यात्यन्ताभ्यर्हितस्यायं मे हस्तो भगवानित्यादिना भगवत्त्वमातृत्वपितृत्वादिनार्थवादः क्रियत इति नायं मन्त्रो हस्तादौ लिङ्गधारणविधायक इति चेन्मैवम्, हस्तस्याचेतनत्वेन तत्र भगवत्त्वमातृत्वपितृत्वादिसम्बन्धासम्भवेनोक्तरीत्या समवेतगुणसम्बन्धबोधकत्वे सम्भवत्यसमवेतगुणसम्बन्धबोधकत्वाङ्गीकारस्य जघन्यत्वात् ।

अत एव—"सोमः पवतेर्जनिता मतीनाम्" (ऋ० ९।९६।५) इत्यादौ सोमलताया मन्त्रोक्तगुणसम्बन्धाभावेन

असमवेतगुणेति। आरोपितगुणेत्यर्थः।

इससे स्थितिसंहारकर्तृत्व का बोध कराता है, अतः इन मन्त्रों का 'हाथ पर धारण किया हुआ लिंग' यह अर्थ करना ही न्यायसंगत है।

शंका—ऐसा कहने पर विरोध दीख रहा है। जैसे कि— 'अयं शिवाभिमर्शनः" इस वाक्य के अयं = यह हाथ, शिवाभिमर्शनः = "शिवमभिमृशतीति शिवाभिमर्शनः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिवलिंग को स्पर्श कर रहा है, ऐसा अर्थ होता है। इससे बाणलिंग (जिसमें एक ही पत्थर से गौरीपीठ एवं लिंग का निर्माण किया गया हो), मरकत (एक रत्नविशेष) लिंग, स्फटिक लिंग—इनमें से किसी एक लिंग को लकड़ी, चाँदी व सोने के पीठ पर रखकर जब पूजा की जाती है, उस समय पुजारी अपने हाथ से उस शिवलिंग को गन्ध आदि द्रव्य अथवा नैवेद्य (भोग) आदि का निवेदन करता है। इस प्रकार समर्पण करते समय इस हाथ की "अयं मे हस्तो भगवान्, अयं माता, अयं पिता" ऐसी स्तुति की जाती है। इसलिये इस मन्त्र का अर्थ स्थावरलिंगपरक ही है, न कि इष्टलिंगपरक। तब आप इस मन्त्र का अर्थ इष्टलिंगपरक कैसे कर सकते हैं ?

समवेतसम्बन्धबोधनार्थमुमया सहितः सोम इति श्लेषमहिम्ना परमशिवाभिव्यञ्जनमिति ग्रन्थकृतां लेखनमपि सङ्गच्छते ।

किञ्च, निखिलभुवनभवनपालनविलयनलीलाधुरन्धर-शिवलिङ्गस्य दारुपीठाद्यर्चनासमये कदाचित् स्पर्शनमात्रवत एव हस्तस्याभ्यर्हितत्वेन स्तुतिविषयत्वेऽस्मदुक्तरीत्याऽविभाज्य-सम्बन्धेनानन्तकल्याणगुणमणिगणरत्नाकरशिवलिङ्गाधिकर-

---

मन्त्रोक्तगुणसम्बन्धाभावेनेति । कथञ्चित् सम्बन्धोपपादनेऽपि जडरूप-स्तुतौ वैयर्थ्येनेत्यपि बोध्यम् । अत एव सोमः पवतेर्जनितेति यद्यपि तत्तदधिष्ठातृदेवताप्रसादाभिप्रायेण कुशादीनां जडानामपि—"पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ" (तै० ब्रा० ३।७।४।११) इत्यादिना स्तुतिर्दृश्यते, तथापि मातृत्वपितृत्वादीनां तत्र बाधितत्वादुमया सहित इति व्युत्पत्त्या सर्वासां स्तुतीनां जलसमुद्रन्यायेनैकाधारभूतस्य परमेश्वरस्योपस्थितिसम्भवेन तादृशक्लिष्टकल्पनाया अनौचित्यादिति भावः । इदं पूर्वमेव व्याख्यातम्—

समाधान—इन मन्त्रों का अभिप्राय इष्टलिंगपरक ही है, क्योंकि—"अयं मे शिवाभिमर्शनः" इस प्रकार का वाक्य होने से इस वाक्य से यह हाथ निरन्तर शिवलिंग को स्पर्श कर रहा है, ऐसा अर्थ स्पष्टतया दीखता है । लकड़ी आदि के पीठों पर रखकर पूजित स्थावर लिंग का स्पर्श सुगन्ध आदि द्रव्यों के लेपन के समय ही सिद्ध हो सकता है, न कि निरन्तर । इसके अतिरिक्त इस मन्त्र का गन्धादि के लेपन काल में विनियोग नहीं किया गया है । जड़स्वरूप इस हाथ का भगवत्स्वरूपत्व अथवा मातापितृत्व का सम्बन्ध नहीं होता । इसलिये यह मन्त्र हाथ में धारण किये गये इष्टलिंग का बोधक है, ऐसा ही निश्चय कर लेना पड़ता है । इससे पहले के "सोमः पवते" इस मन्त्र के सोमपद का सोमलता से अधिष्ठित परशिवलिंग, ऐसा अर्थ मान लिया गया है । उसी प्रकार यहाँ के "अयं मे हस्तः" इस मन्त्र में रहने वाला 'हस्त' नामक पद जडार्थक होने से इसका भगवत्स्वरूपत्व अथवा माता-पिता की तरह रक्षणशीलत्व आदि सम्भव न होने से हाथ में धारण किया गया शिवलिंग, यह अर्थ करना ही सुसंगत है । यदि मान लिया जाय कि इस मन्त्र का अर्थ स्थावर-लिंगपरक ही है । ऐसी जिद पकड़ने पर भी दक्षिण (दायें) हस्त में तो गन्ध आदि पदार्थों का लेपन करते समय ही उस लिंग को स्पर्श करने की योग्यता आ जाती है ।

णस्य तस्य कैमुतिकन्यायेन स्तुत्यतासिद्धेस्तत्पक्षेऽपि लिङ्ग-धारणपरत्वानपायात् । शिवमभिमृशतेऽविभाज्यसम्बन्धेन सदा स्पृशतीति शिवाभिमर्शनः । एवंभूतो मे हस्तो भगवान् माता पितेत्यादिना स्तोतुं शक्यत्वादिति ।

न चास्मिन् मते चन्दनलेपनादावभ्यर्हितदक्षिणहस्तस्यै-वोपयोगेन स्तुतिसंभवः, भवन्मते तु वामहस्तस्य धारणाधिक-

---

अयं शिवेत्यत्र इदंपदेन हस्तपरामर्शेति । कैमुतिकन्यायेनेति । गन्ध-लेपादिना किञ्चित्स्पर्शवतः पुरुषस्य दक्षहस्तस्य एवं स्तुत्यत्वे यावत्पूजा-कालं साक्षात् शिवलिङ्गाधिकरणभूतस्य वामहस्तस्य प्रायः सर्वदैव तद्धार-कस्य कण्ठाद्यवयवस्य च अर्थात् स्तुतिः सिद्धा भवतीत्याह—किञ्चे-त्यादिना ।

अस्मिन् मत इति । इदंपदेन विलेपनादिदातृहस्तपरिग्रहणमते । भवन्मत इति कैमुतिकन्यायावतारयितृमते ।

इतने मात्र से मातृस्वरूप, पितृस्वरूप और भगवत्स्वरूप है, ऐसी स्तुति करने की योग्यता से विशिष्ट हो जाने से इस मन्त्र का विषय बन सकता है, तो चेतना-चेतनात्मक इस अखण्ड, अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और संहार करने की शक्ति से विशिष्ट उस परशिवलिंग के अविभाज्य (नित्य) संबन्ध से बायें हाथ के पीठ (हथेली) पर विराजमान होने से, ऐसे हाथ को भगवत्स्वरूप और मातापितृ-स्वरूप मान कर स्तुति करने में कोई बाधा नहीं हो सकती । थोड़े समय का संबन्ध मान कर स्तुति कर सकते हैं, तो अधिक संबन्ध से विशिष्ट की स्तुति क्यों नहीं कर सकते ? इस प्रकार तर्कपूर्ण सिद्धि को ही ''कैमुतिकन्याय'' कहते हैं । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हाथ पर विराजमान शिवलिंग माता-पिता की तरह हमारी रक्षा करे, ऐसी स्तुति में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं हो सकता ।

शंका—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र के पहले ''पवित्रं ते विततम्'' ऐसा मन्त्र आया है । यह मन्त्र लिंगधारण-विधायक मन्त्र है, ऐसा अंगीकार किये जाने पर आगे का ''अयं मे हस्तः'' यह मन्त्र भी लिंगधारण-विधायक है, अतः यहाँ पर भी 'अन्यथासिद्ध' नामक दोष तो आ ही जाता है । इसके अतिरिक्त एक ही शाखा में कहने से मीमांसाशास्त्र के अनुसार अपूर्व विधि का भंग भी हो जाता है । इसलिये यह सम्भव नहीं है ।

रणत्वेन न तत्सम्भव इति वाच्यम्, वामहस्ताभ्यर्हितत्वस्य पूर्वमेव साधितत्वात्, "संस्कृत्य गुरुणा दत्तमिष्टलिङ्ग-मतन्द्रितः। नित्यं स्ववामहस्ताग्रे सावधानेन पूजयेत्॥" इति शङ्करसंहितावचनेन तत्र धारणपूजादियोग्यताया आवश्यकत्वाच्चेति।

ननु शाखाभेदेन सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यनेनान्यथा-सिद्ध्यभावे समानशाखापठिते "पवित्रं ते विततम्" (ऋ० ९।८३।१) इति मन्त्रे विहितस्यैव लिङ्गधारणस्यानेन विधानेऽन्यथासिद्धिर्दुर्वारैवेति चेन्मैवम्, पवित्रमिति मन्त्रेण सामान्यतः शरीरे लिङ्गधारणविधाने शरीरेऽपि कुत्र धार्य-मित्याकाङ्क्षायाम् "अयं मे हस्तो भगवान्" इति मन्त्रे हस्त-रूपाधिकरणविधानेऽन्यथासिद्ध्यभावादिति।

अन्यथासिद्धिरिति। पवित्रं ते विततमिति मन्त्रस्यायं मे हस्त इति मन्त्रस्य चैकशाखापठितत्वेन शाखाभेदोक्त्याऽन्यथासिद्धिर्वारयितुं न शक्यत इति भावः। प्रथममन्त्रेण धारणसामान्यं द्वितीयेन हस्तरूपाधिकरणं विधीयत इति नान्यथासिद्धिरित्युत्तरम्। शिवाभिमर्शनपदे व्यापकत्वार्थकाभि-शब्देन स्पर्शे सार्वकालिकत्वबोधनात् सार्वकालिकस्पर्शस्य च धारणं विनाऽनुपपत्त्या श्रुतार्थापत्तिप्रमाणेन लिङ्गधारणं सिद्ध्यतीत्येषामाशयः।

समाधान—दोष तो यहाँ पर बिल्कुल ही नहीं है, क्योंकि ये दोनों मन्त्र एक ही शाखा में आने पर भी "पवित्रं ते" यह पूर्व मन्त्र सामान्यतया देह पर लिंगधारण का विधान करता है। उस देह में कण्ठ आदि अनेक उत्तम अंग और पाद आदि निकृष्ट अंग होने से इस लिंग को किस अंग पर धारण करना चाहिये? और किस अंग पर धारण नहीं करना चाहिये? किस स्थान पर रखकर पूजा करनी है और कहाँ पूजा नहीं करनी चाहिये? इन प्रश्नों का समुचित समाधान देने के लिये और विशिष्ट स्थान को दिखलाने के लिये "अयं मे हस्तो भगवान्" इस मन्त्र की आवश्यकता है। इसलिये यहाँ पर अन्यथासिद्ध नामक दोष का परिहार अपने आप हो जाता है और यहाँ पर अपूर्व विधि का कोई अवरोध भी नहीं है। इस सन्दर्भ में सिद्धान्तशिखामणि में कहा गया है—

पूर्वाचार्यास्तु—अयं हस्तः शिवमभितः सर्वदा स्पृशतीति शिवाभिमर्शनः, तथा च सार्वकालिकशिवस्पर्शस्य धारणं विनानुपपद्यमानत्वाद् हस्तादौ तत्सिद्धिः । न चाभित इत्यस्य सर्व-

---

अभिशब्देनाभितः सर्वत इति व्याख्यानानुरोधेन दैशिकव्याप्तेरेव प्रत्यायनम्, तथाविधस्पर्शस्य च भूम्यादिप्रतिष्ठितलिङ्गेऽपि सम्भवेन न तद्धारणं सिद्धयतीत्याशङ्कते—न चेति ।

लिंग तो इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग नाम से तीन प्रकार का है। इनमें से स्थूल देह में धारण किया जाने वाला लिंग इष्टलिंग है। दहराकाश में ध्यातव्य लिंग भावनामय एवं तेजोमय होने से सूक्ष्म है, इसलिये उसे प्राणलिंग कहते हैं। वाक् (वाणी) मन आदि के अगोचर, अमूर्त, निर्विकल्प और भावातीत होकर रहने वाला परात्पर लिंग ही भावलिंग है। इन तीनों लिंगों को धारण करना चाहे, तो तीन प्रकार की दीक्षाओं से तीन प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीर शुद्ध होने चाहिये। नाभि से ऊपर के सभी अंग उत्तमांग कहे जाते हैं। नाभि के नीचे के अंग निकृष्टांग कहे जाते हैं। नीचे के अंगों में इष्टलिंग को धारण करना महान् पाप है और बालों के अन्त में तथा पीठ के पीछे भी धारण नहीं करना चाहिये। इष्टलिंगधारी अशौच प्राप्त होने पर भी स्नान से परिशुद्ध होकर बायें हाँथ पर लिंग को रख कर उसकी गन्ध (चन्दन), पुष्प आदि से पूजा कर सकते हैं। बाह्य पीठ की अपेक्षा हाथ पर रखकर पूजा करना वीरशैवों के लिये उत्तम फलदायक है। ऐसा रेणुकपादाचार्य जी का आदेश है।

"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" अर्थात् देवदत्त मोटा है, लेकिन दिन में भोजन नहीं करता, इस वाक्य में देवदत्त को मोटा रहना हो तो उसके लिये भोजन जरूरी है। बिना भोजन के वह मोटा नहीं हो सकता। इसलिये यदि वह दिन में भोजन नहीं करता, तो रात में अवश्य करता है, ऐसी कल्पना (निश्चय) करनी पड़ती है। इसी प्रकार के निश्चय को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं। वैसे ही यहाँ भी "अयं मे हस्तः.....निरीहि" इस मन्त्र के बीच में 'शिवाभिमर्शनः' ऐसा एक विशेष पद है। इसका—"शिवमभितः स्पृशतीति शिवाभिमर्शनः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह हाथ निरन्तर लिंग के स्पर्श से युक्त है, ऐसा अर्थ सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार का सार्वकालिक स्पर्श देह में लिंग को धारण किये बिना सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये लिंगधारण की सिद्धि हो जाती है।

भागावच्छेदेनेत्यर्थात् तथाविधस्पर्शस्य भूम्यादिप्रतिष्ठितलिङ्ग-स्यापि सम्भवेन न लिङ्गधारणसिद्धिरिति वाच्यम्, अभित इत्यस्य देशकालोभयार्थकत्वे हस्तादिधृतलिङ्गस्यैव तथा-विधस्पर्शसम्भवेन लिङ्गधारणसिद्धिः। येन कारणेन शिवाभि-मर्शनः, अत एव जीवातुर्जीवनौषधं मे हस्तः, हे सुबन्धो परम-शिव, तवेदं प्रसर्पणमनुसरणमागमत् प्राप्तः। तेन मे हस्तम् एहि धृतः सन् सर्वदा तिष्ठ। तथा च दक्षिणहस्तस्य शिवपूजा-करणत्वेनेतरहस्तस्य तदधिकरणत्वेन च सार्वकालिकशिव-स्पर्शविशिष्टः करोऽभ्यर्हित इति भगवत्त्वमातृत्वपितृत्वादिना

हस्तादिधृतलिङ्गस्यैवेति। भूम्यादिप्रतिष्ठिते तु सर्वावयवावच्छेदेन स्पर्शो न सम्भवतीति भावः।

अयं चासम्भवोऽभित इत्यस्य कालिकव्याप्त्यर्थकत्वे, दैशिकव्याप्त्यर्थ-कत्वे, उभयविधव्याप्त्यर्थकत्वे च भूमिष्ठलिङ्गे द्रष्टव्यः। सुबन्धो इति।

शंका—लेकिन "अभितः स्पृशति" इस व्युत्पत्ति से देश से सम्बद्ध व्याप्ति को स्वीकार करने का अवकाश होने से इस प्रकार का दैशिक स्पर्श जमीन पर स्थापित स्थावर लिंग से भी सम्भव है, अतः उस मन्त्र का स्थावरलिंगपरक अर्थ क्यों न लिया जाय ?

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'अभिमर्शनः' इस पद के 'अभि' उपसर्ग का सभी कालों में, सभी देशों में ऐसा ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये, केवल दैशिक स्पर्श को लेना उचित नहीं है। इस प्रकार सर्वकाल और सर्वदेश रूप उभयविध व्याप्ति जमीन पर प्रतिष्ठित स्थावर लिंग से सम्भव नहीं है। यह तो जीवनकाल पर्यन्त देह में धारित और हाथ पर पूजित इष्टलिंग से ही सम्भव है। अतः 'अभितः' इस पद से दीखने वाला उस प्रकार का सार्वत्रिक स्पर्श बायें हाथ पर धारण किये गये इष्टलिंग के द्वारा जैसे सिद्ध हो जाता है, वैसे स्थावर लिंग से सिद्ध नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, इसके अतिरिक्त जिस कारण से मेरा हाथ नित्य संबन्ध वाला हुआ है, उस कारण से मे = मेरा, हस्तः = हाथ, हे सुबन्धो = बिना कारण के दया करनेवाले हे परशिव, ते प्रस-र्पणम् = निरन्तर आपका अनुसरण कर रहा है। आप माता हैं, आप पिता हैं,

स्तुतिरुपपद्यते। सर्वदा शरीरस्य शिवलिङ्गसम्बन्धे शिवस्वरूपत्वं च कैमुतिकन्यायसिद्धम्, "प्राणलिङ्गाङ्गसम्बन्धो स रुद्रो नात्र संशयः" इत्युक्तेः। अहो लिङ्गधारणमाहात्म्यम्, हस्तद्वयस्य पूजातदधिकरणत्वविनियुक्तत्वेन सर्वशरीरस्याप्याचारादिलिङ्गस्थानत्वेन च सर्वमपि शरीरं शिवार्थमिति प्रशस्तमित्याहुः।

वस्तुतः परमशिवस्यैव त्रैकालिकसंबन्धित्वात् सुबन्धुत्वम्। कैमुतिकन्यायेति। दण्डापूपन्यायेत्यर्थः। तत्स्वरूपं तु येन हस्तिना दण्डो भक्षितः, तेनापूपं किमुत भक्षयितुं न शक्येत? दण्डभक्षकेणापूपमनायासेन भक्ष्यत इति भावः। एवमिहापि हस्तस्य शिवलिङ्गपूजायां करणत्वमात्रेण भगवद्रूपत्वप्राप्त्युक्तौ सर्वदा शिवलिङ्गसम्बन्धिशरीरे शिवत्वप्राप्तिर्भविष्यत्येवेति भावः।

आप भगवान् हैं और आप भवरोग के निवारक हैं। इस प्रकार हाथ पर रखे गये इष्टलिंग की स्तुति करने वाले पद ही विशेष रूप से दीखने से यह मन्त्र इष्टलिंग धारणपरक है, ऐसा निश्चय हो जाता है। इसके अतिरिक्त दण्डापूपिकान्याय से भी यह मन्त्र इष्टलिंगधारण का प्रतिपादन कर रहा है। मालपुआ वाले दण्ड को किसी हाथी ने खा लिया, ऐसा एक व्यक्ति किसी दूसरे से कहता है—"दण्डो भक्षितः"। उस समय कोई कहे कि उस हाथी ने केवल दण्ड को ही नहीं खाया है, किन्तु मालपुओं को भी खा लिया है, तो ऐसा अलग से कहने की कोई जरूरत नहीं है। उस प्रकार की कठोर लकड़ी को जब उस हाथी ने खा लिया है, तब मुलायम और रुचिकर मालपुओं को खाने में आश्चर्य ही क्या है? ऐसा न कहने पर भी उसकी सिद्धि हो जाती है। यही दण्डापूपिकान्याय है। इसी को कैमुतिक न्याय भी कहते हैं। यहाँ जमीन पर प्रतिष्ठित शिवलिंग की पूजा में दायां हाथ साधन है। चन्दन आदि लगाने के कारण यह हाथ साधक है, ऐसा कहने मात्र से उस हाथ को भगवान् कह कर, माता-पिता कह कर जब स्तुति की गई है, तो उस शिवलिंग को निरन्तर देह में धारण करके प्रतिदिन बायें हाथ में रखकर दायें हाथ से उस पर चन्दन, बिल्व (बेल की पत्ती) आदि चढ़ाने के कारण निरन्तर संबद्ध उस बायें हाथ में भगवत्स्वरूपत्व, माता-पितृत्व की सिद्धि

अस्याः श्रुतेरुक्तार्थे—"यावज्जीवमिदं दत्तमिष्टलिङ्गं समर्चयन् । कराब्जपीठे विन्यस्य तद्ध्यानासक्तमानसः ।। हस्तलिङ्गाङ्गसम्बन्धी सदानन्दाह्वयो मुनिः । सर्वोपनिषदर्थज्ञः शिवध्यानपरायणः ।।","एवं षट्स्थलनिर्णयं शिवपदप्राप्त्यैकहेतुं सदा, यः सेवेत कराब्जपीठनिहितश्रीकण्ठलिङ्गार्चकः । स ज्ञानी स पुरातनः स च महान् माहेश्वरेषूत्तमो, मर्त्यस्तेन जगत्त्रयेऽपि सदृशो विद्येत देवोऽपि वा ।।", "लिङ्गमन्त्रोपदेशश्च करपीठार्चनं जपः । मल्लिङ्गधारणं त्वत्र लोकाचारप्रवर्तनम् ।।" इत्यादिशङ्करसंहिताकिरणागमवचनान्युपोद्बलकान्यनुसन्धेयानि।

अपि च, "त्रिपुण्ड्रं ये विनिन्दन्ति निन्दन्ति शिवमेव ते"

अस्याः श्रुतेरुक्तार्थ इति । अस्योपोद्बलकानीति दूरस्थेनान्वयः । सदानन्दाह्वयो मुनिरिति । सदानन्दनामकमुनिर्यावज्जीवमिष्टलिङ्गं कराब्जपीठे विन्यस्य समर्चयन् मुक्तो जात इति शेषः ।

षट्स्थलानि शैवागमे प्रसिद्धानि ।

अपने आप ही हो जाती है, इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । इस सन्दर्भ में शंकरसंहिता में कहा गया है—

श्रीगुरु द्वारा षडध्वशोधन संस्कार पूर्वक प्रदत्त इष्टलिंग को जो अपने जीवन काल पर्यन्त धारण करता है, वह रुद्र ही हो जाता है, इसमें कोई सन्देह ही नहीं है । इस प्रकार के इष्टलिंग को बायें हाथ रूपी पीठ पर रख कर दायें हाथ से पूजा करनी चाहिये । सभी उपनिषदों के रहस्य को जान कर शिवज्ञानी हुए सदानन्द मुनि ने इस इष्टलिंग को हाथ पर रख कर पूजा करने के कारण ही लिंगांग-सामरस्य नामक सिद्धि को पा लिया था । भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण, और ऐक्य नामक छः प्रकार के मुक्ति के सोपान (सीढ़ियाँ) हैं । इष्टलिंग धारण, बायें हाथ पर पूजा, शिव-मन्त्र का उपदेश, शिव-मन्त्र का पुरश्चरण—ये सब लिंगांगी के परम धर्म हैं । इस प्रकार के अनेक समर्थक वाक्य "अयं मे हस्तः" इस मन्त्र के अर्थ को पुष्ट बनाने में जागरूक हैं ।

अलंकार शास्त्र और लिंगधारण

इस प्रकार ऋक् आदि मन्त्रों के आधार पर लिंगधारण का प्रतिपादन किया

(बृ० जा० ५।१५) इति जाबालोपनिषद्वाक्यमपि तद्विषयकं भवति । तत्र हि—"नेक्षेत पूजावेलायां नरं वत्स बहिष्कृतम् ।। दधीचिना गौतमेन ये शप्ता ब्राह्मणाधमाः । कलाववतरिष्यन्ति निन्दकास्ते बहिष्कृताः ।। ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयकृतः पुरा । बहिर्नरा भविष्यन्ति कलावीश्वरनिन्दकाः ।।" इति शिवनिन्दकानां पापात्मनां बहिष्कार्यत्वप्रतिपादनेन तन्निन्दायाः पापहेतुत्वमेव, तत्सादृश्यं त्रिपुण्ड्रनिन्दायाः प्रति-

---

तत्सादृश्यं त्रिपुण्ड्रनिन्दायाः प्रतिपादितमिति । "त्रिपुण्ड्रं ये विनिन्दन्ति निन्दन्ति शिवमेव ते" इत्यनेन त्रिपुण्ड्रनिन्दायाः शिवनिन्दातादात्म्यं बोधयता त्रिपुण्ड्रशिवयोरैक्यबोधनद्वारा—"लिङ्गधारणकं नाम व्रतं माहेश्वराभिधम् । ये धारणं प्रकुर्वन्ति ते यान्ति परमां गतिम् ।।" इत्युपबृंहणोक्तस्य मोक्षासाधारणकारणभूतस्य लिङ्गधारणस्य सादृश्यं त्रिपुण्ड्रधारणे बोध्यते । सादृश्यस्य च प्रसिद्धप्रतियोगिकत्वनियमेन तदनुरोधेनापि लिङ्गधारणं सिद्धमित्युपपादयति—अपि चेत्यादिना लिङ्गधारणसिद्धिरित्यन्तेन ।

गया है । अब अर्थालंकार में प्रधान उपमा, दृष्टान्त आदि अलंकारों से लिंगधारण की सिद्धि की जाती है । जाबालोपनिषद् में कहा गया है कि जो भस्म की निन्दा करते हैं, वे शिव की ही निन्दा करते हैं ? वहाँ यह भी कहा गया है कि दधीचि और गौतम आदि महर्षियों के शाप से जले हुए मानव बहिष्कृत कहे जाते हैं । वे लोग कलियुग में जन्म लेकर शिवलिंग के आराधकों को एवं शिवलिंग को दूषित करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं । यह तो उन लोगों का सहज स्वभाव है । ब्रह्महत्या करने वाले (ब्राह्मण को मारने वाले), सुरा (शराब) पीने वाले, सोना चुराने वाले—इन सबको बहिष्कृत कहा जाता है । इस प्रकार के नास्तिक लोग कलियुग में उत्पन्न होकर ईश्वर और ईश्वर की पूजा करने वालों की निन्दा करते हैं । इसलिये शिवलिंग की निन्दा करने वाले ऐसे आदमियों को शिवलिंग की पूजा करते समय नहीं देखना चाहिये । इस प्रकार के प्रमाणों से शिव की निन्दा पापदायक है और भस्म की निन्दा शिव को निन्दा के समान है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है ।

पादितम् । "लिङ्गधारणकं नाम व्रतं माहेश्वराभिधम् । ये धारणं प्रकुर्वन्ति ते यान्ति परमां गतिम् ।।" इत्युपबृंहणानुरोधेन लिङ्गधारणस्य मोक्षासाधारणकारणत्वमवधार्य तदौपम्यं त्रिपुण्ड्रधारणस्याभिहितम् । तत्र सादृश्यं नाम तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् । यथा "धैर्येण हिमवानिव" इत्यादौ हिमवद्भिन्नत्वे सति तद्गतधैर्यादिधर्मवत्त्वमुपमेये, तथा प्रकृते लिङ्गधारणभिन्नत्वे सति तद्गतमुक्तिजनकत्वादिधर्मवत्त्वं त्रिपुण्ड्रधारणे वक्तव्यम् । एवं सति "सङ्ख्यां प्रतियोग्यधिकरणाभ्यामभावो हि निरूप्यते" इति न्यायेन प्रतियोगिप्रसिद्धि

पुराणों में भी कहा गया है कि शिवलिंग को धारण करना माहेश्वर व्रत है। उस प्रकार के लिंग को जो निरन्तर धारण करते हैं, वे जनन-मरण रूप दुःखसागर को पार कर लेते हैं। इस प्रकार के अनन्त समर्थक वाक्य शिवलिंगधारण की प्रशंसा कर रहे हैं। लिंगधारण के समान ही त्रिपुण्ड्रधारण का भी महत्त्व कहने के कारण "त्रिपुण्ड्रं ये विनिन्दन्ति निन्दन्ति शिवमेव ते" इस जाबालोपनिषद् वाक्य में उपमानोपमेयभाव दीख रहा है। यहाँ पर त्रिपुण्ड्र की निन्दा और त्रिपुण्ड्रधारण की निन्दा ये दोनों उपमेय हैं। शिवलिंग की निन्दा और शिवलिंगधारण की निन्दा ये दोनों उपमान हैं। अभिप्राय यह है कि भस्म की निन्दा करनेवाले शिवलिंग की निन्दा करने वालों की तरह नरक प्राप्त करते हैं। भस्मधारण की निन्दा करने वाले शिवलिंगधारण की निन्दा करने वालों की तरह नरक को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उपमालंकार की मर्यादा से शिवलिंग की निन्दा के समान त्रिपुण्ड्रधारण की निन्दा भी वर्जनीय है, ऐसा बताया गया है। यहाँ पर सादृश्य का मतलब—"तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्" इस अलंकार शास्त्र की उक्ति के अनुसार उपमान और उपमेय वाक्य के अलग-अलग होते हुए भी उपमान में रहने वाले धर्म को उपमेय में दिखलाना है। 'धैर्येण हिमवानिव" अर्थात् यह शूर महाराजा धैर्य में हिमालय के सदृश है, यही उपमा अलंकार है। यहाँ पर हिमालय उपमा है और राजा उपमेय है। यह उपमानोपमेय वाक्य भिन्न भिन्न होते हुए भी हिमालय जैसे निरन्तर सुस्थिर रहता है, वैसे ही यह राजा भी शत्रुओं के सामने बिना विचलित हुए युद्ध करता रहता है; इस सादृश्य से उपमान स्वरूप हिमालय के अचंचलत्व, स्थिरत्व, निर्विकारित्व आदि धर्म राजा में है,

विनाऽभावप्रसिद्ध्ययोगेनालङ्कारिकमते उपमालङ्कारस्थले उपमानप्रसिद्धेरावश्यकत्वाच्च लिङ्गधारणसिद्धिः।

न च "धैर्येण हिमवानिव" इत्यादौ सादृश्यवाचकेव-शब्दसत्त्वेन तथात्वेऽपि प्रकृते तदभावान्न सादृश्यघटकभेद-

---

एवं त्रिपुण्ड्रधारणलिङ्गधारणयोर्व्यञ्जनया तादात्म्ये बोधिते उपमानोपमेयभावस्य फलनादुपमानालङ्कारानुरोधेनापि लिङ्गधारणं सिद्ध्यतीत्याह—आलङ्कारिकमत इति।

ऐसा सादृश्य दिखलाया गया है। उसी प्रकार उपमा स्वरूप त्रिपुण्ड्रधारण और उपमेय स्वरूप लिंगधारण दोनों भिन्न-भिन्न हैं, तो भी अधिक गुण से विशिष्ट प्रसिद्ध उपमा स्वरूप लिंगधारण से होने वाले पापनाशकत्व, मुक्तिजनकत्व, अपूर्व-दायकत्व आदि धर्म उपमेय स्वरूप त्रिपुण्ड्र धारण में भी हैं। इस प्रकार त्रिपुण्ड्र धारण में व्यंजना वृत्ति से तादात्म्य का बोधक "त्रिपुण्ड्रं ये विनिन्दन्ति निन्दन्ति शिवमेव ते" यह वाक्य उपमानोपमेयभाव का प्रतिपादक होने से यहां उपमालंकार स्पष्ट हो जाता है। मुख्यतया वेद और आगमों से निरूपित शिवलिंग को शिवदीक्षा से शुद्ध किये गये देह में धारण करते हुए, बायें हाथ में रखकर पूजा करते हुए, ध्यान, जप, तप, अर्चना और ज्ञान नामक पांच महायज्ञों का जो अनुष्ठान करते रहते हैं, उनके सभी पाप नष्ट होकर जैसे मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है, वैसे ही लिंग-धारण के अंगस्वरूप त्रिपुण्ड्र को जो धारण करते हैं, उनके भी सभी संचित आदि पाप नष्ट होकर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार के तात्पर्य-निर्णायक उपमा अलंकार से लिंगधारण साधा जाता है।

शंका—ऊपर बताये गये उदाहरण "त्रिपुण्ड्रं.... शिवमेव ते" इस जाबालो-पनिषत् के वाक्य में त्रिपुण्ड्रधारण और लिंगधारण में उपमानोपमेयभाव दीखने से उपमालंकार तो कह सकते हैं, लेकिन वहाँ पर उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमावाचक यह चार वाक्य स्पष्ट होने चाहिये। "धैर्येण हिमवानिव" यहाँ पर तो ये चार वाक्य स्पष्ट हैं। इसलिये उपमालंकार कहने का अवसर मिल जाता है, लेकिन "त्रिपुण्ड्रं.... शिवमेव ते" यहाँ पर त्रिपुण्ड्र-धारण रूप उपमेय और लिंगधारण रूप उपमान, उभयनिष्ठ निन्दा रूप धर्म—ये तीन तो स्पष्ट हैं, किन्तु सादृश्यवाचक इव, यथा आदि पद के न होने से लिंगधारण कैसे सिद्ध हो सकता है?

प्रतियोगितया लिङ्गधारणसिद्धिरिति वाच्यम्, इवादिशब्दाभावेऽपि वाक्पटुत्वे बृहस्पतिरित्यादाविव गम्यमानसादृश्यघटकभेदप्रतियोगितया तत्सिद्धेः ।

यद्वा दृष्टान्तालङ्कारो वात्र स्वीक्रियते । तथापि लिङ्गधारणसिद्धिर्दुर्वारैव, "चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तद-

---

इवशब्दं विनापि सादृश्यं प्रतीयत इत्याह—वाक्पटुत्वे बृहस्पतिरिति ।

त्रिपुण्ड्रं ये विनिन्दन्तीत्यत्र दृष्टान्तालङ्कारोपगमेऽपि तत्सिद्ध्यतीत्याह—यद्वेति ।

समाधान—यहाँ उपमालंकार होने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि—"त्रिपुण्ड्रं ···शिवमेव ते" यहाँ पर सादृश्यवाचक इव शब्द के न होने मात्र से उपमालंकार नहीं हो सकता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपमालंकार पूर्णोपमालंकार और लुप्तोपमालंकार नाम से दो प्रकार का है। इनमें से उपमान, उपमेय, धर्म और वाचक ये चार वाक्य स्पष्टतया होने पर वह पूर्णोपमालंकार कहा जाता है। इन चार में से एक, दो, या तोन के होने पर यह लुप्तोपमालंकार कहा जाता है। इस प्रकार अलंकार शास्त्र का नियम होने से "त्रिपुण्ड्रं····शिवमेव ते" इस वाक्य में तो प्रसिद्ध प्रतियोगी (उपमान) रूप लिंगधारण, उपमेय रूप त्रिपुण्ड्रधारण और निन्दारूप साधारण धर्म स्पष्टतया हैं ही। यहाँ सादृश्यवाचक इव शब्द के लुप्त होने से इसको लुप्तोपमालंकार कहते हैं। इसी प्रकार लोक में अनेक उदाहरण देखने में आते हैं। जैसा कि "वाक्पटुत्वे बृहस्पतिः" यह व्यक्ति बोलने में बृहस्पति जैसा है, इस प्रयोग में प्रसिद्ध उपमा स्वरूप बृहस्पति शब्द, उपमेय स्वरूप पुरुष और वाचाल स्वरूप उभयनिष्ठ धर्म स्पष्टतया बताया गया है। यहाँ सादृश्यवाचक इव शब्द नहीं बताया गया, तो भी यह व्यक्ति बोलने में बृहस्पति के समान है, ऐसा कहना ही कवि का आशय है। यहाँ पर सादृश्य बुद्धिस्थ होकर दीखने से यह लुप्तोपमालंकार है, ऐसा स्वीकार कर लिया जाता है।

इसके बाद दृष्टान्तालंकार से लिंगधारण की सिद्धि की जाती है। "चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः" अर्थात् जिस वाक्य में बिम्बप्रतिबिम्बभाव

लङ्कृतिः" इति लक्षणे वस्तुतो भिन्नयोः परस्परसादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभाव इति, तस्यापि भेदगर्भितत्वेन प्रतियोगिविधया लिङ्गधारणप्रसिद्धेरावश्यकत्वात्।

नन्वेतावता शिवस्य धारणसिद्धावप्यन्तर्धारणेनैव चरितार्थत्वान्न बाह्यधारणसिद्धिरिति चेन्मैवम्, "यत्प्रायं श्रूयते

तस्यापि भेदगर्भितत्वेनेति। बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यापि भेदघटितत्वेनेत्यर्थः। अन्तर्लिङ्गधारणमादाय प्रतियोगिप्रसिद्धौ सन्तोषो नैव कर्तुं शक्यत इत्याह—यत्प्रायमिति। यत्प्रायमित्यस्यार्थस्तु यत्प्रतियोगिकसादृश्यवद् यत्

होता है, वहीं दृष्टान्तालंकार होता है। इसका 'वस्तुतो भिन्नयोरपि परस्परसादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः" इस प्रकार का लक्षण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ पर उपमानोपमेय एक ही वाक्य में न रह कर भिन्न-भिन्न वाक्यों में रह कर एक दूसरे के सादृश्य से अभिन्न सा दीखता है, उस स्थान में बिम्बप्रतिबिम्बभाव मान लेना चाहिये, ऐसा अलंकार शास्त्रज्ञों का अभिप्राय है। ऐसा ही 'त्वमेव कीर्तिमान् राजन् विधुरेव हि कान्तिमान्" यहाँ पर हे राजन् आप महान् कीर्ति वाले हैं, जैसे कि चन्द्रमा की कान्ति; एक कवि राजा का इस तरह का वर्णन करता है। यहाँ पर चन्द्रमा की कान्ति की तरह महाराजा की कीर्ति भूमि और अन्तरिक्ष पर्यन्त व्याप्त होकर प्रजा के लिये आनन्दकारक है, इस प्रकार कीर्ति और कान्ति की पारस्परिक समानता (सादृश्य) दीखने से दृष्टान्तालंकार कहा जाता है। इसी प्रकार "त्रिपुण्ड्रं····शिवमेव ते" यहाँ पर त्रिपुण्ड्र की निन्दा ही बिम्ब वाक्य है और शिवलिंगधारण की निन्दा ही प्रतिबिम्ब वाक्य है। ये दोनों वाक्य भिन्न-भिन्न होने से शिवलिंगधारण की निन्दा जैसे पाप का कारण है, वैसे ही त्रिपुण्ड्रधारण की निन्दा भी पाप का कारण है; इस प्रकार त्रिपुण्ड्रधारण और लिंगधारण रूप उपमेय और उपमान में बिम्बप्रतिबिम्बभाव से सादृश्य दीखता है। इसी प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव से चन्द्रमा की कान्ति का प्रतियोगित्व जैसे सिद्ध हो जाता है, वैसे ही लिंगधारण के प्रसिद्ध प्रतियोगित्व (उपमान) के सिद्ध हो जाने से दृष्टान्तालंकार से लिंगधारण सिद्ध हो जाता है।

शंका—फिर भी दोष तो है ही। जैसा कि "त्रिपुण्ड्रं····शिवमेव ते" इस वाक्य से सामान्यतया लिंगधारण के सिद्ध होने पर भी वीरशैव सिद्धान्त के

यच्च तत् तादृगवगम्यते" इति न्यायेन भस्मनो बहिश्शरीरधार्यत्वेनोपमानभूतशिवलिङ्गस्यापि तथात्वसिद्धेः। एतत्समानार्थककालाग्निरुद्रोपनिषदादिष्वपि तत्सिद्धेः, "तत्र या चास्य प्रथमा रेखा" इत्यादिना त्रिरेखाणां महेश्वररुद्रसदाशिवात्मकत्वं प्रतिपाद्य धारणविधानेन शिवस्वरूपत्वेन तासामेव धारणत्वे साक्षाच्छिवधारणस्य कैमुतिकन्यायसिद्धत्वादिति।

श्रूयते, तत्प्रतियोगिकसादृश्यवत् तदपि गम्यते। अर्थादुपमेये उपमानस्येवोपमानेऽप्युपमेयस्य सादृश्यं तुल्यवित्तिवेद्यतया प्रतीयत इति भावः।

अनुसार कण्ठ, हृदय आदि उत्तम अंगों में धारण किये जाने वाले, बायें हाथ पर रख कर पूजित होने वाले इष्टलिंग की बोधकता स्पष्ट नहीं हो पाती, क्योंकि इस वाक्य में सामान्य रूप से लिंगधारण दीखने से अन्तर्लिंगधारण अथवा इष्टलिंगधारण इस प्रकार उभयार्थक होगा। तब नियमित रूप से लिंगधारणपरक ही यह वाक्य है, ऐसा कैसे कह सकते हैं?

समाधान—यह वाक्य इष्टलिंग धारणपरक ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि देह में धारण किये जाने वाले स्थूल रूप त्रिपुण्ड्र के बिम्ब (उपमेय) होने पर इसके ऊपर स्थूल देह पर धारण किये जाने वाले इष्टलिंग को प्रतिबिम्ब (उपमान) वाक्य होना चाहिये। ऐसा न होने पर ललाट आदि स्थूल अंगों में धारण की जाने वाली भस्मरेखाओं का और मन में सुमिरन किये जाने वाले सूक्ष्म लिंग का सादृश्य न होने से दृष्टान्तालंकार ही नहीं माना जायगा। इसलिये "त्रिपुण्ड्रं····शिवमेव ते" यह उपनिषत् इष्टलिंग धारणपरक है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। भस्म की तीन रेखाओं में से पहली रेखा को माहेश्वर स्वरूप दूसरी रेखा को रुद्र स्वरूप और तीसरी रेखा को सदाशिव स्वरूप समझना चाहिये, ऐसा कालाग्निरुद्रोपनिषत् में भस्म की महिमा का वर्णन देखने पर इस प्रकार के शिवस्वरूप भस्मधारण की जब सिद्धि हो जाती है, तो इस प्रत्यक्षसिद्ध इष्टलिंगधारण के काव्यार्थापत्ति न्याय से अपने आप सिद्ध हो जाने में आश्चर्य ही क्या है!

लिङ्गाङ्गसम्बन्धस्वरूपमहावाक्यार्थबोधक-"तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८।७), "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० उ० १।४।१०) इति वाक्यद्वयेनापि लिङ्गधारणसिद्धिर्निष्प्रत्यूहैव । ननु तत्त्वमसीत्यत्राविद्योपहितं ब्रह्मैव जीव इति श्रुतिप्रतिपन्नाऽविद्योपाधिकदेहेन्द्रियाद्यवच्छिन्नः सांसारिको जीवस्त्वंपदवाच्यः,

---

इति श्रुतीति । इयं श्रुतिरानुपूर्वीसम्यगन्वेषणे क्रियमाणे मिलिष्यतीत्यस्माल्लेखादनुमीयते । एवम् "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छा० उ० ६।२।१) इति श्रुतिसहकृता—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥" (श्वे० उ० ४।६) इतीयमपि श्रुतिरत्र द्रष्टव्या । अत्र प्रथमश्रुत्या ब्रह्मात्मैक्ये बोधिते द्वितीयश्रुत्या

तत्त्वमस्यादि महावाक्य और लिंगधारण

अलंकार शास्त्र के आधार पर इष्टलिंगधारण सिद्ध करने के बाद अब "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" इन महावाक्यों के द्वारा भी इष्टलिंगधारण की सिद्धि की जाती है । यहाँ 'तत् त्वम् असि' अर्थात् वह ब्रह्म तुम ही हो, इन तीनों पदों से विशिष्ट छान्दोग्य उपनिषत् के इस वाक्य में 'तत्' नामक पद मायोपहित ईश्वर का, 'त्वम्' पद अविद्योपहित जीव का और 'असि' यह क्रियापद जीवेश्वर के ऐक्य का बोध करा रहा है । इसी प्रकार "अहं ब्रह्मास्मि" यह वाक्य जीवेश्वर के ऐक्य का बोध करा रहा है । शुद्धसत्त्व प्रधान माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही ईश्वर है । मलिनसत्त्व प्रधान अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही जीव है । इन दोनों चेतनों में ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और समष्ट्यभिमानी है । जीव तो अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् और व्यष्टयभिमानी है । जो सर्वज्ञ है, वह अल्पज्ञ नहीं है । जो अल्पज्ञ है, वह सर्वज्ञ नहीं है । इस प्रकार जीव और ईश्वर तम (अन्धकार) और प्रकाश की तरह परस्परविरुद्ध स्वभाव वाले हैं । अतः जीव और ईश्वर का वाच्यार्थ से अभेद संभव नहीं है । इसलिये जीव और ईश्वर में रहने वाले उन उन सर्वज्ञत्व, किंचिज्ज्ञत्व आदि विशेषणांशों को छोड़ देने पर विशेष्य वस्तु एक ही रह जाती है । इसी को भागत्यागलक्षणा अथवा जहदजहल्लक्षणा कहते हैं ।

उदाहरण के लिये "सोऽयं देवदत्तः" अर्थात् पहले देखा गया देवदत्त ही यह है, इस व्यवहार में इस काल, इस देश और इस अवस्था से विशिष्ट देवदत्त में

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० उ० ४।१०) इति श्रुत्यवगमितमायोपाधिकनीलकण्ठचन्द्रशेखरत्वादिमाङ्गल्यगुणकसर्वज्ञतादिषडङ्गविशिष्टः परमशिवस्तत्पदवाच्यः। एवं विरुद्धधर्माध्यस्तयोरुभयोरभेदबोधासम्भवेन तत्त्वंपदयोर्विशेषणविनिर्मुक्तचैतन्यलक्षकत्वमङ्गीकृत्याऽभेदो बोध्यत इत्यभ्युपेतव्यम्। अहं ब्रह्मास्मीत्यत्राप्येवमेव।

बोध्यमानस्य जीवब्रह्मणोरभेदस्याविद्योपाधि विनानुपपत्तेः। अभेदबोधासंभवेनेति। यद्यप्यभेदबोधे प्रकारतावच्छेदकविशेष्यतावच्छेदकयोर्भेदोऽपि तन्त्रम्, यथा नीलो घट इत्यत्र नीलत्वघटत्वयोः; अत एव घटो घट इत्यादौ नाभेदबोध इति जीवब्रह्मणोरुपाध्योर्भेदे नाभेदबोधस्य प्रतिकूलः, अपि तूक्तदिशाऽनुकूल एव भवति; तथापि तयोः सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयोर्विरुद्धत्वाद् भागत्यागलक्षणोपादीयते। नीलत्वघटत्वयोर्भिन्नत्वेऽपि विरुद्धत्वाभावान्न तादृशलक्षणापेक्षा।

अतीत के उस देश, उस काल और उस अवस्था के न होने से वाच्यार्थ का बाध हो जाता है। इसलिये 'तत्'शब्द वाच्य देवदत्त में विशेषण होकर रहने वाले अतीत के उस काल, उस देश और उस अवस्था को और इस देश, इस काल और इस अवस्था को निकाल देने पर विशेष्य स्वरूप देवदत्त अकेला रह जाता है।

जडाजडात्मक यह प्रपंच माया के द्वारा कल्पित है। यहाँ पर माया का मतलब है—"या मा सा माया" अर्थात् जो कभी भी नहीं रहती, वह माया है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द मिथ्यार्थक है। देखने में पदार्थ जैसी दीखने पर भी असल में वह सत्य नहीं है। रस्सी में दीखने वाला सांप उस वास्तविक रस्सी को जैसे छिपा देता है, उसी तरह से ब्रह्म में दीखने वाली माया ब्रह्म को ढक लेती है। उस समय उस अखण्ड ब्रह्मचैतन्य में जीवेश्वर नामक उभय (दो) चैतन्य दीखने लगते हैं। घट के नष्ट होने पर केवल आकाश जैसे बच जाता है, वैसे ही माया और अविद्या के नष्ट हो जाने पर जीवेश्वर नामक कल्पना भी नष्ट हो जाती है और तब केवल ब्रह्म ही रह जाता है। यही तो अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष है। इस अर्थ में 'मायाभासेन जीवेशौ करोति' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

तत्र च न लिङ्गाङ्गसम्बन्धबोध इति चेत्, अभिप्राय-मनवगतवानसि । अहो लिङ्गाङ्गसामरस्यविधुराणां मौढ्यम् । स्कान्दकामिकादिपुराणागमतत्त्ववेदिनां नैतच्चोद्यं चमत्कारं करोति । तत्र कोऽहमिति शिष्यस्य प्रश्ने गुरुणा हस्तमस्तक-संयोगरूपवेधादीक्षया योगाङ्गापरनामककारणाङ्गावच्छिन्ने च जीवे भावलिङ्गं संयोज्य भोगाङ्गापरनामकसूक्ष्माङ्गाव-च्छिन्ने मनुदीक्षया प्राणलिङ्गं संयोज्य त्यागाङ्गापरनामक-स्थूलाङ्गावच्छिन्ने क्रियादीक्षयेष्टलिङ्गं योजयित्वा तत्त्वमसी-त्युक्तम् । तच्छ्रुत्वा शिष्यस्तु—"लीनं गच्छति यस्मिन् सा

लिङ्गाङ्गसामरस्येति । सामरस्यमेकरसत्वम्, परस्परनित्यसम्बन्धित्व-मिति यावत् । स्कान्दकामिकादिपुराणागमतत्त्ववेदिनामिति । अयमेतत्प्रक-रणसारांशः—लिङ्गाङ्गसम्बन्ध एव तत्त्वमसीतिवाक्येनोच्यते, लिङ्ग-पदस्य तत्पदेनाङ्गपदस्य च त्वंपदेन समानार्थकत्वात् । "लीनं गच्छति

इसी प्रकार वीरशैव मत में भी तत्त्वमस्यादि महावाक्य लिंगांगसामरस्य रूप एकार्थ का लक्षणा वृत्ति से बोध करा रहे हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि 'तत्' यह पद लिंग (ब्रह्म) को और 'त्वम्' पद अंग (जीव) को और 'असि' यह पद समरस (ऐक्य) को दिखा रहे हैं । यहाँ पर समरस का अभिप्राय यह है कि अलग से दीखने वाले लिंग और अंग नामक दो पदार्थ एक ही आकार के हो गये हैं । अर्थात् निरन्तर अभ्यास से देह आदि का पूर्व पूर्व कारणों में और उस कारण का प्रकृति में, उस प्रकृति का शक्ति में, उस शक्ति का शिव में लय हो जाने से 'शिवोऽहं' इस प्रकार की एकाकार वृत्ति हो जाने से अंग आनन्दघन हो जाता है । इस प्रकार तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का अर्थ बताने से वीरशैव सिद्धान्त और अद्वैत सिद्धान्त एक ही है, ऐसी बुद्धि का उदय हो जाना चाहिये । लेकिन ये दोनों सिद्धान्त एक नहीं हो सकते, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्त में माया और अविद्या तथा उससे दीखने वाला जगत् (प्रपंच) मिथ्या है । केवल दिखावे के लिये घट, पट आदि के वस्तु के रूप में दीखने पर भी यह सब भ्रम कहा जाता है । वीर-शैव सिद्धान्त में उस प्रकार की माया रूप कोई भी उपाधि भ्रम नहीं है । उत्पन्न होना और लय होना (उत्पत्ति और विनाश) आदि से घट, पट आदि वस्तुएँ

माया दुर्घटकारिणी। तल्लिङ्गमिति सन्मात्रं रूप्यते पारमार्थिकैः॥ एतस्मात् कारणादेव लिङ्गरूपत्वमीशितुः।" इति शङ्करसंहितावचनानुरोधेन मायोपाधिकलिङ्गरूपशरीरावच्छिन्नो ब्रह्मैव तत्पदवाच्यः, "अमिति ब्रह्म सन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते। रूप्यतेऽङ्गमिति प्राज्ञैरङ्गतत्त्वविचिन्तकैः॥ तस्मादङ्गस्वरूपोऽसौ जीवः संसारवृत्तिभाक्॥" इति

यस्मिन् सा माया दुर्घटकारिणी" इति व्युत्पत्त्या लिङ्गपदेन सन्मात्रं ब्रह्मतत्त्वमुच्यते, अम् ब्रह्म गच्छतीति व्युत्पत्त्या अङ्गपदेन जीवात्मा उच्यते। इत्युभयोर्वाक्ययोः समानतात्पर्यकत्वमुपपद्यते। एतदुपादानार्थमेवागमस्थो गुरुशिष्यसंवादो बोधयते। यत्र कोऽहमिति प्रश्ने गुरुणा शरीरत्रये लिङ्गत्रयं योजयित्वा तत्त्वमसीत्युत्तरमुक्तम्, ब्रह्मात्मकलिङ्गस्य त्रिषु शरीरेषु योजितत्वात्। ब्रह्मस्वरूपे त्वं सम्पन्नोऽसीत्युत्तरवाक्यस्य तात्पर्यम्। अत्र योगाङ्गभोगाङ्गत्यागाङ्गशब्दा जीवोपाध्यर्थकाः। तत्राविद्यावच्छिन्नस्य प्राज्ञस्य जीवस्योपाधिभूताविद्याकारणशरीरं योगाङ्गपदेनोच्यते। तस्मिन् शरीरे हस्तमस्तकसंयोगरूपवेधादीक्षया भावलिङ्गस्य योजनं गुरुणा क्रियते। एवं पञ्चकर्मेन्द्रिय-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चप्राणमनोबुद्धिरूपसप्तदशतत्त्वात्मकलिङ्गशरीरावच्छिन्नतैजसस्य जीवस्योपाधिभूतं लिङ्गशरीरं भोगाङ्गमित्युच्यते। तस्मिन् मनुदीक्षया प्राणलिङ्गस्य संयोजनं क्रियते। एवं विश्वाख्यजीवस्योपाधिभूतस्थूलशरीरं त्यागाङ्गमुच्यते। तस्मिन्निष्टलिङ्गस्य योजनं क्रियते। एवं शरीरत्रये लिङ्गत्रययोजनोत्तरं तत्त्वमसीति शिष्यमुद्दिश्य गुरूक्तिरियम्— "तस्मादङ्गस्वरूपोऽसौ जीवः संसारवृत्तिभाक्"। तस्माद् ब्रह्मकर्मकप्राप्तिमात्र अनित्य हैं। श्रीगुरु शिष्य की शक्तिपात (योग्यता) की परीक्षा करके, क्रिया, मनु और वेधा नामक तीन प्रकार की दीक्षा के संस्कारों से स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीनों शरीरों में रहने वाले और जनन-मरण को प्राप्त कराने वाले कार्मिक, मायीय और आणव नामक तीन मलों को क्रम से जला कर परिशुद्ध किये गये उन अंगों में इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग नामक तीनों लिंगों को धारण कराने के बाद इस प्रकार के 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का बोध कराते हुए कहते हैं कि "लीनं गच्छतीति लिङ्गम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार चराचरात्मक यह प्रपंच जिस वस्तु में दिखकर उसी में लीन हो जाता है, उस प्रकार की

वचनानुरोधेन हराद्युपासनाविशेषैरविद्यापटलध्वंसे अं ब्रह्माणं परमशिवं गच्छतीत्यङ्गं त्वंपदवाच्यो जीवः। अङ्गपदस्य शरीरवाचित्वेऽपि—"यस्य चात्मा शरीरम्" (श० ब्रा० १४।६।७।३०), "यस्याव्यक्तं शरीरम्" (सु० उ० ७।१) इति श्रुत्या ब्रह्मणो जीवशरीरकत्वेनाङ्गं शरीरभूतं जीवस्त्वंपदवाच्यः। "लिङ्गाङ्गरूपयोर्योऽसौ संयोगः शिवजीवयोः। एतत्स्वरूपं सुदृढः सम्बन्ध इति स स्मृतः॥" इति वचनेन सम्यग् योगः संयोग इति व्युत्पत्त्या जीवब्रह्मैक्यापरनामकनीरनीरसंयोगवदविभाज्यसंयोगोऽसिपदवाच्यः।

कृतत्वादिति। अङ्गपदस्य शरीरवाचित्वेऽपीति। रूढिशक्त्येति भावः। ततश्चाङ्गपदार्थस्य ब्रह्मणा सहाभेदो बाधित इत्यपि सूचितविरुद्धांशः। यस्य चात्मा शरीरमिति। "य एष आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यस्य चात्मा शरीरं यमात्मानं वेद" (श० ब्रा० १४।६।७।३०) इत्यन्तर्यामिब्राह्मणेन पृथिव्यादिजीवात्मपर्यन्तस्य सकलस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मशरीरत्वबोधनात्। ब्राह्मणेन शरीरेणात्मनो ब्राह्मणत्वब्राह्मणाभेदव्यवहारवद् ब्रह्मणः शरीरभूतेन जीवात्मना ब्रह्मणोऽपि जीवाभेदव्यवहारो नानुपपन्नो भवतीति विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमाश्रित्यैतत्प्रकरणप्रवृत्तिर्द्रष्टव्या।

सर्वाधार स्वरूप वस्तु ही लिंग कही जाती है। बृहदारण्यक श्रुति में कहा भी गया है कि आग से जैसे चिनगारियाँ उड़ती हैं, वैसे ही उस लिंग रूप ब्रह्म से समस्त प्राणी, समस्त लोक, समस्त भूत और समस्त देवता उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मुण्डक श्रुति में कहा गया है कि मकड़ी अपने पेट में स्थित तन्तु (धागा) को जाले के रूप में तैयार करके फिर अपने में ही उसको जैसे मिला लेती है, अथवा जमीन अपने पेट में निक्षिप्त वृक्ष आदि को बाहर दिखला कर पुनः जैसे अपने में समाहित कर लेती है, वैसे ही चराचरात्मक यह प्रपंच सृष्टि से पहले लिंग (ब्रह्म) में सूक्ष्म रूप से रह कर सृष्टि के समय अभिव्यक्त होकर फिर उसी लिंग में विलीन हो जाता है। इस श्रुति के अनुसार उस ब्रह्म पदवाच्य शिवलिंग से आविर्भूत न्यूनांश वाले जीव "अं गच्छतीत्यङ्गम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसी लिंग में लीन हो जाते हैं, अर्थात् समरसभाव को प्राप्त हो जाते हैं। वीरशैव

अथवा—"विग्रहं देवदेवस्य जगदेतच्चराचरम् । एतमर्थं न जानन्ति पशवः पाशगौरवात् ।।" इति रीत्या ब्रह्मशरीरभूताङ्गपदवाच्यसकलचराचरप्रपञ्चस्त्वंपदार्थः, लिङ्गाधिष्ठितपरमशिवस्तत्पदार्थः, तयोरविभाज्ययोगोऽसिपदार्थ इति बुद्ध्या लिङ्गाङ्गपदार्थाभिन्नयोस्तत्त्वंपदवाच्यार्थयोर्विरुद्धधर्माध्यासेनाभेदासम्भवात् तत्त्वंपदलक्ष्यार्थयोरेवाभेद इति विजानाति । तदनन्तरमहं ब्रह्मास्मीत्यखण्डमहावाक्यार्थमनुभवन् जीवन्मुक्तो भविष्यतीति । यावदुक्तार्थबोधकानि तु वचनानि स्कान्दलैङ्गादिपुराणेषु वातुलोत्तरभागेऽनुभवसूत्रे वीरागमादौ च—"कोऽहमित्यब्रवीद् देही गुरुं परमकारणम् । गुरुस्तत्त्वमसीत्याह सत्यार्थं करुणानिधिः ।।" (अ० सू० ५।२४) इत्यादीनि बहूनि सन्ति, ग्रन्थविस्तरभयान्नेह विलिख्यन्ते ।

एवं जीवब्रह्मणोः शरीरभावेनाभेदबोधकत्वमुपपाद्य चराचरस्य सम्पूर्णस्य जगतो ब्रह्मणा सहाभेदबोधपरत्वं व्याख्यातुमुपक्रमते—अथवेति । विग्रहं देवदेवस्येति । अस्मिन् पक्षे ब्रह्मशरीरभूतः सकलचराचरप्रपञ्चस्त्वंपदार्थः, लिङ्गाधिष्ठितपरमशिवस्तत्पदवाच्यः, तयोरविभाज्यसम्बन्धोऽसिपदेनोच्यते । एवं तत्त्वंपदार्थयोरविभाज्यसंयोगेन कीटभ्रमरन्यायेन जीवे शिवत्वप्राप्त्यनन्तरं क्रमेणाद्वैतवेदान्तिनामभिमतो वास्तविकाऽभेदोऽपि सिद्धो भवतीत्याह—तत्त्वंपदलक्ष्यार्थयोरेवाभेद इति । विजानातीति । अत्र विजानातीत्युक्त्या वस्तुतोऽखण्डत्वमिदानीमपि न भवतीति सूच्यते । ततश्च चिदंशस्यैकरसत्वेन स्वात्मनि ब्रह्मरूपतादृष्टिं प्राप्नोतीति लभ्यते । फलं च जीवन्मुक्तत्वलाभ इत्याह—अहं ब्रह्मास्मीत्यखण्डमहावाक्यार्थमनुभवन् जीवन्मुक्तो भविष्यतीति ।

सिद्धान्त में जीव को अंग कहा गया है । इसलिये महावाक्य का तत्' नामक पद लिंग (ब्रह्म) का बोध करा रहा है, 'त्वम्' (अहं) यह पद जीव का बोध करा रहा है और 'असि' नामक पद सामरस्य (ऐक्य) का बोध करा रहा है, ऐसा जान

लिङ्गाङ्गसंयोगपदार्थानां तत्त्वमसीत्यादिपदार्थानां चाभेदबोधकानि कानिचिदुदाह्रियन्ते। तथाहि स्कान्दे शङ्करसंहितायाम्—"लिङ्गं किमङ्गमिति किं सम्बन्धः कोऽयमेतयोः। लिङ्गाङ्गसम्बन्धपदान्येवमेव विचिन्तयेत्॥ लिङ्गरूपो महादेवः सच्चिदानन्दलक्षणः। अङ्गरूपो हि जीवात्मा भवभावनियन्त्रितः॥ तत्पदेनोच्यते सद्भिर्लिङ्गरूपः सदाशिवः। त्वंपदेनाङ्गरूपो हि जीवः संसारलक्षणः॥ त्वमर्थोऽङ्गस्वरूपो यः सोऽहं शब्दार्थ एव हि। त्वमहंपद-

---

लिङ्गाङ्गेति। क्रमेणान्वयोऽत्र द्रष्टव्यः। लिङ्गतत्पदार्थयोरङ्गत्वंपदार्थयोः संयोगाऽसिपदार्थयोश्च यथासंख्यमन्वयो बोद्धव्यः।

भवभावनियन्त्रित इति। संसारवासनाबद्ध इत्यर्थः। अस्मिन् प्रकरणे लिङ्गरूपो महादेव इत्यारभ्य लक्ष्यार्थं लक्षयित्वा तमित्यन्तैर्वातुलागमवाक्यैस्तत्त्वमसि, सोऽहमस्मीत्येतन्महावाक्यघटकपदार्थानां लिङ्गाङ्गसंयोगपदार्थेष्वेवमुक्तवाक्ययोर्विशिष्टार्थस्य लिङ्गाङ्गसंयोगात्मकविशिष्टवाक्यार्थे वारं वारमभेदभावनं सविलासाऽविद्यानिवृत्तिहेतुभूतं प्रत्येकपदार्थतत्त्वनिश्चयपूर्वकमुपदिश्यते। एवं प्रकाशिततात्पर्यकस्यास्य प्रकरणस्य कानिचिद्वाक्यानि व्याख्यायन्ते। त्वमर्थोऽङ्गस्वरूपो यः सोऽहंशब्दार्थ एव हि। अय भावः—तत्त्वमसीत्यत्र त्वंपदार्थः, लिङ्गाङ्गसंयोग इत्यत्राङ्गपदार्थः, सोऽहमस्मीत्य-

---

लेना चाहिये। स्कन्द, कामिक आदि अनन्त पुराण-आगम ग्रन्थ और अनुभवसूत्र आदि भी इसी अभिप्राय का समर्थन कर रहे हैं।

शंका—अंग शब्द से जैसे शरीर का अर्थ सिद्ध होता है, वैसे शरीर के अन्तर्वर्ती जीव की सिद्धि नहीं हो सकती। इस अंग शब्दवाच्य स्थूल शरीर का और लिंग शब्दवाच्य सूक्ष्म लिंग का सामरस्य बताना न्यायसंगत नहीं है। इसलिए 'तत् त्वम्' इन पदों में अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है?

समाधान—दोनों में अभेद सम्भव है। जैसा कि—"य एष आत्मनि तिष्ठन्" इस श्रुति में जीवात्मा परमात्मा का अंग है, वैसे चेतन स्वरूप अंग और लिंग इन दोनों के सामरस्य के संभव होने में कोई संशय नहीं है। इस प्रसंग पर भगवान् श्रीरेणुक पादाचार्य का कहना है कि चराचरात्मक यह जगत् परमात्मा का शरीर है।

लक्ष्यार्थश्चिद्रूपः परमेश्वरः ॥ त्वमहंपदवाच्यार्थस्यैव देहादिवस्तुनः । न तच्छब्दार्थतास्यैव विरुद्धत्वात् सदैव हि ॥ त्वमहंपदलक्ष्यार्थो जीवात्मा चाङ्गरूपकः । अशिवश्चेत् सदानन्दस्ततो

त्राहंशब्दार्थश्चैक एव । लक्ष्यार्थो दर्श्यते—त्वमहंपदलक्ष्यार्थश्चिद्रूपः परमेश्वर इति । अत्र सोऽहमस्मीत्यहंपदेनाहं गच्छाम्यहं तिष्ठामीत्यादिलौकिकवाक्यस्थाहंशब्दार्थप्रतिपादने विवक्षिते त्वमहंपदलक्ष्यार्थ इत्युत्तरार्धं विरुध्यते, लौकिकवाक्यस्थाहंपदस्य लक्ष्यार्थे तात्पर्याभावादिति सोऽहमस्मीति श्रौतवाक्यस्थाहंशब्दमभिप्रेत्य व्याख्यातम् । शक्यार्थस्याभेदः कस्मान्न भवतीति शङ्कामपाकरोति—त्वमहंपदवाच्यार्थस्यैव देहादिवस्तुनः । न तच्छब्दार्थताऽस्यैव विरुद्धत्वात् सदैव हि ॥

ननु त्वमहंपदाभ्यां स्थूलदेहोपलक्षितजीवमात्रं लक्षयितुमुचितम्, तस्यैव परमात्मशरीरत्वात् । ततश्च चिद्रूपपरमेश्वरस्य लक्ष्यत्वोक्तिरनुपदोक्ता न संगच्छत इत्यत आह—त्वमहंपदलक्ष्यार्थो जीवात्मा चाङ्गरूपकः । अशिवश्चेत् सदानन्दस्ततो नैव विलोकयेत् ॥ इति । अत्र विलोकयेदित्यत्र कर्मणः कर्तृत्वविवक्षा बोद्धव्या, अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्दधाति चेतिवत् । अयं भावः—लक्ष्याऽङ्गरूपो जीवोऽशिवश्चेच्छिवभिन्नश्चेत्, तदा जीवात्मन आनन्दरूपत्वाभावान्मा न भूवं हि भूयासमित्यात्मविषयकपरप्रेमसूचितात्मन आनन्दरूपता न दृश्येत, दृश्यते त्ववश्यम् । यद्वा न विलोकयेद् न चेतयेत्, ब्रह्माभिन्नस्य जडत्वादिति तात्पर्यम् । इदं च परमानन्दत्वभानं सामान्यरूपेणैव भवति । तस्मान्न सर्वथा शिवादभिन्नो जीवात्मेति सांसारिकविषयस्पृहाऽप्युपपद्यते । तदुक्तं विद्यारण्यैः—"अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा । तस्मादभानं भानेऽपि प्रतिबन्धेन युज्यते ॥ अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।" (प० द० १।११-१२) इत्यादि ।

परमात्मा ही शरीरी है । मल पाश से आवृत लोग इस अर्थ को नहीं जानते । इस प्रकार का यह प्रमाण वाक्य भी उस श्रुति के अर्थ का ही प्रतिपादन कर रहा है । इसलिये तत् और त्वं पदों का एकत्व कहने में कोई सन्देह नहीं है ।

शंका—लेकिन वीरशैव सिद्धान्त भेदाभेदवादी है । अंगवाच्य जीवात्मा में स्थित किञ्चिज्ज्ञत्व आदि हेय धर्मों का कभी भी नाश न होने से लिंग ही तुम हो, इस 'असि' पद का अर्थस्वरूप जो सामंजस्य बताया गया है, वह समंजस नहीं हो

नैव विलोकयेत् ।। जगच्चराचरं यत्तत् तत्त्वं पूर्णं चिदात्मकम् । शुद्धं तदङ्गरूपो हि तत्त्वमर्थो न संशयः ।। तत्त्वंपदार्थे लिङ्गाङ्गरूपेऽन्योन्यविरुद्धकम् । उपाधिकृतवाच्यार्थं त्यक्त्वा सच्चित्सुखात्मकम् ।। लक्ष्यार्थमविरुद्धं यच्छिवं तदिति या

जगच्चराचरमिति । चराचरस्य जगतस्तत्त्वमात्मभूतमन्तर्यामीति यावत् । शुद्धं पूर्णं चिदात्मकं शिवस्वरूपमिति भावः । शिव एव सर्वेषामात्मेति भावः । तदङ्गरूपो हीति । चराचरं तु तच्छरीरभूतमित्यर्थः । तत्त्वमसीत्यत्र कल्पद्वयं पूर्वमपि दर्शितम्—जीवस्त्वंपदार्थः, परमात्मा तत्पदार्थ इत्येकः कल्पः । चराचरं जगत् त्वंपदार्थः, परमात्मा पूर्ववदेव तत्पदार्थ इति द्वितीयः कल्पः । तदेव कल्पद्वयं शङ्करसंहितावाक्येन दर्शितम्—उपाधिकृतवाच्यार्थमिति । उपाधिभिर्देवत्वमनुष्यत्वादिभिर्जीवात्मा देवमनुष्यादिरूपः कृतो भवति, वस्तुतस्तस्य देवत्वमनुष्यत्वादिकं नास्ति । एवं तादृशोपाधिविशिष्टजीवैस्तत्तदुपाधिप्रापितजीवगतवैलक्षण्यैर्जीवानां देवमनुष्यादिरूपाणामन्तर्यामीन्द्रवरुणादिरूपतां मनुष्यादिरूपतां च प्रापित इव भवति । इदमेवोपाधिकृतं रूपमुभयभागे द्रष्टव्यम्, दलद्वयोपाध्योः परित्यागे सच्चित्सुखात्मकशिवांशस्यैवावशेषात् । तावन्मात्रबुद्धिरभेददृष्टिरुच्यते । तस्या एवाऽज्ञानपटलध्वंसद्वारा परमपुरुषार्थसाधकत्वम्, न तु वस्तुतो जीवब्रह्मणोरभेदोऽ-

सकता । इसलिये अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि आदि महावाक्य लिंगांगसामरस्य को कैसे बता सकते हैं ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि लिंग से अंग और अंग का धर्म भिन्न जरूर है, फिर भी लिंगोपासना से, शिवध्यान रूपी मन्थन से अंग के सभी धर्मों के नष्ट हो जाने से जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है और नित्य सुख का अनुभव करने लगता है, ऐसा श्रुति बता रही है । इतना ही नहीं, निकृष्ट जीव माना जाने वाला कौआ जब मेरु पर्वत पर जाता है, तो वह अपने हेय धर्मों को छोड़ कर जैसे सुवर्णाकार को प्राप्त कर लेता है, सीप में गिरने वाली स्वाति नक्षत्र की बूंद जैसे मोती बन जाती है और रासायनिक पदार्थों के सम्पर्क से ताँबा अपने गुण-धर्म को छोड़ कर जैसे सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही गुरु की कृपा से जीवात्मा अपने हेय गुण-धर्मों को छोड़ कर शिव को प्राप्त होकर शिवस्वरूप वाला हो जाता

मतिः । सा सम्बन्ध इति प्रोक्ता वेदान्तागमवेदिभिः ।। लिङ्गरूपो महादेवः पूर्णश्चैतन्यलक्षणः । भाति यः सोऽङ्गरूपोऽहं जोवात्मास्मि न चापरः ।। यो भाति चाङ्गरूपोऽहं जीवात्मा परमात्मनः । सोऽयमात्मा महादेवो लिङ्गरूपो महेश्वरः । यो मायोपाधिको देवो लिङ्गरूपी सदाशिवः । सोऽविद्योपाधिको

स्मिन् मते विवक्षितः, भक्तिपक्षस्य शैवशास्त्रसिद्धान्तत्वात् । लिङ्गरूपो महादेव इति । यश्चैतन्यस्वरूपो महादेवो लिङ्गरूपो भाति, तद्रूपोऽहमिति स्वस्मिन् परमात्मतादात्म्यभावना प्रथम कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । यो भाति चाङ्गरूपोऽहमिति यः परमात्मनोऽङ्गरूपो जीवो भाति स महेश्वर एवेति लिङ्गरूपे महेश्वरे जीवात्मनो लयभावना पूर्वभावनावैपरीत्येन द्वितीया कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते। यो मायोपाधिको देव इति । शुद्धसत्त्वप्रधानाविद्यासमष्टिः परमात्मन उपाधिभूता, मलिनसत्त्वप्रधाना व्यष्टिभूताऽविद्या जीवस्योपाधिभूता । यथोक्तं पञ्चदश्याम्—"सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते । मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ।। अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा" (१।१६-१७) इति । तदेवास्मिन् पद्य उच्यते । एवं मायोपाधिको लिङ्गरूपी सदाशिवः । स एवाऽविद्योपाधिको भूत्वाऽङ्गस्वरूपवान् जीवस्वरूपो भवतीत्यर्थः । इयं तृतीयभावना शिवयोगिभिः कर्तव्यत्वेनोपदिष्टा द्रष्टव्या । पूर्वं शुद्धयोः परमेश्वरजीवयोर्मध्ये जीवे परमेश्वररूपत्वं प्रकारद्वयेन भावनीयत्वेनोक्तम् । परमेश्वर एव जीवो जीवः परमेश्वर एवेति वस्तुत उभयोरपि भावनयोर्भावनीयं वस्त्वेकमेव । केवलमुद्देश्यविधेयभावमात्रं भिद्यते । तृतीयभावनायां तु कार्यकारणरूपेण तादात्म्यं भावनोयत्वेनोपदिश्यते । यो मायोपाधिकः स एवाऽविद्योपाधिको भवतीति ।

है । इस लोक के अनुभव से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव के शिव होने में कोई बाधा नहीं है । इतना ही नहीं, "यथा नद्यः स्यन्दमानाः" इस मुण्डक श्रुति में बताया गया है कि बहने वाली गंगा, गोदावरी आदि नदियाँ अपने सहज स्वभाव नाम, रूप, गुण, क्रियाओं को समुद्र को प्राप्त करते ही छोड़ देती हैं, वैसे ही लिंगनिष्ठ शिवयोगी (जीव) अपने किञ्चिज्ज्ञत्वादि हेय गुणों को छोड़ कर लिंगरूप परमात्मा में लीन होकर अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगता है । इसीलिये कहा गया है

भूत्वा भवत्यङ्गस्वरूपवान् ।। तत्पदेनोच्यते लिङ्गं त्वंपदेनाङ्ग-मीरितम् । अनयोरैक्यभावोऽयं सम्बन्धोऽसिपदेन च ।। इति वाक्यानुसन्धानं भासते यस्य सन्ततम् । गुरूपदेशाल्लिङ्गाङ्ग-सम्बन्धीति स उच्यते ।। एवं लिङ्गाङ्गसम्बन्धभावना

एवं लिङ्गाङ्गयोस्तादात्म्यभावनात्रयमुपदिश्य श्रौतवाक्यार्थत्वेनापि तच्चिन्तनीयं प्रामाणिकत्वेन ससंरम्भप्रवृत्तिलाभायेत्याह—तत्पदेनोच्यते लिङ्गमित्यादि सम्बन्धोऽसिपदेन चेति। सम्बन्धस्याकाङ्क्षाभास्यतया प्रकृतेऽभेदलक्षणः संसर्गस्तत्पदसमभिव्याहृतत्वं पदत्वरूपाकाङ्क्षाज्ञानादेव भासते। असिपदस्य विशिष्टसत्ताबोधकत्वेन वैशिष्ट्यबोधेऽप्युपयोगित्वादियमुक्तिः। अथवा कटे चैत्रोऽस्तीत्यादौ सप्तम्यन्तप्रथमान्तसमभिव्याहारे सप्तम्यन्तार्थे प्रथमान्तार्थनिष्ठाधेयतारूपसत्ताया अस्तिपदेन बोधनवत् प्रथमान्तद्वयसमभिव्याहारे उद्देश्ये विधेयस्याभेदरूपसत्ता बोध्यत इति सम्यगुक्तमिदं भवति।

कि जो व्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार अनन्त श्रुतियाँ इस विषय के समर्थन में प्रवृत्त हैं, अतः अंग शब्द वाच्य जीव लिंग शब्द वाच्य परशिव की उपासना से अपने किञ्चिज्ज्ञत्वादि समस्त अंग धर्मों के नष्ट हो जाने से शिवस्वरूप हो जाता है। लोक में तुच्छ माना गया भ्रमर (भौंरा) अपने से भिन्न जाति के कीड़े को लाकर अपने घर में रख कर उसको अपनी तरफ आकर्षित करने के लिये अपने डंक से मार मार कर चारों तरफ घूमता रहता है। वह कीड़ा इसके डर से निरन्तर इसी का चिन्तन करते हुए अपने गुण-धर्मों को छोड़ कर जैसे भ्रमर बन जाता है, वैसे ही सत्यसंकल्प, सत्यकाम और और सर्वसमर्थ भक्ताभीष्टप्रद प्रतीक को धारण करने से वह परशिव अपनी उपासना करने वाले भक्त के जीवभाव का निवारण कर शिवभाव को प्राप्त करा दे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता।

शंका—थोड़ी देर के लिए हम आपकी बात मान लेते हैं, फिर भी यहाँ पूर्णतया लिंगभाव की प्राप्ति कैसे हो सकती है? लिंग के सम्बन्ध से अंगभाव का अभिभव होने पर भी उस लिंग का सम्बन्ध जब तक रहेगा, तब तक ही यह सम्भव है। जब उस लिंग का सम्बन्ध छूट जाता है, तब पहले की तरह अंगनिष्ठ हेयत्वादि धर्मों का पुनः प्रादुर्भाव हो जायगा। जैसे कि पानी का सहज गुण

यस्य विद्यते । स योगी स च सर्वज्ञो जीवन्मुक्तः स उच्यते ।। लिङ्गाङ्गपदवाच्यार्थं हित्वा सम्यग्धिया पुनः । लक्ष्यार्थं लक्षयित्वा तं सोऽहमेवेति चिन्तयेत् ।। लिङ्गाङ्गपद-

---

एवं तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मीति वाक्योत्थभावनात्रयं कर्तव्यत्वेनोपदिश्य तस्य फलमाह—लिङ्गाङ्गसम्बन्धीति स उच्यत इति। ननु संज्ञाविशेषलाभेऽपि वस्तुतो न किञ्चिदभीष्टं सिद्धं भवतीति पर्यनुयोगे आह—स योगी स च सर्वज्ञो जीवन्मुक्तः स उच्यत इति। योगः, तज्जन्यैश्वर्यम्, सर्वज्ञता, जीवन्मुक्तिश्च सिद्धा भवतीति महाफललाभोऽस्य सम्पद्यत इति भावः। नैतावन्मात्रमपि तु परमपुरुषार्थमोक्षमप्यसौ प्राप्नोतीत्याह—लिङ्गाङ्गपदवाच्यार्थं हित्वेत्यादिना। लिङ्गाङ्गपदयोस्तत्त्वंपदयोश्च वाच्यार्थं मायारूपोपाधिविशिष्टमविद्यारूपोपाधिविशिष्टं च हित्वा त्यक्त्वा लक्ष्यार्थं जहदजहल्लक्षणयोपनीतं शुद्धचैतन्यं गृहीत्वा स एवाहमिति चिन्तयन्, तादृश-

शीतलता होने पर भी अग्नि का सम्बन्ध जब तक रहता है, तब तक भले ही अपना गुण न दीखे, फिर भी जब अग्नि का सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा, तब पहले की तरह शीत गुण तो आ ही जाता है। वैसे ही यहाँ पर भी सम्भव होने से हमेशा-हमेशा के लिये जीव शिवस्वरूप कैसे हो सकता है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं, क्योंकि दूध के एक बार दही हो जाने के बाद जैसे पुनः दूध नहीं हो सकता, वैसे ही शिवलिंगोपासना से एक बार जीव के हेय गुणों का नाश हो जाने पर फिर से उनका लौटना सम्भव नहीं है। इसलिये 'असि' पदवाच्य शिवभाव के प्राप्त हो जाने में संशय नहीं है। इसीलिये अंग नामक जीव लिंग की उपासना करते-करते ऊपर के दृष्टान्त के अनुसार (भ्रमरकीट न्यायानुसार) 'तत्त्वमसि' इस गुरूपदेश के श्रवण से "अहं ब्रह्मास्मि" मैं शिवस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार महावाक्य के अर्थ का अनुभव करने लगता है। अतः छान्दोग्य उपनिषत् का महावाक्य वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार लिंगांगसामरस्य का बोध करा रहा है।

इसके अतिरिक्त "कोऽहम्" इत्यादि वाक्य भी इस अर्थ को स्पष्ट करते हैं। मैं कौन हूँ ? ऐसा शिष्य के द्वारा पूछे जाने पर करुणावरुणालय गुरु "तत्त्वमसि" वह शिवलिंग ही तुम हो, ऐसा उत्तर देते हैं। इसके बाद लिंग और अंग का स्वरूप क्या है ? और उन दोनों का सम्बन्ध कैसा है ? ऐसा प्रश्न

सम्भूतसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नाभूदस्ति भविष्यति ।।" इति ।

अनुभवसूत्रे—"लिङ्गं तत्पदमाख्यातमङ्गं त्वंपदमीरितम् । संयोगोऽसिपदं प्रोक्तमनयोरङ्गलिङ्गयोः ।।" (५।२७) इति ।

एवं परमाप्तपरमशिवप्रणीतवेदविहितत्वेन लिङ्गधारणस्य वैदिकजनपरिग्राह्यत्वमभिहितम् ।

चिन्तोद्भूतयथार्थबुद्धिबलात् सविलासाऽविद्या नासीत्, नाऽस्ति, न भविष्यतीत्यभावत्रयप्रतियोगित्वेन ज्ञाता भवतीति निःशेषाविद्योच्छेदेन परममुक्तिमप्ययं प्राप्नोतीति भावः।

अनुभवसूत्रमपि प्रमाणयति—लिङ्गं तत्पदमाख्यातमिति। तत्पदेनाख्यातमिति वक्तव्ये छन्दोऽनुरोधादियमुक्तिर्बोध्यबोधकयोरभेदाभिप्रायेण कथञ्चिन्नेतव्या।

पूछने पर गुरु कहते हैं कि हे शिष्योत्तम ! सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक पाँच कृत्यों को करने वाला ही लिंगपद वाच्य है। उस लिंग में ही सम्पूर्ण जगत् दीखता है और उसी में लीन हो जाता है। यही परशिव लिंग 'तत्' पद का अर्थ है। "मलावृतः संसारी" इस शिवसूत्र के प्रमाण से अपने अपने क्रियाकलापों के अनुसार (कर्म के अनुसार) जननमरण रूप संसार-सागर में डूबता-उतराता हुआ अनेक प्रकार के आयास-प्रयासों से कराहने वाला जीव ही 'अंग' कहा जाता है। यही अंग 'त्वम्' पद का अर्थ है। यह अंग और लिंग एक दूसरे के विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। अतः इनमें सामरस्य (ऐक्यभाव) सम्भव नहीं है। इसलिये लक्षणा वृत्ति का आश्रय लेकर दोनों चैतन्यों के एकत्व को स्वीकार कर लेना उत्तम है। इस प्रकार स्कान्द, लैंग आदि पुराण बता रहे हैं। इस अर्थ में और भी इस प्रकार के हजारों प्रामाणिक ग्रन्थ इस अभिप्राय का समर्थन कर रहे हैं। अतः अंग में लिंगधारण की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार अनुभवसूत्रकार भी तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थ को लिंगांगसामरस्य के अनुगुण निरूपित करते हैं।

इस प्रकार परशिव प्रणीत अपौरुषेयात्मक ऋक् आदि वेद-मन्त्रों के आधार-पर देह में लिंगधारण का समर्थन किया गया है।

इदं पुनरत्रावधातव्यम्—सर्वाण्यत्र प्रक्रियाऽद्वैतसिद्धान्तवत् प्रतीयते, तेन स एव सिद्धान्तोऽत्राभिमतोऽस्तीति बहूनां भ्रमः संभवति। परं तथा न भ्रमितव्यम्। अद्वैतसिद्धान्ते हि उपाधीनां सर्वेषां मिथ्यात्वमेवास्ति। अत्र तूपाधीनां न मिथ्यात्वम्, किन्तूत्पादविनाशशालित्वेनानित्यत्वमात्रम्। एवं जीवब्रह्मणोरद्वैतसिद्धान्ते सर्वथाऽभेद एवास्ति। एतन्मते तु परमेश्वरस्य जीवान्तर्यामितया जीवानां च तच्छरीरतया अहं मनुष्योऽहं देव इति, अहं कृशोऽहं स्थूल इत्याद्यभेदवद् जीवब्रह्मणोरप्यारोपिताभेदो व्यवह्रियते। तर्हि किमर्थं वाच्यार्थपरित्यागेन लक्ष्यार्थमादायाऽभेद उपपाद्यते, किमर्थं च जीवब्रह्मणोः स्वरूपत एव भेदसिद्धौ मायाऽविद्यारूपोपाधिद्वयं तयोर्भेदोपपादनाय परिगृह्यत इति चेत्, श्रूयताम्—सच्चिदानन्दस्वरूपस्य सर्वशक्तिमतः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य जडचिदात्मकं सर्वं जगत् तादात्म्येनाभिमानविषयीभूतमिति परमेश्वरः सर्वात्मक उच्यते। जीवानां तु चिद्रूपाणामेव तत्तच्छरीरमात्रं तादात्म्येनाभिमानविषयीभूतमिति जीवास्तत्तच्छरीरात्मकाः पृथग् पृथग् भेदवन्त उच्यन्ते। परमेश्वरस्य सर्वाभिमानित्वात् सर्वशक्तिमत्त्वाच्च सर्वमेव जगद् यथेच्छति तथा कर्तुं शक्नोति सः। यदुक्तं भगवता—"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥"(भ०गी० १३।१४) इति,"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (भ० गी० १८।६१) इति च। जीवानां तु स्वशरीराभिमानित्वादल्पशक्तिमत्त्वाच्च स्वेच्छाप्रयत्नाभ्यां साक्षात् स्वस्वशरीरमात्रचेष्टने शक्तिर्भवत्यसति बाधके। एवं स्थिते परमेश्वरस्य निरस्तसाम्यातिशयमैश्वर्यं सर्वजगन्नियामकत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च दर्शयितुं मायोपाधिकत्वमिदं दर्शितम्, न त्वद्वैतवेदान्त इव वास्तविकाऽभेदेऽपि भेदोपपादनार्थं सर्वं जगदेवात्र मायापदेनोच्यते। तस्मिन् तादात्म्याऽभिमाननिमित्तकत्वात् सर्वनियन्तृत्वादिरूपैश्वर्यस्य मायोपाधिकत्वमुच्यत इत्याशयः। शक्तिविशेष एव माया इति वा। उपाधिभूतं वाच्यांशं परित्यज्य लक्ष्यार्थदर्शनं तु लक्ष्यभागस्यैव स्वान्तर्यामितया स्वात्मत्वबुद्ध्या सोऽहमिति चिन्ताभ्यासस्यौचित्यलाभाय। तादृशचिन्ताभ्यासश्च परमात्मशरणकत्वदृढीकरणेन परमेश्वरप्रसादलाभाय। ततश्चाज्ञाननिवृत्त्या सकलक्लेशात्यन्तनिवृत्तिलक्षणो मोक्षः सिद्ध्यति। परमेश्वरस्याभिमानस्तदीयसर्वज्ञताया बाधको न भवतीति तदीयोपाधिः

इदानीं वेदार्थप्रतिपादकगौतममन्वादिस्मृतिविहितत्वेनापि तस्य तथात्वं प्रदर्श्यते। गौतमस्मृतौ—"मुखे मन्त्रो हृदि ध्यानं मस्तके लिङ्गधारणम्। रुद्राक्षं च शिखा भस्म इति ब्राह्मणलक्षणम्॥" इति। अत्र हृदि ध्यानम् अन्तर्लिङ्गानुसन्धानम्, मस्तके लिङ्गधारणमिति बाह्यलिङ्गधारणं चाभिहितम्।

शुद्धसत्त्वप्रधाना मायोच्यते। अस्यैवाभ्यासस्य दार्ढ्याय लिङ्गाङ्गयोगोऽन्तर्बहिर्धारणरूपतया द्विविधे लिङ्गे च ब्रह्मरूपत्वदृष्टिः कर्तव्यत्वेनोच्यते। "अविद्यासहकारेण नाभून्नास्ति" इत्युक्तिस्त्वभिमाननिवृत्त्या तत्प्रयुक्तप्रवृत्तीनां सकलदुःखस्य च निवृत्त्यभिप्राया द्रष्टव्या, न तु सर्वथा स्वप्नपदार्थनिवृत्तिवत् प्रपञ्चनिवृत्त्यभिप्राया, जगति तादृशमिथ्यात्वस्यैतन्मतेऽनभ्युपगमादित्यलम्।

एवं वेदवाक्यैर्लिङ्गधारणस्य कर्तव्यत्वं साधयित्वा स्मृतिरपि तत्कर्तव्यत्वं दर्शयतीत्याह—मुखे मन्त्र इति।

स्मृतियों में लिंगधारण

इसके बाद वेदों का अनुगमन करने वाली मनु आदि स्मृतियों के द्वारा लिंगधारण शास्त्रसम्मत सिद्ध किया जाता है। गौतम स्मृति में कहा गया है कि "मुंह में भगवान् शिव का ध्यान, शिर में इष्टलिंग, कण्ठ में रुद्राक्ष, भाल (ललाट) भाग में भस्म का त्रिपुण्ड्र और मस्तक पर शिखा को धारण करना ब्राह्मण का लक्षण है।

इस स्मृति में 'हृदि ध्यानम्' इस वाक्य से अन्तर्लिंगधारण और "मस्तके लिङ्गधारणम्" इस वाक्य से देह में इष्टलिंगधारण बताया गया है। इस प्रकार के दो प्रकार के लिंगधारण के प्रति श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य जी का यह आदेश है—

अन्तर्लिंगधारण और बहिर्लिंगधारण के भेद से लिंगधारण दो प्रकार का है। ये दो प्रकार के लिंगधारण मोक्षापेक्षियों के लिये आवश्यक हैं। आधार स्थान पर, हृदय स्थान पर अथवा भौहों के बीच में तेजोमय शिव का निरन्तर ध्यान करना ही अन्तर्लिंगधारण कहा जाता है। दीक्षा संस्कार से परिशुद्ध देह के शिर, कण्ठ, हृदय इत्यादि स्थानों में से किसी एक स्थान पर इष्टलिंग को धारण करना ही

नन्वत्र ब्राह्मणमात्रोद्देशेन मन्त्रध्यानलिङ्गधारणादिषड्-विधधर्मवत्त्वं विधीयते, तच्चाचारविरुद्धम्, केषुचिल्लिङ्ग-धारणभस्मधारणोभयाभावात्, केषुचिल्लिङ्गधारणाभावादिति चेन्न, "मृताहं समतिक्रम्य चाण्डालाः कोटिजन्मसु" इति

तच्चाचारविरुद्धमिति। श्रौतस्मार्तब्राह्मणेषु बहुषु यावज्जीवमग्नि-होत्रानुष्ठानकर्मशालिषु लिङ्गधारणादेरदर्शनादिति भावः। तदेव दर्शयति—केषुचिदित्यादिना। समाधत्ते—मृताहं समतिक्रम्येत्यादिना। मृताहं क्षय-

बाह्य लिंगधारण कहा जाता है। इन दोनों लिंगों को शास्त्र के ज्ञाता एवं महायोगी एक ही काल में धारण करने का सामर्थ्य रखते हैं। इस प्रकार का सामर्थ्य हो या न हो, बाह्य नाम से प्रसिद्ध इष्टलिंग को, यह इष्टलिंग ज्योतिर्लिंग ही है, ऐसी दृढ़ भावना से धारण करना चाहिये। "तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावात्" (श्वेताश्वतर) यह श्रुति भी इस प्रकार के लिंग को धारण करना चाहिये, ऐसा निर्देश दे रही है।

शंका—लेकिन गौतम स्मृति में मुख में मन्त्र, हृदय में ध्यान, मस्तक पर शिवलिंग, शिर पर शिखा, भाल पर भस्म, कण्ठ में जो रुद्राक्ष धारण करता है, वह ब्राह्मण है, ऐसा ब्राह्मण का लक्षण बताया गया है। इस प्रकार के छः लक्षण केवल लिंगधारियों में ही दीखते हैं और किसी में नहीं, क्योंकि स्मार्त सम्प्रदाय के ब्राह्मणों के मुख में मन्त्र आदि पाँच तो दीखने में आते हैं, लेकिन देह में लिंग-धारण नहीं दीखता। ऐसे ही वैष्णव सम्प्रदाय के लोगों में मन्त्र आदि तीन ही दीखते हैं। भस्म, रुद्राक्ष और लिंगधारण नहीं दीखते। इसलिये ब्राह्मणों का सामान्य लक्षण बताने वाली यह गौतमोक्ति जब सभी में अनुगत नहीं हो सकती, तब यह लिंगधारण की विधि में कैसे समर्थ हो सकती है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं, यह जो "मुखे''''ब्राह्मणलक्षणम्" गौतम स्मृति का वाक्य है, यह लिंगधारण के निमित्त कहा गया है। इसलिये यह सामान्य वाक्य न होकर विशेष वाक्य ही है, क्योंकि ये छः धर्म शैव, वैष्णव आदि में न दीखने पर भी दीक्षित वीरशैवों में पूर्णतया दीखते हैं।

शंका—तब तो समस्त वैदिक जनों से ग्राह्य और ब्राह्मण-सामान्य (मात्र) का बोधक यह गौतम स्मृति का वाक्य केवल वीरशैवों के निमित्त है, इस तरह से

ब्राह्मणमात्रोद्देशेन मृतिदिनश्राद्धातिक्रमे दोषविधायकवाक्य-स्यैकादश्यादिव्रतप्रधानकानन्दतीर्थीयमतानुयायिनो व्यतिरिक्त-विषयत्ववत्, "रात्रिः शिवा काचन सन्निधत्ते विलोचने

दिने एकोद्दिष्टश्राद्धम्, मतभेदेन त्रिदैवतपार्वणं वा समतिक्रम्य अकृत्वा। अत्र क्षयः पितुर्मातुश्च ग्राह्यः, तयोरेव सांवत्सरिकस्य नित्यत्वात्। आनन्द-तीर्थीयेति। तैरेकादश्यां श्राद्धप्राप्तौ व्रतभङ्गभिया श्राद्धं न क्रियते। तदा तन्निषेधकवाक्यानां वैष्णवग्रन्थेषूपलभ्यमानानामनुरोधेन श्राद्धातिक्रमदोष-बोधकवाक्ये एकादशीमृतस्य पितुः पुत्रेभ्यो वैष्णवविशेषेभ्योऽतिरिक्तविषय-कत्वेनायं सङ्कोचो मन्तव्यः।

रात्रिः शिवेति। कश्चिच्छैवः शिवरात्रौ जागरणाय स्वकीयनेत्रे प्रोत्साहयति—हे विलोचने नेत्रे, काचनाऽनिर्वचनीया महाफलदा

अर्थ के संकोच की कल्पना करनी होगी। तब अर्थ के संकोच से विशिष्ट वाक्य को कैसे प्रामाणिक माना जाय?

समाधान—ऐसी बात नहीं, क्योंकि स्मृतियों में पारस्परिक विरोध दीखने पर पूर्वाचार्य उस प्रकार के वाक्यों के अर्थ का संकोच करते हुए समन्वय कर लेते हैं। जैसे कि—"मृताहं समतिक्रम्य चाण्डालाः कोटिजन्मसु" जिस दिन वह मरा है, उस दिन श्राद्धकर्म करना चाहिये। इस प्रकार का श्राद्ध न करने पर वह व्यक्ति हीन जन्म को धारण करेगा। इस तरह से धर्माचार्य श्राद्ध कर्म करने का नियम बताते हैं। इस नियम को सभी स्मार्त ब्राह्मण स्वीकारते हैं, किन्तु एकादशी व्रत को प्रधान मानने वाले आनन्दतीर्थ सम्प्रदाय के लोग इस नियम को नहीं मानते। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि एकादशी के दिन श्राद्धकर्म करना हो, तो उस दिन श्राद्धकर्म न कर वे एकादशी व्रत का ही पालन करते हैं। तब उन लोगों के लिये श्राद्धातिक्रमण नामक महादोष को न बताकर अन्य ब्राह्मणों के लिये वह महादोष है, ऐसा बताना उचित मानकर अर्थ का संकोच किया गया है। और भी—

"अपरिमित फल को प्रदान करने वाली मंगलमय रात साल भर में एक बार मिलती है। उसी रात को शिवरात्रि कहते हैं। हे नेत्रों, अति पुण्य से प्राप्त इस मंगलमय रात में तुम पलक न गिराते हुए बहुत ही जागरूक रह कर, बिलकुल

जागृतमप्रमत्ते । समानधर्मा युवयोः सकाशे सखा भविष्यत्यचिरेण कश्चित् ।।" इति सकलजनलोचनोद्देशेन जागरणविधायकवाक्यस्य रामानुजमतानुयायिव्यतिरिक्तविषयत्ववच्चास्यापि लिङ्गधारिविप्रविषयत्वात् । किञ्च, मस्तके लिङ्गधारणमिति विशेषपर्यवसायिपदसत्त्वेन सामान्यपरस्यापि ब्राह्मणपदस्य लिङ्गाङ्गिब्राह्मणरूपविशेषपर्यवसानाच्च ।

शिवा कल्याणमयी रात्रिः, शिवरात्रिरिति यावत्, सन्निधत्ते सन्निहिताऽस्ति । अस्यां रात्रौ युवामप्रमत्ते सावधाने सती जागृतं प्रमादान्निद्रावती मा भूतमित्यर्थः । किमेतस्य फलमित्यत्राह—समानेति । युवयोः सकाशं समीपं युवयोः समानधर्मा सखा मित्रम्, अर्थात् तृतीयं नेत्रमचिरेण कालेन भविष्यति । अस्यां रात्रौ जागरणात् त्रिनेत्रः साक्षाच्छिव एव मनुष्यो भवतीति तात्पर्यम् । तेन च शिवरात्रौ जागरणं शिवत्वप्राप्तये कर्तव्यमिति विधानं लभ्यते । एनमपि विधिं कतिपयवैष्णवसम्प्रदायानु-

न सो कर उस दिव्य मंगल विग्रहस्वरूप लिंग का ध्यान करते रहो । इस प्रकार ध्यान करने पर तुम दोनों के बीच में तीन नेत्रों वाले भगवान् शिव प्रत्यक्ष हो जायंगे" । यह जागरण विधायक वाक्य है । यह वाक्य लोक के सभी नेत्रों को ध्यान में रख कर लिखा गया है, न कि कुछ थोड़े ही नेत्रों को । इस प्रकार बताने पर भी इस पुण्य दिवस पर केवल शैव ही इस शिवरात्रि व्रत का अनुष्ठान करते हैं, रामानुज सम्प्रदाय के लोग नहीं करते । इसलिए "रात्रिः····कश्चित्" इस वाक्य के सामान्यतया सभी व्यक्तियों के नेत्रों को निमित बना कर कहे जाने पर भी केवल शैव सम्प्रदाय के लोगों के नेत्रों में ही अन्वित हो पाता है । इसलिये इस वाक्य के अर्थ में विवश होकर अर्थ का संकोच करना पड़ता है । इसी प्रकार गौतम स्मृति में बताये गये मन्त्र, ध्यान, लिंगधारण, शिखा, भस्म और रुद्राक्ष ये छः प्रतीक (चिह्न) केवल वीरशैवों के मुख्य प्रतीक हैं, ऐसा विशेषार्थ बताने के लिये ही प्रयुक्त हैं, ऐसा निश्चय हो जाता है । इसलिये यहाँ पर अर्थ का संकोच करना ही पड़ता है । अर्थ-संकोच को स्वीकार न करने पर यह वाक्य व्यर्थ साबित हो जाता है । इसलिये वाक्य की व्यर्थता को ध्यान में रख कर इस वाक्य की सार्थकता के लिये अर्थ-संकोच करने की अनुमति पूर्वाचार्यों ने दी है ।

आक्षेप—ऐसा कैसे हो सकता है ? अर्थात् ऐसा मान लेने पर इस स्मृति में "इति ब्राह्मणलक्षणम्" यहाँ 'ब्राह्मण' ऐसा सामान्य पद है, न कि वीरशैव

नन्वेमपि लिङ्गाङ्गिब्राह्मणोद्देशेन मन्त्रध्यानादिषड्विध-धर्मसमुदायस्य लक्षणकरणे तथाविधक्षत्रियादावतिप्रसक्त-मिति चेन्न, इति ब्राह्मणलक्षणमिति वाक्यानुरोधेन ब्राह्मणत्वे

यायिनो न मन्यन्ते, वाक्यविशेषादाग्रहाद् वा। एवमेव लिङ्गधारणविधिरपि लिङ्गधारिब्राह्मणविषयको मन्तव्यः। वस्तुतस्त्वविहितकर्मणामसङ्कोचेऽपि

ब्राह्मण। केवल वीरशैवों में अन्वय बताने वाला कोई विशेष वाक्य नहीं दीख रहा। तब जिद से अर्थ-संकोच करके यह स्मृति वीरशैव ब्राह्मणों के लक्षण को बताने के लिये प्रवृत्त है, ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—पूर्वापर वाक्यों के अभिप्राय का पूर्णतया विचार करने के कारण भले ही सन्देह हो जाय, लेकिन वास्तविकता का अन्वेषण कर विचार करने पर सन्देहों को स्थान ही नहीं मिलता। जैसे कि इस स्मृति में वैष्णव, शैव, वीरशैव के बोधक पद न होने पर भी बीच में ''मस्तके लिङ्गधारणम्'' ऐसा एक विशेष वाक्य है, अतः ''इति ब्राह्मणलक्षणम्'' इस अन्तिम वाक्य का वीरशैव ही अर्थ करना पड़ेगा। वैष्णव, शैव, द्विज ऐसा अर्थ करने का अवकाश न होने से, अर्थ-संकोच न करने पर भी यह वाक्य अनायास उस गौतम वाक्य के अनुरूप लिंगधारक ब्राह्मणों के लक्षण को ही बता रहा है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये।

शंका—ठीक ही है, यह गौतम स्मृति लिंगधारक ब्राह्मणों के लक्षण को ही बता रही है, ऐसा स्वीकार करते हैं। लेकिन इस मन्त्र में आये हुए मन्त्र, ध्यान, लिंगधारण, शिखा, भस्म और रुद्राक्ष—ये छः धर्म लिंगधारी द्विजों में जैसे दीखते हैं, वैसे ही अन्य लिंगधारी क्षत्रिय आदि में भी दीखते हैं। क्योंकि—''भगवान् शिव की आज्ञा का पालन करने के लिये शिवव्रत को धारण करनेवाले शिवभक्तों को शिवलिंग, रुद्राक्ष, भस्म आदि प्रतीकों को धारण करना चाहिये। राजा की आज्ञा की अवहेलना करने पर जैसे व्यक्ति दण्डनीय हो जाता है, वैसे ही भगवान् शिव की आज्ञा का उल्लंघन करने पर नरक रूप शिक्षा का पात्र बन जाता है''। इस प्रकार शिव-सिद्धान्त में कहने के कारण अतिवर्णाश्रमी कहे जाने वाले वीरशैव मत के सभी अनुयायी इन छः प्रतीकों को धारण करे, ऐसा जब स्पष्ट हो जाता है, तब द्विज मात्र इन छः चिह्नों को धारण करे, ऐसा बताने वाला गौतम स्मृति का लक्षण अतिव्याप्ति नामक दोष से दुष्ट क्यों न माना जाय ?

सति षड्विधधर्मवत्त्वं लिङ्गाङ्गब्राह्मणानां लक्षणमित्यत्र तात्पर्यावसायादिति ।

श्राद्धादिवैधुर्यादिना कैश्चिदननुष्ठानेऽपि विधीनां काचित् क्षतिर्न भवति । इह सङ्कोचोक्तिस्त्वभ्युपगमवादेन ।

समाधान—इस गौतम वाक्य में "इति ब्राह्मणलक्षणम्" ऐसा एक विशेष पद होने से ब्राह्मणत्व रूप जाति से युक्त मन्त्र, ध्यान आदि छः धर्म लिंगधारी ब्राह्मण में ही दीखते हैं। लिंगधारी क्षत्रियादि में ब्राह्मणत्व रूप जाति से विशिष्ट धर्म नहीं दीखते। अतः यह लक्षण सल्लक्षण ही है। इसलिये यह कभी भी अलक्षण नहीं बन सकता है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

"ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता और गौतम आदि ऋषि शिवलिंग को अपने उत्तम अंगों में धारण करके निरन्तर पूजा करने के कारण ब्रह्म एवं इन्द्रादि पदों को पाकर लोक में सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त कर चुके हैं"। इस प्रकार स्कन्दपुराण लिंगधारण की महिमा को बता रहा है। और भी—

"हे परशिव ! देवता कहे जाने वाले हम लोग माया से आवृत हो जाने से पशु हो गये हैं। आप तो सबके नियामक होने से पशुपति हैं। आदि देवता भगवान् शिव की स्तुति करते हुए सबके सब शिवलिंग, विभूति और रुद्राक्ष को धारण करके पशुपति की आराधना करते हैं, इसलिये पाशुपत कहे जाते हैं'। इस प्रकार लिंगपुराण में व्यास आदि महर्षि लोग लिंगधारण की महिमा का मुक्तकण्ठ से गुणगान करते हैं, अतः "मुखे····लक्षणम्" यह गौतम स्मृति ऋक् आदि वेदों से सिद्ध लिंगधारण का अनुवाद कर रही है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

शंका—वेद ईश्वर से उच्चरित होने से अपौरुषेय कहे जाते हैं और स्मृतियाँ एक एक महर्षि से कहे जाने के कारण वेद की तरह अपौरुषेय नहीं हैं। इसलिये इस प्रकार ऋषि-प्रोक्त होने से इन स्मृतियों के द्वारा लिंगधारण की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आस्तिक भारतीय श्रुतियों को जितना प्रामाणिक मानते हैं, स्मृतियों को भी उतना ही प्रामाणिक मानते हैं। श्रुतियों की वाणी के अस्पष्ट होने से हम आसानी से उन मन्त्रों का अर्थ समझ नहीं सकते, अतः महान् तपस्वियों के रूप में मान्यताप्राप्त मनु, पराशर, गौतम

तत्रैव—"अक्षपादादयः सर्वे शक्त(ऋष)यः परया मुदा। धारयन्त्यलिकाग्रेषु शिवलिङ्गमहर्निशम् ।।" इति, मनुस्मृतौ—"सर्वकर्मविमुक्तस्य ध्यानयोगरतस्य च। न तस्य

ध्यानयोगरतस्य दहनादिकनिषेधतास्मृतिवाक्येनापि लिङ्गधारणं सिद्धं भवतीत्याह—सर्वकर्मविमुक्तस्येत्यादि। कोऽसौ ध्यानयोगरत इत्याकाङ्क्षायां

आदि महर्षियों ने उन निगूढ वेदों का अर्थ स्मृतियों के नाम से लिखा है। इस विषय में सभी पूर्वाचार्य अपनी स्वीकृति दे चुके हैं। महाकवि कालिदास का प्रयोग भी हम लोगों को मदद देता है। इस महाकवि के रघुवंश महाकाव्य में महाराजा दिलीप पुत्र की कामना से अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ के पास जाकर अपने परलोक के प्रतिबन्धक कर्मों को जानने की इच्छा करते हैं, तब वह त्रिकालज्ञ महर्षि अपनी दिव्यदृष्टि से इनको जानकर उस राजा को गोसेवा के निमित्त नियुक्त करते हैं। उस समय वह महाराजा अपने राज्य का सारा भार मन्त्रियों को सौंप कर मात्र वनजीवन (ऋषिजीवन) का आलम्बन करके अपनी धर्मपत्नी के साथ नन्दिनी नामक धेनु की सेवा किस प्रकार करते हैं, उसको बताने के सन्दर्भ में—"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" ऐसा बताया है। इसका यह अभिप्राय है कि ऋक् आदि वेदों के अर्थ का मनु, पराशर, गौतम आदि स्मृतियाँ जैसे अनुसरण करती हैं, वैसे ही राजा दिलीप की सहधर्मचारिणी सुदक्षिणा नन्दिनी के पीछे पीछे जा रही है। इस सुन्दर दृष्टान्त से यह सिद्ध हो जाता है कि स्मृति-वाक्य श्रुति के आधार से निकले हैं। अतः श्रुति के समान स्मृति को भी प्रामाणिक मानने में कोई सन्देह नहीं है। यह गौतम स्मृति वीरशैव मत की मुक्ति के साधनस्वरूप मन्त्र, ध्यान, शिखा, भस्म, रुद्राक्ष और लिंगधारण इन छः धर्मों को सामान्यतया दिखाती है। इसके अतिरिक्त मुक्ति के मुख्य कारण, परम उपादेय, सभी कालों में धारण करने योग्य, नित्य पूजनीय शिवलिंग को जीवनकाल पर्यन्त धारणीय रूप महाव्रत का निर्देश करने के लिये प्रवृत्त है।

"गौतम, दुर्वासा, अगस्त्य, वशिष्ठ, वामदेव आदि महर्षिगण, सरस्वती लक्ष्मी और शची आदि शक्तियाँ मुक्तिके बीजस्वरूप शिवलिंग को हमेशा परम भक्ति से धारण करते हैं"। ऐसा उसी गौतम स्मृति में लिंगधारण का अलग से भी विधान बताया है, अतः लिंगधारण जीवनकाल पर्यन्त कर्तव्य है, शेष (इसके

दहनं कार्यं न च पिण्डोदकक्रिया ।।" इत्यत्र समुच्चयद्योतक-चकारसत्त्वेन ध्यानयोगरतसर्वकर्मविमुक्तयोः प्राधान्येनोद्देश्य-त्वात् कोऽसौ ध्यानयोगरत इत्याकाङ्क्षायाम्—"शिव-ध्यानरतो भूत्वा शिवलिङ्गाङ्गसंयुतः । शिवेतरपरित्यागी ध्यानयोगी स उच्यते ।। यथा बाह्ये शिवं ध्यात्वा पूजां कुर्वन्ति मानवाः । तथा हृदि प्रसन्नश्चेद् ध्यानयोगी स उच्यते ।।" इति तत्रैवोक्तत्वेन सर्वकर्मविमुक्तपदोपस्थाप्ययतीश्वरं ध्यान-योगिपदोपस्थाप्यलिङ्गधारिणं चोद्दिश्य दहनाभावादिविधानेन लिङ्गधारणसिद्धिः । बोधायनस्मृतौ—"सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च । न तस्य दहनं कुर्यान्नाशौचं नोदक-

---

स्मृतिस्थमेव ध्यानयोगरतलक्षणं दर्शयति—शिवध्यानरतो भूत्वा शिव-लिङ्गाङ्गसंयुतः । शिवेतरपरित्यागी ध्यानयोगी स उच्यते ।। इति । अनेनैव प्रकारेण—"सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च" इति बोधायनस्मृतेः,

अतिरिक्त) मन्त्र, ध्यान, भस्म और रुद्राक्ष आदि इस लिंगधारण नामक महाव्रत के अंगभूत हैं, ऐसा स्पष्ट हो जाता है ।

इसी प्रकार मनुस्मृति में भी बताया गया है— 'सभी प्रकार की आसक्ति का परित्याग किये हुए संन्यासी और ध्यानयोगासक्त महात्मा—इन दोनों के मर जाने पर इनके स्थूल शरीर को जलाना नहीं चाहिये और उन मरे हुए लोगों के निमित्त पिण्डोदक आदि अपर कर्म नहीं करने चाहिये ।" इस श्लोक के "ध्यान-योगरतस्य च" इस वाक्य का लिंगधारी ऐसा अर्थ करना चाहिये, क्योंकि उसी मनुस्मृति में—"जो अपने देह में शिवलिंग को धारण करके निरन्तर शिव का ध्यान करते हुए भगवान् शिव ही उपास्य देव हैं, ऐसा निश्चय करके मात्र शिव को ही अपना सर्वस्व समझता है, वही शिवयोगी नाम से पुकारा जाता है" । ऐसा कहने से ध्यानयोगी पद लिंगांगिस्वरूप व्यक्ति के निमित्त से बताया गया है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है ।

इसी प्रकार बोधायन स्मृति में भी कहा गया है । मनुस्मृति में प्रयुक्त "ध्यानयोगरतस्य च" यह वाक्य यहाँ पर भी आने से मनुस्मृति में जैसे लिंग-धारण परक अर्थ निश्चित किया गया है, वैसा ही यहाँ पर भी निश्चित कर लेना चाहिये । यही अर्थ यहाँ न्यायसंगत भी है ।

क्रिया ।।" इत्यत्रापि ध्यानयोगरत इत्यनेनोक्तदिशा लिङ्ग-धारणसिद्धिः । शातातपस्मृतौ—"वानप्रस्थं योगिनं च लिङ्गैक्यं भिक्षुकं यतिम् । तुर्याश्रमाणां मध्ये च रसायां निक्षिपेन्मृतम् ।।" इत्यत्र लिङ्गधारणमुद्दिश्य खननविधाना-दुद्देश्यविशेषणत्वेन लिङ्गधारणसिद्धिरिति ।

नन्वनेनोदाहृतश्रुतिस्मृतिकदम्बेन लिङ्गधारणतत्पूजादे-र्नित्यत्वेन स्त्रीबालसाधारण्येन यावज्जीवभावित्वमभिहितम्, तदनुपपन्नम्, दर्शनस्पर्शनसम्भाषणाद्ययोग्यानां रजस्वलानां सूतिकास्त्रीणां च धारणपूजादेरत्यन्तविरुद्धत्वात् । यदि तत्र

"वानप्रस्थं योगिनं च लिङ्गैक्यं भिक्षुकं यतिम्" इति शातातपस्मृतेश्च तत्साध-कत्वं बोध्यम् । लिङ्गैक्यं तीव्रध्यानाभियोगेन लिङ्गमयताप्राप्तिम् । स्त्रीबाला-दिसाधारण्येन लिङ्गधारणस्य नित्यत्वे रजस्वलानामत्यन्ताशुचित्वप्राप्तानां

शातातप स्मृति में जो बताया गया है, वह इस प्रकार है—सभी प्रापंचिक व्यवहारों को पुत्र के जिम्मे छोड़कर, धर्मपत्नी के साथ जंगल में निवास करते हुए, कन्द-मूल-फल खाकर जीवन यापन करने वाले वानप्रस्थाश्रमी, योगी अथवा लिंगांगसामरस्य को प्राप्त हुए लिंगधारी और भिक्षुक संन्यासी द्वारा स्थूल शरीर को छोड़ देने के बाद उनके उस शरीर को जमीन में गाड़ देना चाहिये । यहाँ जलाने का निषेध किया गया है, क्योंकि साथ में लिंग रहने के कारण उसे जलाया नहीं जा सकता । इससे भी लिंगधारण की सिद्धि होती है ।

इस प्रकार अनेक स्मृतियों से वीरशैव मत में जन्म लिये हुए स्त्री व पुरुषों को अपने गुरु से दीक्षा लेकर शिवलिंग को निरन्तर जब तक शरीर रहता है, तब तक धारण करते हुए और प्रतिदिन पूजा करते हुए अपना समय बिताना चाहिये, ऐसा सिद्ध हो जाता है ।

शंका—वेद को मानने वाले भारतीयों के द्वारा रजःसूतक (मासिक धर्म से होनेवाला दोष) और जननसूतक स्वीकार किया गया है। इन दोनों में से रजः-सूतक महान् दोष है, ऐसा शास्त्रकारों ने निर्णय किया है। एक पुरानी कथा के अनुसार तीन मुखों से विशिष्ट विश्वरूप नामक व्यक्ति यज्ञ का आरम्भ करके उस यज्ञ में छिपा कर राक्षसों को हविर्भाग दिया करता था। इन्द्र इसकी कपट-वृत्ति

धारणपूजादिकं क्रियते, तदाऽशुचिशरीरसम्बन्धाल्लिङ्गस्याप्यशुचित्वप्राप्तौ पुनः स्नानानन्तरमपि पूजाद्यकरणतापत्तेः। नहि तदा लिङ्गस्य पुनः संस्कारः क्रियते, भवत्सिद्धान्तविरोधादिति।

किञ्च, "शैवान् पाशुपतांश्चैव लिङ्गिनं व्रतिनं तथा। विडालव्रतिनश्चैव पाषण्डान् परिवर्जयेत्॥ पाषण्डं पतितं व्रात्यं चक्रिणं लिङ्गधारिणम्। तथा देवलकं दृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत्॥ चक्रिणं लिङ्गिनं दृष्ट्वा सचैलं स्नानमाचरेत्। यस्तु सन्तप्तचक्रादिलिङ्गाङ्कितनुर्द्विजः॥ नाधि-

---

कथं कर्तव्यमित्याशङ्काम्, "शैवान् पाशुपतांश्चैव लिङ्गिनं व्रतिनं तथा" को जानकर इसको मार देता है। वह विश्वरूप ब्राह्मण था। अतः इन्द्र को ब्रह्महत्या का दोष लगा। उस दोष को चार भागों में विभाजित करके भूमि (जमीन), वृक्ष (पेड़), जल (पानी) और स्त्री इन चारों को एक एक भाग बाँट दिया गया। पृथिवी ने कहा कि जब मेरे ये सब गड्ढे भर जायेंगे, तब इस दोष को मैं ग्रहण करूँगी। वृक्ष ने कहा कि मेरी डालियाँ जितने बार भी कटे, आप उन डालियों को उगाने का वर मुझे दे सकेंगे, तो मैं इस दोष को ग्रहण करूँगा। पानी ने कहा कि मुझे जितना खर्च करे, उतना बढ़ते रहने का वर दे सकेंगे, तो मैं इस दोष को ग्रहण करूँगा। स्त्री ने कहा कि जब तक मैं प्रसव नहीं करूँगी, तब तक गर्भस्थ शिशु को किसी प्रकार की हानि न हो, ऐसा वर प्राप्त होने पर ही मैं उस दोष को स्वीकार करूँगी। सबने अभीष्ट वर प्राप्त होने पर उस दोष को स्वीकार कर लिया। इस ब्रह्महत्या का अंश ही आज भी सोड़ा, गोंद, फेन और मासिक धर्म के रूप में दीखता है। यह बात तैत्तिरीय संहिता और भागवत पुराण में स्पष्टतया बताई गई है। इसलिये यह रजःसूतक ब्रह्महत्या के दोष से सम्बद्ध होने से जब स्त्रियाँ रजस्वला हो जाती हैं, तब तीन दिन तक वे देवदर्शन, देवस्पर्शन और देवपूजन के योग्य नहीं रहतीं, ऐसा धर्मशास्त्र का विधान है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तो रजस्वला स्त्रियाँ परम पवित्र शिवलिंग को कैसे धारण कर सकेंगी और कैसे पूजा कर सकेंगी? उस अपवित्र काल में भी स्त्रियाँ यदि शिवलिंग को धारण करती हैं, उसकी पूजा करती हैं, तो उस अपवित्र शरीर के संबन्ध से शिवलिंग में रहने वाली शिवकला के चले जाने से शिवलिंग भी अशुद्ध

कारी स विज्ञेयः श्रौतस्मार्तादिकर्मसु । मुनेरन्नं न भोक्तव्यं योगिनां लिङ्गिनां तथा ।।'' इति शास्त्रनिषिद्धत्वाच्च लिङ्गधारणमकर्तव्यमेवेति पूर्वोदाहृतश्रुतिस्मृत्यादिकमन्तरानुसन्धानपरत्वेन यथाकथञ्चिद् योज्यमिति चेत्, मैवम्, ''न कर्मणा प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः''(तै०आ० १०।१०।३), ''नान्यत्र कर्मसन्त्यागान्मोक्षं विन्दन्ति मानवाः'' इत्यादिनाऽत्यन्ताभ्यर्हितमुख्यपुरुषार्थमुक्तिजनकत्वप्रतिपादनेऽपि—''न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'',''न मांसमश्नीयात्'',''नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैतत्तथान्तरा । न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ।।'' (२।५६) इत्यादिश्रुतिमनुस्मृतिभ्यां निषिद्धत्वेऽपि पशुविशसनमांसभक्षणसोमपानादेः प्रत्यक्ष-

---

इत्यादिलिङ्गधारणनिषेधश्च कथं समाधेय इत्याशङ्कां च क्रमेण समाधत्ते—मैवमित्यादिना ।

''न कर्मणा न प्रजया'', ''मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'', ''न मांसमश्नीयात्'' (तै० आ० १०।१०।१३) इत्यादिवाक्यैर्हिंसाया निषेधस्याग्नीषोमीयपश्वालम्भवाक्येन सङ्कोचवद् रजस्वलाऽशुचित्वबोधकवाक्यस्यापि

हो जायगा । अपि च, ''नाधिकारी स विज्ञेयः श्रौतस्मार्तादिकर्मसु'' अर्थात् लिंग को धारण किये हुए लोग श्रौत व स्मार्त कर्म करने के अधिकारी नहीं हैं, ऐसा अनेक प्रमाणों से अभी तक सिद्ध किया गया है । अतः लिंगधारण विषयक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ अन्तर्लिंगधारण को बताने वाली हो सकती हैं, न कि बहिर्लिंगधारण परक । अतः ये श्रुति-स्मृतियाँ बहिर्लिंगधारण परक अर्थ को कैसे बता सकती हैं ?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शास्त्र सामान्य-शास्त्र एवं विशेष-शास्त्र के भेद से दो प्रकार का है । इन दोनों में से विशेष-शास्त्र की दृष्टि से सामान्य-शास्त्र दुर्बल है, ऐसी शास्त्र की मर्यादा है । जैसे कि—''मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' (किसी प्राणी की हिंसा न करें), ''न मांसमश्नीयात्'' (मांस का भक्षण नहीं करना चाहिये), ''नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात्'' (जूठन किसी को न देवे), ''नाद्याच्चैतत् तथान्तरा'' (जूठन को कोई न खावे) इस प्रकार के श्रुतिवाक्य सामान्य

विरुद्धत्वेऽपि च ''सोमेन यजेत, सोमेनोच्छिष्टम्'', ''यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' इत्यादिविशेषवाक्यविहिततत्तद्धर्मकर्तव्यत्ववत् सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यादिनित्यविधिना लिङ्गधारणतत्पूजादेर्यावज्जीवकर्तव्यत्वविधाने—''गृहे यस्मिन् प्रसूता स्त्री सूतकं नात्र विद्यते'' (९।४५), ''लिङ्गार्चनरतायाश्च ऋतौ नार्या न सूतकम्। तथा प्रसूतिकायाश्च सूतकं नैव विद्यते ॥'' (९।४४), ''लिङ्गार्चनरता नारी सूतकी तु रजस्वला ॥ रविरग्निर्यथा वायुः कोटिकोटिगुणः शुचिः। तद्धारणात् प्रमुञ्चन्ति युवतिं सूतकादयः ॥'' इति सिद्धान्तशिखा-

---

''लिङ्गार्चनरतायाश्च ऋतौ नार्या न सूतकम्'' इत्यादिवाक्यैः संकोचान्न काप्यनुपपत्तिः। अन्येऽपि बहवोऽशौचसङ्कोचा धर्मशास्त्रे सन्तीति

वाक्य हैं। ''सोमेन यजेत, सोमेनोच्छिष्टम्, यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' (सोमयाग से सम्बद्ध उच्छिष्ट का भक्षण करे, यज्ञ में संस्कार किये हुए पशु का वध करे) इस प्रकार का वाक्य विशेष वाक्य कहा जाता है। ये दोनों श्रुतियाँ एक दूसरे की विरोधी होने से किस वाक्य को प्रामाणिक माना जाय, इस प्रकार का सन्देह होने पर जो विशेष वाक्य है, वह सामान्य वाक्यों को दुर्बल बना देता है, इस प्रमाण के अनुसार यज्ञ से सम्बद्ध पशुबलि एवं सोमयाग सम्बन्धी उच्छिष्ट-भक्षण का विधान करने वाला विशेष वाक्य जहाँ प्रवृत्त होता है, वहाँ किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये और उच्छिष्ट का भक्षण न करे, ऐसा विधान करने वाला सामान्य वाक्य प्रवृत्त नहीं होगा, ऐसा मीमांसाशास्त्र का नियम है। इसी प्रकार ''सर्वलिङ्गं स्थापयति'' इस प्रकार के श्रुति वाक्यों में शिवलिंग को निरन्तर धारण करना चाहिये और शिवलिंग की पूजा प्रतिदिन करनी चाहिये, ऐसा विशेष विधान किया गया है। इसलिये बीच में कभी लिंगधारण और पूजा के लिये प्रतिबन्धक रजःसूतक आदि के प्राप्त होने पर भी शिवलिंग को देह से अलग नहीं करना चाहिये और जीवनकाल पर्यन्त लिंग की पूजा करते रहना चाहिये। इस सन्दर्भ में—''लिंगधारण की हुई स्त्रियाँ मासिक धर्म से विशिष्ट होने पर अथवा प्रसव करने पर भी अपने को अशुचि न समझ कर यथावत् लिंगधारण करती हुई स्नान से परिशुद्ध होकर लिंग की पूजा करती रहें। लिंगधारण और लिंगपूजा

मणिवीरागमवचनेन, "यथा ह्यग्निसमावेशान्नायो भवति केवलम् । तथैव मम सान्निध्यान्न ते प्रकृतिमानुषाः ।। तैलयुक्तं तु कार्पासं ज्योतिस्पर्शात् तथैव तत् । स्नेह-युक्तस्य सद्भक्तेर्लिङ्गस्पर्शेन लिङ्गता ।।" इति पद्मपुराण-शिवरहस्यवचनानुरोधेन, "शैवं लिङ्गार्चनं यस्य यस्य चाग्नि-परिग्रहः । वानप्रस्थयतीनां च शरीरे नास्ति सूतकम् ।।" इति पराशरस्मृत्यनुसारेण च रजस्वलादिस्त्रीणां धारणपूजादि-

---

दृष्टान्तार्थमेव दर्शयति—पौण्डरीकदीर्घसत्र-दीक्षितकन्यामृतुमतीं पैत्रक-श्राद्धादाविति च । अत्र षडशीतिवाक्येषु सूतकात् प्राक् समारब्धमिदमेव वाक्यम् । प्रकृतोपयोगिलिङ्गधारणव्रतस्य यावज्जीवकर्तव्यतया सङ्कल्पित-त्वेन प्रारब्धत्वात् "सङ्कल्पो व्रतसत्रयोः" इत्यनेन तादृशसङ्कल्पस्य प्रारम्भरूपतया बोधितत्वात् । नायो भवतीति । यथा अग्नौ प्रवेशाल्लोह-

के विषय में रजस्वला आदि सूतकों से युक्त होने पर भी उनको जीवनकालीन कर्तव्य स्वरूप लिंगधारण और लिंगपूजा को नहीं छोड़ना चाहिये" ऐसा श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य कहते हैं । इनके अतिरिक्त अनेक शिवागमों में भी इस बात की पुष्टि की गई है । इसलिये सामान्य रूप से धर्मशास्त्रों में विधान किया हुआ अशौच निर्णय ऊपर के विशेष वाक्यों से दुर्बल एवं खण्डित हो जाता है ।

"आंच में जलाया हुआ लोहा मात्र लोहे के स्वभाव में न रह कर अन्दर और बाहर जैसे अग्निमय हो जाता है, वैसे ही शिवलिंग से युक्त मनुष्य मात्र मनुष्य न रह कर शिवस्वरूप हो जाता है । तेल में भीगी हुई बत्ती जब जलती है, तब वह अन्दर और बाहर से जैसे ज्योतिस्वरूप दीखती है, वैसे ही शिव-भक्ति स्वरूप तेल में भीगा हुआ शिवभक्त लिंगरूपी अग्नि के सम्बन्ध से लिंगस्वरूप होकर दीखेगा, न कि प्राकृत पुरुष की तरह" । इस प्रकार लिंगपुराण, शिवरहस्य आदि अनेक ग्रन्थ इस अभिप्राय का समर्थन कर रहे हैं । और भी—"जो लिंग की अर्चना में आसक्त हैं और जो अग्निदेव की आराधना करते हुए आहिताग्नि कहे जाते हैं, जो राज्य और राज्यलक्ष्मी को छोड़कर जंगल में निवास कर रहे हैं और जो सर्वसंग परित्याग कर संन्यासी हो गये हैं, ऐसे लोगों के शरीर में सूतक आदि कोई दोष नहीं रह सकते" इस प्रकार पराशरस्मृतिकार कहते हैं । इसलिये वीरशैव

करणे विरोधाभावात् । किञ्च, पौण्डरीकादिदीर्घसत्रदीक्षितयज्वपत्न्यास्तथाविधदीक्षाविषये रजस्वलाद्यशौचानामपवादकत्वाभाववद्यज्वनोऽपि तादृशदीक्षाविषये जाताऽशौचादीनामपवादकत्वाभाववच्च । द्रव्याभावेन प्रतिबन्धकान्तरवशेन वा द्वादशवत्सरपर्यन्तमविवाहितकन्याविवाहप्रसक्तौ माङ्गल्यतन्तुधारणाद्यनन्तरं होमकाले प्राप्ते कन्यकायास्तदानीम् ऋतुमतीत्वे दृष्टे वा श्रुते वा याज्ञिकाः किं कुर्वन्तीति

पिण्डं केवलं साधारणमयो न भवति, अर्थात् तत्कालेऽग्निमयं भवतीत्यर्थः । एवं सदाशिवस्य सान्निध्यात् ते लिङ्गधारिणः प्राकृतमनुष्या न भवन्तीत्यर्थः ।

दीक्षा को लेकर लिंगधारण की हुई स्त्रियाँ रजस्वजा आदि सूतकों से युक्त होने पर भी अपने देह में धारण किये हुए शिवलिंग को अलग नहीं कर सकतीं और दैनंदिन पूजा को भी नहीं छोड़ सकतीं ।

इस विषय पर अनेक दृष्टान्त हैं । पूर्वमीमांसा में पौण्डरीक आदि अनन्त यागों के स्वरूप का वर्णन किया गया है । उन यागों में कुछ याग तात्कालिक याग हैं और कुछ याग बहुत दिनों तक किये जाने वाले होते हैं । इस प्रकार के पौण्डरीक, वाजपेय आदि बहुत दिनों तक चलने वाले यागों को करने के लिये यजमान अपनी पत्नी के साथ यज्ञ की दीक्षा लेकर यज्ञ का आरम्भ करता है । इस यज्ञ की समाप्ति के बीच में यजमान की पत्नी के रजस्वला होने पर भी आरम्भ किये हुए उस यज्ञ को रोका नहीं जाता और संकल्प किये गये उस दीर्घ यज्ञ का सम्पादन करने में सूतक दोष नहीं होता, ऐसा शास्त्रों के आधार पर माना जाता है । उस प्रकार शिवदीक्षा संस्कार को प्राप्त किये हुए वीरशैव सम्प्रदाय के स्त्रीपुरुष जीवनकाल पर्यन्त लिंगधारण एवं लिंगाराधन नामक महायाग का आरम्भ करने के बाद बीच में किसी प्रकार का सूतक प्राप्त होने पर भी लिंग का परित्याग नहीं कर सकते और स्नान से शुद्ध होकर पूजा कर सकते हैं, ऐसा सिद्ध हो जाता है । इस विषय में यहाँ इस आशय के समर्थक अनेक प्रमाणों को दिखाया गया है ।

धर्मशास्त्रों में लड़कियों के रजस्वला होने से पहले ही शादी कर लेने का विधान है । ऐसा न करने पर, उसके घर पर रजस्वला हो जाने को दोषयुक्त

तात्पर्येण—"विवाहे वितते तन्त्रे होमकाल उपस्थिते । कन्यामृतुमतीं दृष्ट्वा कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ।।" इति प्रश्ने—"हविष्मतीरिमा आपो हविष्मान् देवो अध्वरः" (तै० सं० १।३।१२।१) इति मन्त्रेण कन्यकां स्नापयित्वा नववस्त्राभ्यामलङ्कृत्य "युञ्जानः प्रथमं मनः" (तै० सं० ४।१।१।१) इति द्वे आहुती जुहुयादिति भट्टीये विवाहखण्डे प्रतिपादितत्वेन तत्र रजस्वलाशौचस्य विवाहदीक्षापवादकत्वाभाववचच । पैतृकश्राद्धादौ पितृत्वेनावाहितब्राह्मणानां दक्षिणाप्रदानानन्तरजाताऽशौचादिश्रवणे तादृशदीक्षाविषये जाताऽशौचादेरपवादकत्वाभाववचच ।

"तनुत्रयगतानादिमलत्रयमसौ गुरुः । दीक्षात्रयेण निर्दग्ध्वा लिङ्गत्रयमुपादिशत् ।। यावज्जीवमिदं लिङ्गं शरीरान्न

तनुत्रयगतानामिति । कारणशरीर-लिङ्गशरीर-स्थूलशरीरगतं मलत्रयमाधारत्रित्वाद् त्रिविधम् । कायिक-वाचिक-मानसिकरूपपापत्रयम् । निर्दग्ध्वेति ल्यब्भाव आर्षः ।

माना गया है । किसी कारणवश, पिता की गरीबी के कारण अथवा अन्य किसी कारणान्तर से बारह साल के अन्दर-अन्दर विवाह न किये जाने पर और रजस्वला हो जाने के उपरान्त सभी सुविधाएँ प्राप्त हो जाने से विवाह करने का निश्चय करने पर उस विवाह से सम्बद्ध कुछ पूर्वांगों को कर लेने के बाद वह युवती यदि रजस्वला हो जाती है, तो विवाह के अंगस्वरूप अवशिष्ट होम आदि कर्म करना चाहिये या नहीं ? इस प्रकार का संशय उपस्थित होने पर पहले ऋतुमती कन्या को "हविष्मतीरिमा आपो हविष्मान् देवो अध्वरः" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्नान कराकर शुद्ध वस्त्रों से अलंकृत करके अग्निदेव के सामने बिठा कर—"युञ्जानः प्रथमं मनः" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उस कन्या से दो बार आहुति दिलानी चाहिये, इस प्रकार भाट्टीय विवाह खण्ड में निर्णय किया गया है । इससे विवाह दीक्षा को प्राप्त कर लेने के बाद बीच में रजस्वला आदि अशौच के प्राप्त होने पर भी उस कर्म को न रोक कर पूर्ण करने में अपावित्र्य की कल्पना नहीं की जाती ।

वियोजय ॥" इति गुरुकृतलिङ्गधारणदीक्षायाः, "नित्यं स्ववामहस्ताग्रे सावधानेन पूजयेत्" इति तत्पूजादीक्षायाश्च यावज्जीवभावित्वेन तादृशदीक्षाविषये रजस्वलाद्यशौचाना-मपवादकत्वाभावस्याभ्युपेतव्यत्वात् । अत एवाशौचनिर्णयार्थं प्रवृत्तषडशीतिस्मृतौ कौशिकादित्येन—"प्रेतकार्यनिवृत्तानां पतितानां च पैतृके । भूमिरक्षणकृत्येषु राज्ञस्तत्प्रेषितस्य च ॥ जन्मप्रभृतिपापानां विनाशे विचरिष्यतः । प्रेतकार्याधिकारार्थं कर्मण्यपि च पैतृके ॥ उत्क्रान्तिवैतरण्योश्च दाने प्रेतोदकस्य च । एवंविधानामन्येषां नाशौचं न च सूतकम् ॥ कर्तव्या-न्येव कर्माणि यथा पुण्यस्तथैव सः । सूतकात् प्राक् समारब्ध-मनेकाहं तु यद् व्रतम् ॥ कायिकं तत्प्रकुर्वीत न तु दानार्चनं जपम् । वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणः शुचयो मताः । इतरेऽपि समारब्धकर्माणः शुचयः सदा ॥" इत्यादिना समारब्धव्रत-कर्मणां मध्ये जाताऽशौचादिप्रसक्तावपि तत्तत्कर्माणि कर्तव्यान्येवेत्युक्त्वा कस्य कर्मणः को वा प्रारम्भ इत्य-पेक्षायाम्—"प्रारम्भो वरणं यज्ञे सङ्कल्पो व्रतसत्रयोः । नान्दीमुखं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिग्रहः ॥" इत्युक्तम् ।

प्रेतकार्यनिवृत्तानामित्यादि स्पष्टम् ।

लिंगपुराण के वचन के अनुसार श्रीगुरु स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बद्ध कार्मिक, मायीय और आणव नामक तीन प्रकार के मलों को क्रिया, वेधा और मनु नामक तीन प्रकार की दीक्षाओं से निवारण करके क्रमशः इष्ट, प्राण और भाव नामक तीन लिंगों को धारण कराते समय कहते हैं कि हे शिष्य ! इस लिंग को तुम्हारा शरीर जब तक रहता है, तब तक उससे अलग न करना और प्रतिदिन स्नान से शुद्ध होकर बायें हाथ पर रख कर नियम के अनुसार पूजा करना ।

इस विषय में धर्मशास्त्रों में और भी विचार किया गया है । धर्मशास्त्र के वाक्यों के आधार पर गृहयज्ञ आदि करते समय ऋत्विजों को वरणी देना ही पहला कार्य माना जाता है । चान्द्रायण, तीर्थयात्रा, लिंगधारण और लिंगपूजा आदि व्रतों में और पौण्डरीक आदि दीर्घ यागों में संकल्प करना ही प्रथम कार्य है ।

तस्य चायमर्थः—यज्ञे गृहयज्ञादौ ऋत्विग्वरणं प्रारम्भः, व्रते चान्द्रायणतीर्थयात्रालिङ्गधारणपूजादौ, सत्रे पौण्डरीकादि-दीर्घसत्रे संकल्पः प्रारम्भः, नान्दीमुखं विवाहादिकर्मणि, श्राद्धे पाकक्रिया प्रारम्भः। तत्तत्कर्मणामेतादृशप्रारम्भानन्तर-मशौचेऽपि कर्तव्यत्वमेवेति। एवं च—"लिङ्गधारणकं नाम व्रतं माहेश्वराभिधम्। यावज्जीवमिदं दत्तमिष्टलिङ्गं समर्चयेत्॥" इत्यादिस्कन्दपुराणोक्तरीत्या लिङ्गधारणतत्पूजा-व्रतस्यापि गुरुकृतदीक्षासमये यावज्जीवभावित्वेन संकल्प-करणादान्तरालिकाशौचादिप्रसक्तावपि कर्तव्यमेवेत्यङ्गी-करणीयम्। रजस्वलानां धारणाद्यंशे परिशुद्धत्वे कर्मान्तरेऽपि परिशुद्धिः स्यादिति तुल्यम्।

विवाह आदि कार्यों में नान्दीमुख ही प्रथम कार्य हैं। श्राद्धादि कर्मों में पाकपरिग्रह ही प्रथम कार्य है। इस प्रकार उन उन कर्मों को आरम्भ करने के बाद बीच में किसी प्रकार के सूतक के प्राप्त होने पर भी आरम्भ किये हुए किसी भी कार्य को रोका नहीं जाता। पितृश्राद्ध आदि में ब्राह्मणों को बुला कर वरणी देने के बाद किसी अशौच आदि की बात सुने जाने पर भी कार्य का आरम्भ हो जाने से बीच में उस प्रकार के किसी दोष को नहीं माना जाता। इसलिये आरम्भ किये हुए उस कार्य को संशय रहित होकर समाप्त कर लेना चाहिये, ऐसा धर्मशास्त्र-कारों का निर्णय है।

इसी प्रकार स्कन्द आदि महापुराण भी इसी अर्थ का अनुवाद कर रहे हैं। श्रीरेणुक भगवत्पादाचार्य लिंगधारण स्थल में श्रीगुरु शिष्य को शिवदीक्षा से संस्कृत करके उस शिष्य के प्राण का लिंग में समावेश करके और उस लिंग का प्राण में समावेश करके शिष्य पर शिवलिंग-प्रदान का अनुग्रह करते हुए कहते हैं कि हे शिष्य ! यह शिवलिंग जीवनकाल पर्यन्त तुम्हारे शरीर से अलग नहीं होना चाहिये इस लिंग की प्रतिदिन पूजा करते रहना। प्रमाद से इस लिंग के तुम्हारे शरीर से अलग हो जाने पर प्राण तक छोड़ देने के लिये तैयार रहना। इसलिये लिंगधारण और लिंगपूजा रूप इस महाव्रत का देह जब तक रहता है, तब तक आचरण करना है, इस बीच में किसी प्रकार का सूतक आ जाने पर भी गुरु के

केचित्तु दन्तधावनगण्डूषजलादिना पवित्रीकृतमुखस्य मन्त्रोच्चारणादौ शुद्धत्वेऽप्यन्यशरीरनिष्ठोवनादावपरिशुद्धत्ववद् धारणपूजादिविषये परिशुद्धत्वेऽपि कार्यान्तरे तदभाव इति प्राहुः।

यदुक्तम् — अशुचिशरीरसम्बन्धाल्लिङ्गस्याप्यशुचित्वमिति, तदत्यन्तारमणीयम्। यद्यप्यत्र पूर्वोदाहृतपराशरस्मृतिसिद्धान्तशिखामण्यादिवचनरीत्या धारणाद्यंशे शरीरस्याशुचित्वाभावेन तत्सम्पर्काल्लिङ्गस्य तथात्वं दूरापास्तमेव, तथाप्यभ्युपेत्यवादेन निराक्रियते—तत्राऽशुचिशरीरसम्पर्काल्लिङ्गाधिष्ठितचित्कलास्वरूपपरशिवस्याशुद्धिरापद्यते, उत तच्छरीरभूतलिङ्गस्य ? नाद्यः, "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं

यदुक्तम्—अशुचिशरीरसंबन्धादित्यादि। अयमेतत्समाधानग्रन्थस्याशयः—प्रथमं त्वेतन्मते परवैराग्यप्राप्तसंन्यस्तशरीरवद् वास्तविकशिवमयत्वप्राप्तशरीरस्याशुचित्वमेव नास्ति। मतान्तरालम्बनेन तच्छरीस्याशुचित्वा-

द्वारा किया हुआ संस्कार अथवा लिंग में रहने वाली शिवकला कभी नष्ट न होकर स्थिर रूप से जैसी की तैसी रहती है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

शंका—ऐसा मान लेने पर यह भी मानना होगा कि सूतक आदि दोषों से युक्त होने पर जब तक सूतक की अवधि है, तब तक देह तो अपवित्र ही रहता है; इस प्रकार के अपवित्र देह में लिंग को धारण करने पर और उस अपवित्र देह से लिंग की पूजा किये जाने पर वह लिंग भी अपवित्र हो ही जाता है ?

समाधान—अभी पूर्व में बताये गये विशेष वाक्यों को प्रमाण वाक्य न मानने पर और दुर्बल सामान्य वाक्यों का स्थानसंकोच न करने पर सभी भागों में और सभी विषयों में सूतक दोष मान लेने पर यहाँ लिंगधारण सिद्धान्त का विरोध होगा ही, युक्ति और शास्त्र की भी एकता नहीं हो सकेगी। यहाँ अपवित्र शरीर के सम्बन्ध से पंचावयवों से निर्मित शिवलिंग के आश्रय में रहने वाले चित्कलाविशिष्ट शिव ही अपवित्र होते हैं ? अथवा उस परमात्मा भगवान् शिव का निवास स्थान स्वरूप मात्र शिवलिंग अपवित्र होता है ? ऐसे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। लिंग में रहने वाली शिवकला अपवित्र हो जाती है, ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि

निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वे० उ० ६।१९) इति, "तस्मात् सर्वगतः शिवः" (श्वे० उ० ३।११) इति च श्रुत्यवगमित-निरस्तसमस्तदोषलवकलङ्कस्य शुच्यशुचिवस्तुसाधारण्येन सर्वान्तर्यामिणः परमेश्वरस्याशुचिशरीरसम्पर्केण दोषा-पादनासम्भवात् । न द्वितीयः, अविभाज्यसम्बन्धेन निर्दुष्ट-परमेश्वराधिष्ठानभूतलिङ्गस्यापि तदापादनासम्भवात् । यदि मन्यसे क्रियादीक्षासमये पञ्चामृतपञ्चगव्यस्नानतत्तदधि-वासषडध्वशोधनकलाह्वानादिना लिङ्गे गुरुकृतसंस्कारस्या-शुचिशरीरसम्बन्धान्नाश इति, तर्हि तदपि कूर्मरमणीदुग्धपान-

---

भ्युपगमेऽपि तत्सम्बन्धाल्लिङ्गस्य तदधिष्ठातृशिवतत्त्वस्य चाशुचित्वं न सम्भवति। परमात्मनस्तावदशुद्धित्वोक्तिः पातकायैव भविष्यति। तद-

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्", "तस्मात् सर्वगतः शिवः" इस प्रकार की श्रुतियाँ उस परमशिव के निष्कल पापशून्य सर्वव्यापक रूप की स्तुति करती हैं। इसलिये जैसे सूर्य की किरणें शुचि-अशुचि आदि के भेद के बिना सभी पदार्थों के ऊपर समान रूप से पड़ने पर भी निर्लिप्त ही रहती हैं, वैसे ही सर्वव्यापक चित्कलाविशिष्ट परशिव को अपवित्र शरीर का सम्बन्ध अपवित्र नहीं बना सकता। देह में धारण किया जाने वाले इष्टलिंग और उसमें निवास करनेवाली शिवकला का अविभाज्य सम्बन्ध होने से जब शिव हमेशा पवित्र ही रहता है, तब उनका नित्य निवासस्वरूप इष्टलिंग भी सदा पवित्र ही रहेगा। इसलिये देह में धारित इष्टलिग की अपवित्रता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह बात न मानकर अपवित्र शरीर से सम्बद्ध होने से इष्टलिंग भी अपवित्र हो ही जाता है, ऐसी जिद (आग्रह) करना उचित नहीं है। लिंग को देह में धारण करने से पहले दीक्षा संस्कार तो करना ही है। इसके लिये पंचामृत और पंचगव्य आदि से शिलामय शिवलिंग को स्नान करा कर धान्याधिवास, क्षीराधिवास एवं षडध्वशोधन आदि से परिशुद्ध करके गुरु उस शिवलिंग में शिवकला की स्थापना करते हैं। इस प्रकार के सभी संस्कारों के रहते हुए वह शिवलिंग अपवित्र कैसे हो सकता है? यह माना जाय कि पहले किये गये संस्कारों का भी नाश हो जाता है, तो यह सब के लिये अनिष्टप्रद होगा।

मेवानुकरोति । तथाहि—क्रियेच्छादिस्वरूपस्याशुतरविनाशिनो यागस्य कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वान्यथानुपपत्त्या यज्वतत्पत्न्योर्यागजनितफलोदयपर्यन्तस्थायिनोऽपूर्वरूपसंस्कारस्यान्तरालिकजाताशौचरजस्वलाशौचादिनाश्यत्वाभाववत् प्रकृतेऽप्यध्वशोधनाधिवासादेराशुविनाशिनः—"संस्कृत्य गुरुणा

धिष्ठितलिङ्गस्याशुचित्वं वक्तुमशक्यम्, परमात्माभेदाध्यवसायात् षडध्व-

कोई व्यक्ति स्वर्ग की कामना से अपनी धर्मपत्नी के साथ ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करता है। वह यज्ञ क्रियारूप होने से, स्थूल कार्य होने से, कुछ दिनों में समाप्त हो जाता है। यज्ञ के समाप्त होते ही यजमान स्वर्ग नहीं जाता। कई साल तक यही रहता है। बाद में अपने स्थूल शरीर के साथ रहने वाले यागसंस्कार (अपूर्व) से सम्बद्ध यजमान की आत्मा स्वर्ग को प्राप्त कर लेती है। यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसा में निर्णीत है। यहाँ यज्ञ करने के बाद अनेक साल तक वह यजमान जीवित रहता है और बीच में कोई न कोई (जात-मृत आदि) सूतक आ जाता है। उस प्रकार के सूतक दोषों से उसके शरीर में रहने वाले स्वर्गसिद्धि के हेतुभूत यज्ञजन्य संस्कार नष्ट हो जाने चाहिये। तब भारी द्रव्य-व्यय एवं प्रयास से किया गया यज्ञ ही निष्फल हो जायगा। इससे यज्ञ के सम्पादक दोनों पति-पत्नियों को अपने जीवन काल में किसी प्रकार का सूतक आ जाने पर भी उस यज्ञ के संस्कार जब तक स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक सुस्थिर रहते हैं, ऐसा मानना होगा। उसी प्रकार यहाँ पर भी गुरु के द्वारा की गई शिवदीक्षा के नष्ट हो जाने पर भी उस दीक्षा का संस्कार शिवलिंग में स्थिर होकर रहता है। अंग शब्द वाच्य जीवात्मा को जब तक विदेहमुक्ति नहीं हो जाती, तब तक नित्य संकल्पित लिंगधारण, लिंगपूजा और लिंग के निमित्त किये जाने वाले निवेदन (भोग) आदि उपचारों से शिवलिंग में रहने वाली शिवकला भी अंकुर की तरह प्रतिदिन बढ़ती ही रहती है। अतः बीच में प्राप्त होने वाले रजस्वला आदि दोषों से शिवलिंग में रहने वाली शिवकला नष्ट नहीं होती, वह सुस्थिर होकर रहती है, ऐसा मानना होगा।

इस अभिप्राय के समर्थक और भी वाक्य हैं—"गुरु के द्वारा संस्कृत शिवलिंग को निरन्तर अपने बायें हाथ पर रखकर षोडश उपचारों से नियम के अनुसार

दत्तमिष्टलिङ्गमतन्द्रितः। नित्यं स्ववामहस्ताग्रे सावधानेन पूजयेत्॥'' इति वचनसिद्धलिङ्गसंयुक्ताङ्गविदेहमुक्तिपर्यन्तं नित्यसङ्कल्पितपूजानिवेदनादिप्रयोजकत्वासम्भवेन तेनापि लिङ्गे शक्तिरूपस्थायिसंस्कारजननेन तस्याप्यान्तरालिका-शौचादिमद्देहसम्पर्कादिना नाशासम्भवात्। यद्यतोऽपि नाशः कल्प्यते, तदा यज्वतत्पत्नीवृत्तिसंस्कारस्य गङ्गास्नानान्न-दानादिजनिततत्तत्संस्काराणां चान्तरालिकाशौचादिना नाशेन

शोधनादिजन्यसंस्कारोऽशुचित्वेन नश्यति, तेनापूज्यत्वमायातीत्यपि वक्तु-

पूजा करनी चाहिये'' ऐसी पूर्वाचार्यों ने आज्ञा दी हैं। इसलिये लिंगधारी मनुष्य का स्थूल देह जब तक रहेगा, तब तक उसे धारित लिंग की प्रतिदिन पूजा करनी चाहिये। बीच में पंचसूतकों में से किसी भी सूतक के प्राप्त होने पर नित्य संकल्पित लिंगधारण एवं लिंगपूजा रूपी महाव्रत का जीवनकाल पर्यन्त आचरण करने में कोई बाधा नहीं है।

इतना समझाने के बाद भी अपवित्र शरीर के सम्बन्ध से देह में रहनेवाला संस्कार नष्ट हो ही जाता है, ऐसा दुराग्रह लोक के अनुभव का विरोधी होगा। जैसे कि कोई अपार धन का वितरण करके गंगा स्नान करता है, दूसरा काशी, रामेश्वर आदि तीर्थों का सेवन करता है, तीसरा घर पर आये हुए अतिथि-अभ्यागतों को अन्न-दान करता है, चौथा कुआ, बावली, तालाब आदि खुदवाता है और कोई देवालय का निर्माण करा कर वहाँ पर देवमूर्तियों की प्रतिष्ठा कराता है। इस प्रकार के पुण्य कर्मों के सम्पादन से उन-उन कर्मों के अनुसार संस्कार उत्पन्न होकर जब तक शरीर रहता है, तब तक रहकर देह-वियोग के बाद उन पुण्य कर्मों के अनुसार फल की प्राप्ति करा देते हैं, इस प्रकार का सर्वानुभव है। पुण्य-कर्म करने वाले व्यक्ति के बहुत साल तक रहने पर बीच में किसी प्रकार का सूतक आ जाने पर उस अपवित्रता से सम्बद्ध देह के सभी संस्कार नष्ट नहीं होते। उनको नष्ट हुआ मान लेने पर तो सभी पुण्य कर्म निष्फल हो जायंगे और ऐसा पुण्य कर्म करने को कोई प्रवृत्त ही नहीं होगा। फिर तो—''स्वर्गकामो यजेत'' इस प्रकार के कर्मफलबोधक सभी वेद, आगम और पुराण वाक्य व्यर्थ हो जायँगे। तब तो—''कभी न कभी आग में जल कर भस्म हो जाने वाला यह शरीर फिर से

सकलकर्मणां फलाभावप्रसक्तौ तद्बोधकवेदशास्त्राद्यप्रामाण्यप्रसक्तौ बौद्धमतप्रवेशापत्तेः। यदि च—"शैवं लिङ्गार्चनं यस्य यस्य चाग्निपरिग्रहः" इति पूर्वोदाहृतपराशरस्मृतिपर्यालोचनया यज्वशरीरस्याऽशौचाभावान्न पूर्वरूपसंस्कारनाश इत्युच्यते, तदा तेनैव लिङ्गाङ्गशरीरेऽप्यशौचाभावप्रतिपादनेन तत्संयुक्तलिङ्गेऽपि संस्कारानिवृत्तेः। किञ्च, श्रीभुवनेश्वरपुरुषोत्तमादिस्थले निवेदनमात्रेण परिशुद्धप्रसादस्य—"चाण्डालवाटिकायां वा मत्प्रसादं सुपावनम्" इति वचनानुरोधेन जात्यन्तरस्पर्शेऽपि वैदिकपरिग्राह्यत्वाङ्गीकारेण साक्षान्निरस्तदोषकलङ्कनित्यशुद्धपरमशिवाधिष्ठानभूतलिङ्गस्याशुचिशरीरसम्बन्धेऽप्यशुचित्वाभावे विवादाभावाच्च।

मशक्यम्, यागजन्यापूर्वस्य यजमानदम्पत्योरात्मगतस्याशौचेन नाशादर्शनादशौचस्य संस्कारनाशं प्रत्यहेतुत्वादिति।

उत्पन्न नहीं होता। यह शरीर जब तक रहता है, तब तक सभी प्रकार के सुखों का अनुभव कर लेना चाहिये, क्योंकि मर जाने के बाद फिर किसी सुख के अनुभव का मौका नहीं मिल पाता। इसलिये जब तक देह रहे, तब तक भले ही ऋण क्यों न लेना पड़े, बढ़िया खाना खा कर सुख का अनुभव कर लेना चाहिये" चार्वाकों की इस उक्ति के अनुसार सभी को नास्तिक बन जाना होगा। इसलिये—"शैवं लिङ्गार्चनं यस्य" पराशरस्मृति के इस वचन के अनुसार सूतक दोष से आत्मा में रहने वाला अपूर्वत्व जैसे कभी भी नष्ट नहीं होता, वैसे ही दीक्षित शरीर में धारण किये हुए शिवलिंग में रहने वाला संस्कार भी सूतक स्पर्श से नष्ट न होकर निरन्तर सुस्थिर रहता है, ऐसा ही मानना उचित है।

पुनश्च "चाण्डालवाटिकायां वा मत्प्रसादं सुपावम्" इस प्रमाण के अनुसार भुवनेश्वरी, पुरुषोत्तम आदि स्थानों में चाण्डाल द्वारा पकाया गया भोजन भी भगवान् को निवेदित करने से परिशुद्ध हो जाता है, ऐसी दृढ़ भावना से उस प्रसाद को वैदिक लोग भी ग्रहण करते हैं, वैसे ही शिवलिंग भी किसी दोष से दूषित न होकर नित्य शुद्ध ही रहता है, क्योंकि परशिव से अधिष्ठित होने से शरीर भले ही सूतक आदि से अपवित्र हो, लेकिन शिवलिंग कभी भी अपवित्र नहीं हो सकता। संस्कार भी कभी नष्ट नहीं होते, ऐसा समझ लेना चाहिये।

न च स्थावरेऽपि जाताऽशौचादिमज्जनस्पर्शे प्रतिष्ठाकालीनाचार्यकृतसंस्कारस्यापि नाशो न स्यादिति वाच्यम्, वैषम्यात्। प्राणलिङ्गस्थले यल्लिङ्गं यत्र धार्यम्, तस्य तदीययावज्जीवकर्तव्यपूजानिवेदनादिबोधकशास्त्रबलेन शुच्यशुचिसाधारणकालकर्तव्यपूजादिप्रयोजकसंस्कारस्य स्थायित्व-

---

वैषम्यादिति। स्थावरलिङ्गप्राणलिङ्गयोरित्यर्थः। स्थावरलिङ्गे प्रतिदिनं पूज्यताप्रयोजकसंस्कारेण प्रयुक्तपूजायां कर्तृनियमाभावादेकस्याशुचित्वे पुरुषान्तरेण तत्पूजाया निर्वाहात्। तत्र परमेश्वरेणाऽशुचिस्पर्शनं सह्यते, प्राणलिङ्गे तु एकपुरुषस्यैव यावज्जीवं पूजनीयताप्रयोजकसंस्कारस्य दीक्षाकाले गुरुणा विहितत्वादशौचावस्थायां तत्पुरुषस्पर्शे न तन्नाशः। यावज्जीव-

---

शंका—ऐसा मान लेने पर, मन्दिर में प्रतिष्ठित लिंग सूतक दोष से दूषित पुरुष के संस्पर्श से दूषित नहीं होना चाहिये। अपवित्र पुरुष द्वारा शिवलिंग की पूजा होने पर भी उस लिंग के प्रतिष्ठा काल में आचार्य के द्वारा किया हुआ संस्कार यदि नष्ट नहीं होता, तो फिर उस लिंग के निमित्त संप्रोक्षण क्यों किया जाता है ?

समाधान—देह में धारण किये हुए शिवलिंग और जमीन पर प्रतिष्ठित शिवलिंग में अन्तर है। जमीन पर प्रतिष्ठित शिवलिंग को स्थावर लिंग कहते हैं और उस स्थावर लिंग की प्रतिदिन एक ही व्यक्ति पूजा करेगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। पहले के पुजारी के मर जाने पर अथवा जाताशौच आदि से अपवित्र हो जाने पर दूसरा कोई उस लिंग की पूजा कर लेता है। इस लिये वह अपवित्रता को सह लेता है। लेकिन देह में धारण किये गये इष्टलिंग को जो धारण करता है, उसे ही जीवनकाल पर्यन्त पूजा करनी है और उसी के साथ वह शिवलिंग ओझल हो जाता है, ऐसा विधान किया गया है। जब तक वह व्यक्ति रहता है, तब तक अपने देह से एक क्षण भी उस शिवलिंग को नहीं छोड़ सकता और उस इष्टलिंग की पूजा कोई दूसरा नहीं कर सकता। इस प्रकार के महाव्रत का पालन जब किया जाता है, तब बीच में रजस्वला आदि अशौच प्राप्त होने पर भी अपने देह में रहने वाले लिंग की खुद ही पूजा करती होती है। इसलिये लिंगांगी लिंग की पूजा में और लिंगधारण में निरन्तर शुद्ध ही रहता है। दीक्षा के समय श्रीगुरु के द्वारा किये गये संस्कार को

कल्पनेऽपि स्थावरे तदभावात् । अत एव तत्र पुनः संप्रोक्षणादिकमपि दृश्यत इत्यलं विस्तरेण ।

यच्चोक्तम्—शैवान् पाशुपतांश्चैवेत्यादिशास्त्रनिषिद्धत्वेन लिङ्गधारणमकर्तव्यमिति, तदप्यनाकलितरमणीयम् । तादृशशास्त्रपर्यालोचनया सर्वेषामप्यदर्शनीयत्वप्रतीत्या नास्माकमनिष्टमिति । तत्र शिवसम्बन्धिनः शैवा इति

पूजाया बाधापत्त्या व्रतभङ्गभिया च तादृशसंस्कारस्य तेनैतन्मतेऽनाश्यत्वकल्पनादिति ।

नास्माकमनिष्टमिति । "यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥" इति न्यायादिति भावः । शिवदेवता-

उस प्रकार के अशौच आदि नाश नहीं कर सकते । इसलिये अपवित्र पुरुष के स्पर्श से स्थावर लिंग ही प्रोक्षण की अपेक्षा रखता है, इष्टलिंग नहीं ।

शंका—आपके आग्रह पर अशौच काल में भी लिंगधारण और लिंगपूजा कर सकते हैं, ऐसा प्रमाण और युक्तियों के आधार पर मान भी लिया जाय, फिर भी—"शैव सम्प्रदाय और पाशुपत मत के लोगों को ऐसे ही लिंगधारियों, विडालव्रतिकों, पाखण्डियों, पतितों, व्रात्यों, चक्रचिह्नवालों और देवलकों को देखना नहीं चाहिये । किसी कारणवश देख लेने पर पहने हुए वस्त्रों सहित स्नान करना चाहिये" इस प्रकार के प्रमाण वाक्य होने से लिंग का धारण करना कहाँ तक उचित है ?

समाधान—इस प्रकार का आक्षेप सामान्यतया अच्छा लगने पर भी विवेक दृष्टि से विचार करने पर उचित नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि ऊपर का प्रमाण-वाक्य केवल लिंगधारण का ही निषेध नहीं करता, बल्कि शैव और वैष्णव आदि के दर्शन का भी निषेध करता है । इसलिये यह वाक्य लिंगधारियों की तरह वैष्णव आदि मतों की भी निन्दा करता है । अतः मात्र लिंगधारियों के ऊपर दोष देना न्यायसंगत नहीं है । इन वाक्यों की वेद के विरोधी कोई नास्तिक लोग कल्पना कर बैठे हैं, अतः इनको प्रामाणिक वाक्य नहीं माना जा सकता । यदि प्रामाणिक वाक्य मान भी लिया जाय, तो भी उस श्लोक में स्थित लिंगधारी पद का तप्तलिंगधारी से अन्वय करना होगा, न कि इष्टलिंगधारी से । अथवा इन श्लोकों में शैव, पाशुपत और लिंगी, ऐसा अलग-अलग अर्थ देने वाला असमानार्थक चकार होने से

व्युत्पत्त्या शैवपदेन भूतिरुद्राक्षधारिणां पूर्वशैवानां स्मार्तानां प्रदोषकालशिववन्दनभस्मधारणवतामानन्दतीर्थीयानां च ग्रहणं भवति । न चावयवशक्त्या मतान्तरगतत्वेऽपि तस्य योगरूढ्या लिङ्गधारकब्राह्मणबोध इति वाच्यम्, विशिष्य तद्बोधक-लिङ्गिपदासत्त्वात् । न च शैवपदस्य लिङ्गिपदविशेषणत्वमिति वाच्यम्, पाशुपतांश्चैवेत्युक्तसमुच्चयद्योतकचकारविरोधात् । किञ्च, पाषण्डपदमपि स्मार्तपरमेव, "पाषण्डाः सर्वलिङ्गिनः" (अ० को० २।७।४५) इति कोशेन त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रादि-चिह्नानां तेषामेव सत्त्वात्, भागवतप्रविष्टानां तेषां सत्यभामा-रुक्मिणीकृष्णवेषादिनानाविधलिङ्गसत्त्वात्, लीनमर्थं गमयतीति व्युत्पत्त्या तत्तद्देवताभिव्यक्तिस्थानशिलाताम्रादिप्रतिमानां लिङ्गपदवाच्यत्वेन—"आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्" इति वचनावगततादृशपञ्चलिङ्गपूजायास्तेषां

कत्वरूपशैवत्वस्यात्यन्तहठवद्वैष्णवातिरिक्तेषु प्रायः सर्वेष्वेव वास्तविक-ब्राह्मणेषु सद्भावात् सर्वेषामेवास्पृश्यत्वापत्तेः । रूढिशक्तिमाश्रित्य लिङ्गधारि-मात्रविषयपरत्वं वक्तुमशक्यम्, लिङ्गिपदस्य पृथक् तस्मिन् श्लोके सत्त्वेन पौनरुक्त्यापत्तेः । शैवपदस्येतरविशेषणत्वं न सम्भवति, शैवान् पाशुपतांश्चेति चकारेण समुच्चयस्य प्रतीयमानत्वात् । "पाषण्डाः सर्वलिङ्गिनः" (अ० को० २।७।४५) इति कोशे सर्वलिङ्गिपदे सर्वे च ते लिङ्गिनश्चेति इनन्तेन कर्मधारयवत् । "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः" इत्यस्य प्रायिकत्वेन सर्वाणि

'लिंगी' पद को शैव और पाशुपत पद का विशेषण बनाने का अवसर ही नहीं मिलता । इस श्लोक में 'पाषण्ड' पद भी विद्यमान है । वह पाषण्ड पद "पाषण्डाः सर्वलिङ्गिनः" इस प्रकार अमरकोश में कहा गया है । तदनुसार तिर्यक् पुण्ड्र और ऊर्ध्व पुण्ड्र आदि सभी प्रकार के चिह्नों को धारण करने वालों को ही सर्वलिंगी कहा जाता है । उस प्रकार के सर्वलिंगी ही पाषण्डी हैं, क्योंकि शिव-लिंगधारियों में उस प्रकार के मिश्रित चिह्न नहीं दीखते और "शिव एको ध्येयः" इत्यादि श्रुतियों में ऐसा बताया गया है कि पतिव्रता स्त्री की तरह निरन्तर एक ही देवता के उपासक लिंगांगियों में पाषण्ड पदवाच्य सर्वलिंग पद का अर्थ अन्वित

प्रसिद्धत्वाच्चेति । न च पाषण्डलिङ्गपदयोर्विशेषणविशेष्यभाव इति वाच्यम्, लिङ्गधारिब्राह्मणानामुक्तपाषण्डपदवाच्यसर्वलिङ्गित्वाभावात् "पाषण्डं पतितं व्रात्यम्" इत्यत्रापि पाषण्डपदमुक्तदिशा स्मार्तपरमेव ।

"मुनेरन्नं न भोक्तव्यम्" इत्यपि नास्मदनिष्टापादकम्, "यजमानकृतं पापमन्नमाश्रित्य तिष्ठति । अन्नं न प्रतिगृह्णीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।" इति सर्वत्राप्यन्नप्रतिग्रहनिषेधात् । किञ्च, "नाश्रोत्रियहुते यज्ञे ग्रामयाजिहुते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ।।" (४।२०५), "उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दिशम् । अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ।। द्विषदन्नं न गृह्णीयान्नमवधूतमपक्षुतम् । पिशुनाऽनृतयोश्चान्नं कृतविक्रयिणस्तथा ।।" (४।२१२-२१४), "गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च विगर्हितम् । विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शास्त्रविक्रयिणो मलम् ।।" (४।२१९-२२०) इत्यादितत्तदन्ननिषेधमनुस्मृतौ लिङ्गधार्यन्नस्यानिषेधाच्चेति ।

लिङ्गानि सन्ति येष्विति कर्मधारयोत्तरमत्वर्थीयान्तत्वस्यापि संभवात् । लिङ्गपदस्य च लीनमर्थं गमयतीति पूर्वदर्शितव्युत्पत्त्या तत्तद्देवताभिव्यञ्जकप्रतिमामात्रपरत्वेन सर्वप्रतिमाऽऽराधकत्वस्यैकस्मिन् पुरुषे बाधितत्वेनानेकत्व एव पर्यवसानस्य वक्तव्यतयाऽनेकप्रतिभासु देवाराधकानां सर्वेषामेव पाषण्डत्वं प्राप्नोतीत्येतद्ग्रन्थस्याशयः ।

"मुनेरन्नं न भोक्तव्यम्" इति निषेधस्तु न कस्यापि निन्द्यत्वमापादयति, "अन्नं न प्रतिगृह्णीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि" इत्यनेन सर्वेषामेवान्नस्य निषेधात्, मनुस्मृतौ—"उग्रान्नं च" (४।२०५) इत्यादिना निषिद्धान्नानां गणनप्रकरणे लिङ्गधारिणां निषिद्धान्नत्वेनागणनाद् एवंविधनिषेधा द्वेषप्रयुक्ता इवाभान्ति । "सद्वृत्तिमपि विज्ञाय लिङ्गिने चेतराय च । देयमाहु-

नहीं हो सकता । "यजमान द्वारा किये हुए पाप उसके अन्न में रहते हैं, इसलिये भीषण (असह्य) विपत्ति आने पर भी परान्न का सेवन नहीं करना चाहिये", "अवैदिक के, स्त्री, नपुंसक, क्रूरस्वभाव वाले, रजस्वला, शत्रु, निन्दित, चुगलखोर, झूठ बोलने वाले, अन्न को बेचने वाले, वेश्या, विद्वन्निन्दक, कृषक, शास्त्रविक्रेता,

वस्तुतस्तु श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे विरोधाधिकरणन्यायेन श्रुतेः प्रबलत्वात् प्रागुदाहृतसर्वालिङ्गं स्थापयतीत्यादिप्रबलानेकश्रुतिविहितलिङ्गधारणस्य स्मृत्या निषेधायोगेन वेदतुल्यमहाभारते अनुशासनिकपर्वणि—"किमाहुर्भरतश्रेष्ठ विप्राः पात्रं सनातनम् । लिङ्गिनं ब्राह्मणं चैव ब्राह्मणं चाप्यलिङ्गिनम् ॥" (१३।२२।१) इति युधिष्ठिरेण पृष्टे—"सद्वृत्तिमपि विज्ञाय लिङ्गिने चेतराय च । देयमाहुर्महाराज उभावेतौ

र्महाराज उभावेतौ तपस्विनौ ॥" (१३।२२।२) इति महाभारतवाक्येन तपःस्वाध्यायसद्वृत्तिविशिष्टब्राह्मणे लिङ्गिन्यलिङ्गिनि च पात्रत्वमवगम्यते ।

और ब्याज से जीने वाले के अन्न को भी स्वीकार नहीं करना चाहिये" मनुस्मृति के इस वाक्य में इस प्रकार के निषिद्ध व्यक्तियों की पंक्ति में लिंगधारियों को नहीं गिना गया है ।

श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर विरोधाधिकरण न्याय से श्रुतियाँ प्रबल हो जाती हैं, तब स्मृतियाँ अपने आप दुर्बल हो जाती है, इस प्रकार मीमांसाकार निर्णय कर चुके हैं । इसलिये "सर्वलिङ्गं स्थापयति","ओं नमो ब्रह्मणे धारणम्" इस प्रकार के अनेक श्रुति वाक्यों से सिद्ध लिंगधारण को दुर्बल स्मृति वाक्यों से बाधित नहीं किया जा सकता, अतः सभी प्रकार से लिंगधारी लोग निर्दुष्ट हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये ।

"तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय के अनुसार पूर्व में बताये गये 'शैवान् पाशुपतांश्चैव" इन स्मृति-वाक्यों को प्रमाण मान लेने पर भी इस श्लोक में आये हुए 'चक्रिणम्', 'लिङ्गधारिणम्' इन पदों का चक्र के चिह्न से युक्त होने पर भी दुष्कर्म, दुःसंग आदि से श्रुतिनिर्दिष्ट चक्रांक को छोड़कर लिंग को जो धारण करते हैं और मुक्तिप्रद एवं श्रुतिप्रतिपादित उस शिवलिंग को छोड़कर जो चक्रांक को धारण करते हैं, उस प्रकार के अधीर स्वभाव वाले व्यक्ति श्रुतिस्मृत्यादि निर्दिष्ट कर्मों से बाहर हो जाते हैं, ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये, क्योंकि वे एक मत को छोड़ कर दूसरे मत में प्रवेश करने से पापात्मा हो जाते हैं ।

प्रथम भारतीय इतिहास ग्रन्थ महाभारत भी—"भारतः पञ्चमो वेदः" इस प्रमाण से वेद की तरह सर्वोत्कृष्ट माना जाता है । इसलिये इस ग्रन्थ में शिवलिंग

तपस्विनौ ॥" (१३।२२।२) इति भीष्मवचनेन लिङ्ग-धारिद्विजानां दानपात्रताविधानात् । तेषामदर्शनीयत्वायोगेन च नानेन लिङ्गधारिणां निन्द्यत्वम् ।

परन्तु—"यो वै स्वां देवतामतियजते प्र स्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति" इति श्रुत्या "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्" (भ० गी० ३।३५); "यः स्वधर्मपरित्यागादन्यधर्मं समारभेत् । तं

"यो वै स्वां देवतामतियजते" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्यस्या देवताया दीक्षा येन गृहीता, तस्या यावज्जीवं तेन प्राधान्येनाराधनं करणीयमिति शास्त्र-सिद्धान्तः प्रतीयते। एवं स्थिते ये किञ्चित्कालं लिङ्गिनः, किञ्चित्कालं चक्रिणः, एवंरूपेणोभयाराधका भवन्ति, तेषामुक्तसिद्धान्तविरुद्धत्वादवश्यं गर्हणीयत्वमनुभवपथमारोहति । ये तु हृदयतः सत्यभावेन रागद्वेषौ विहा-

धारियों की श्रेष्ठता के बारे में जहाँ तक वर्णन किया गया है, उस पर थोड़ा-बहुत विचार करना उपयुक्त सा लगता है । इस महाभारत के आनुशासनिक पर्व में धर्म-राज युधिष्ठिर और भीष्म के प्रश्नोत्तर के समय धर्मराज प्रश्न करते हैं कि हे भरतकुल के भूषण भीष्म ! लोक में लिंगी ब्राह्मण और अलिंगी ब्राह्मण नाम से दो प्रकार के ब्राह्मण हैं । इनमें किन ब्राह्मणों को दान देना चाहिये ? ऐसा प्रश्न किये जाने पर भीष्म कहते हैं कि हे महाराज ! तपस्वी, अध्ययन-सम्पन्न और क्रियानिष्ठ लिंगी अथवा अलिंगी दोनों ही दान लेने के अधिकारी हैं ।

इस विषय में यह श्रुति प्रमाण है—यः = जो अधिकारी पुरुष, स्वां देवताम् = अपने मत के आचार्य द्वारा उपदिष्ट देवता को, अतियजते = अतिक्रमण कर लेता है, प्रस्वायै = अपने द्वारा पूजी जाने वाली, देवतायै = देवता से, च्यवते = भ्रष्ट हो जाता है, सः = वह भ्रष्ट, परां = उत्कृष्ट पद को, न प्राप्नोति = प्राप्त नहीं कर सकता, पापीयान् = पापात्मा, भवति = हो जाता है ।

इससे परम्परागत अपने मत के आचार्य से जिस देवता से सम्बद्ध दीक्षा को लेता है, उस देवता के चिह्नों को जब तक जीवित रहता है, तब तक नहीं छोड़ना चाहिये, ऐसा स्पष्ट हो जाता है । इस विषय में अन्यत्र भी कहा गया है कि दूसरे के धर्म का आचरण करने की अपेक्षा अपने मताचार्य से उपदिष्ट धर्मा-

विलोक्य दुरात्मानं कुर्यात् सूर्यावलोकनम् ।। भिनत्ति वेद-मर्यादां स्वजात्याश्रमगोचराम् । आश्रयत्यन्तधर्मांश्च यः स पाषण्ड उच्यते ।।" इति भगवद्गीतादिवचनैः, "वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ।।" (१०।९७) इति मनुस्मृत्या, "अतियजेत निजां यदि देवतामुभयतश्च्यवते जुषतेऽप्यघम्" इत्यभियुक्तोक्त्या च स्वधर्मपरित्यागपूर्वकान्यधर्मस्वीकारिणो निन्द्यत्वेन, "चक्रिणं लिङ्गिनम्" इत्यत्रापि यस्तु प्रथमं लिङ्गीभूत्वा दुष्कर्मवशात् तदुपेक्ष्य चक्रीभवति, प्रथमं चक्रीभूत्वा तदुपेक्ष्य लिङ्गी वा भवति, तं दृष्ट्वा

यैकदेवनिष्ठास्तन्मात्रलीनाशया भवन्ति, तेषां निन्दायामवसरो नास्ति। तादृशानेव शिवयोगिनो रात्रिन्दिवं परमशिवध्यानेन शिवमयत्वं प्राप्तान्

चरण गुणहीन होने पर भी श्रेष्ठ माना गया है। जो परम्परा से आये हुए अपने धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म का आश्रय लेता है, उस व्यक्ति का मुँह नहीं देखना चाहिये। किसी कारणवश प्रमाद से देख लेने पर उस व्यक्ति से प्राप्त पाप के निवारण के लिए सूर्य का दर्शन करना चाहिये। जो अपनी जाति से सम्बद्ध आश्रमों का अतिक्रमण कर अन्य धर्मों का अनुसरण करता है, वह वेद की मर्यादा के विपरीत आचरण कर बैठा है, इसलिये वह पाषण्डी कहा जाता है।

मनुस्मृति में भी कहा गया है कि अपने मताचार्य से उपदिष्ट धर्म के सारहीन लगने पर भी उसी का अनुष्ठान करना चाहिये। परकीय धर्म के उपयुक्त लगने पर भी उसका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। जो अपने धर्म को छोड़कर अन्य धर्म से जीवित रहता है, वह जातिभ्रष्ट माना जाता है। अन्यत्र भी कहा गया है—जो अपने द्वारा पूजा की जाने वाली देवता को छोड़ कर दूसरी देवता की आराधना करता है, वह किसी भी देवता के अनुग्रह को न पाकर उभयतः भ्रष्ट तो हो ही जाता है, साथ ही वह पापात्मा भी हो जाता है।

इसलिये हर व्यक्ति को अपने जीवन में एक ही धर्म और एक ही देवता की शरण में रहना चाहिये। ऐसा न करके यदि वह कुछ समय तक लिंगधारी होकर भगवान् शिव की आराधना करता है और कुछ समय चक्रांकित होकर विष्णु की

सचैलं स्नानमाचरेदित्येवार्थः स्वीकरणीयः । यस्तु सन्तप्तचक्रादिलिङ्गाङ्कितनुरित्यस्यापि लिङ्गपदस्य लाञ्छनपरत्वेन सन्तप्तचक्रादीनि च तानि लिङ्गानि च तैरङ्कितनुर्द्विजः श्रौतस्मार्ताद्यनधिकारीत्यर्थः, ब्राह्मणस्य तनुर्ज्ञेयेत्यादिना प्रागेव चक्राङ्कितनिषेधात्, "शङ्खचक्राङ्कितनुं वैष्णवं शिवदूषकम् । पश्येद् यदि प्रमादाद्वा कुर्यात् सूर्यावलोकनम् ।।" इत्याद्यनुरोधाच्च यदि लिङ्गपदस्य शिवलिङ्गपरत्वम्, तदा प्रथमं तप्तमुद्राङ्कितो भूत्वाऽनन्तरं तदुपेक्ष्य लिङ्गीभवति, तद्वैपरीत्येन चक्री वा भवति, सोऽपि बहिष्कार्य इत्येवं पूर्व-

---

आराधना करता है, तो ऐसे अस्थिरमति व्यक्ति को उभयभ्रष्ट व पाषण्डी कहा जाता है । एक देवता की आराधना छोड़कर अनेक कामनाओं मे अनेक देवताओं की जो पूजा करता है, उसी को पाषण्डी, पतित अथवा व्रात्य कहते हैं । इसी अभिप्राय को "शैवान्‥‥श्रौतस्मार्तादिकर्मसु" इन श्लोकों का तात्पर्य समझ लेना चाहिये ।

एकदेवोपासना

चराचरात्मक इस जगत् के सर्जक एक ही परमात्मा हैं, न कि अनेक । जैसे एक घर का एक मुखिया होता है और अन्य लोग उसके अधीन रहते हैं, तब उस घर का व्यवहार शान्तिपूर्वक चलता है । ऐसा न होकर अनेक व्यक्ति अपने को मुखिया मान बैठें तो उस घर की स्थिति विषम हो जाती है । इसी तरह एक ही दुनिया के अनेक सर्जक मान लेने पर कभी न कभी उनमें राग-द्वेष आदि उत्पन्न हो जाने पर "सुन्दोपसुन्द" न्याय की तरह सबके सब नष्ट हो सकते हैं । इसलिये सृष्टि, स्थिति और संहार का कर्ता एक ही है । वही उपासकों की अभिरुचि के अनुसार तथा उन लोगों की दृष्टि के अनुसार विष्णु, शिव, शक्ति आदि अनन्त आकृतियों में अभिव्यक्त होकर उन लोगों के पुण्य-पाप के अनुसार फलप्रदान करता है । इससे ऐसा लगता है कि भगवान् एक ही है । फिर भी विभिन्न मत के उपासक लोग अपने-अपने मतों की प्रक्रिया के अनुसार अलग-अलग नामों से उसे पुकारते हैं और इस तरह से उनका भगवान् अलग-अलग हो जाता है । वह भगवान् अच्छा है, यह भगवान् अच्छा नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिये । गाय का दूध देश-भाषाओं के अनुसार अनेक नामों से पुकारा जाता है, फिर भी उसके स्वरूप में

वद् वक्तव्यम्, अन्यथा—"क्रिमिकीटपतङ्गेभ्यः पशवः प्रज्ञयाऽधिकाः। पशुभ्योऽपि नराः श्रेष्ठास्तेषु श्रेष्ठा द्विजातयः।। द्विजातिष्वधिका विप्रा विप्रेषु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्तारस्तेभ्यः संन्यासिनोऽधिकाः।। तेभ्यो विज्ञानिनः श्रेष्ठास्तेषु शङ्करपूजकाः। तेषु श्रेष्ठा महाभाग मम लिङ्गाङ्गसङ्गिनः।। लिङ्गाङ्गसङ्गिष्वधिकः षट्स्थलज्ञानवान् पुमान्। तस्मादप्यधिको नास्ति त्रिषु लोकेषु सर्वदा।। स वन्द्यः सर्वदा पूज्यः संसारविजिगीषुभिः। बहुनोक्तेन किं वत्स स एवाहं न

सांसारिकतुच्छविषयसुखविमुखानधिकृत्य क्रिमिकीटपतङ्गेभ्यः, द्विजातिषु, तेभ्यो विज्ञानिनः, लिङ्गाङ्गसङ्गिषु, स वन्द्य इमानि वाक्यानि प्रवृत्तानि

तो किसी प्रकार का भेद नहीं दीखता। अपनी वंश-परम्परा के अनुसार उस भगवान् का जिस किसी रूप में ध्यान, पूजा और स्मरण करने पर भी हम लोगों के दुःख का निवारण तो कर ही देता है। अतः जन्म से प्राप्त हुए मत और अपने अभ्यस्त मार्ग को छोड़ कर अनभ्यस्त मत का अनुसरण नहीं करना चाहिये। मनुष्य यदि एकाग्रबुद्धि नहीं है, तो उसके मन में अनेक संशय उत्पन्न होते रहते हैं, वह अशान्त रहता है और इस तरह अपने जीवन को ही व्यर्थ गवाँ बैठता है। अनन्य निष्ठा से विशिष्ट व्यक्ति एक पतिव्रता स्त्री के समान है। धर्मशास्त्र के नियम के अनुसार स्त्रियाँ एक जन्म में एक ही विवाह करती हैं। जब पाणिग्रहण किया, उस समय पति कुरूप हो, सुन्दर हो, श्रीमान् हो, गरीब हो, सुखी हो, दुःखी हो, मूर्ख हो, विद्वान् हो— उसी को अपनी कुलदेवता मान कर उसी में निरतिशय प्रेम दिखलाती है। क्षणिक सुख अथवा अनेक प्रकार की कामनाओं से, संगदोष से अथवा धन की आशा से अन्य-अन्य पुरुषों का वरण करना साध्वी का लक्षण नहीं है। साध्वी वही है, जो अनन्यनिष्ठ होकर अपने पति की सेवा करती है। यही उसका एक मात्र धर्म है।

मत अनन्त होने पर भी सभी मतों में परमात्मा परिपूर्ण होकर रहता है। इसलिये अपनी अपनी भावना के अनुसार इष्टार्थ को प्रदान करने में जब परमात्मा समर्थ है, तब अपने मत को छोड़कर अन्य मत में प्रवेश क्यों किया जाय? इसी अभिप्राय से कहा गया है कि परमात्मा के द्वारा निर्मित जाति-धर्मों को जो अतिक्रमण कर लेता है, वह पाषण्डी हो जाता है। वह किसी भी कर्म का

संशयः ।।" इति, "शिरोदेशेऽथवा कण्ठे हस्ते वक्षस्थलेऽपि वा । लिङ्गधारणहीनो यस्तं त्यजेदन्त्यजं यथा ।। कुण्डं च गोलकं चैव लिङ्गधारणवर्जितम् । तथा देवलकं चैव दृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् ।। स्थूलाङ्गे त्विष्टलिङ्गं तु यो न धारयते द्विजः । दृष्ट्वा तं सहसा पुत्र सचैलं स्नानमाचरेत् ।। मस्तके बाहुदण्डे वा ललाटोर्ध्वप्रदेशके । अलिङ्गधारणं दृष्ट्वा कुर्यात् सूर्यावलोकनम् ।। यो न पूजयते भक्त्या लिङ्गं त्रिभुवनेश्वरम् । नासौ स्वर्गस्य मोक्षस्य न च राज्यस्य भाजनम् ।। शिवयोगिशरीरे तु नित्यं सन्निहितः शिवः । योगीन्द्रपूजनात् तस्मात् साक्षात् संपूजितः शिवः ।। ये योगिनं द्विषन्त्यज्ञाः सर्वपापेष्ववस्थिताः । ये शिवज्ञाननिरतं प्रद्विषन्तीह योगिनम् ।। विकल्पन्ते महात्मानं ये मूढाः शिवलिङ्गिनम् । ते

मन्तव्यानि। शिरोदेशे, कुण्डं च गोलकं च, स्थूलाङ्गे त्विष्टलिङ्गं तु, मस्तके बाहुदण्डे वा—एषां चतुर्णां वाक्यानां शैवशिवाराधनविद्वेषस्याकर्तव्यत्वाभिप्रायकत्वम्, "यो न पूजयते भक्त्या लिङ्गं त्रिभुवनेश्वरम्। नासौ स्वर्गस्य मोक्षस्य न च राज्यस्य भाजनम् ।।" अस्य श्लोकस्य श्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धान्तबोधकत्वं बोध्यम्। शिवयोगिशरीरे तु, ये योगिनं द्विषन्त्यज्ञाः,

अधिकारी नहीं समझा जाता। जो अपने आश्रम-धर्मों का अतिक्रमण कर चलते हैं, वे पतित कहे जाते हैं। इसी प्रकार स्कन्दपुराण आदि में भी कहा गया है कि ज्ञान में मच्छर की अपेक्षा मक्खियाँ, मक्खियों की अपेक्षा पक्षी, पक्षियों से पशु, पशुओं से मनुष्य, मनुष्यों से द्विज, द्विजों से विप्र, विप्रों से यज्ञकर्ता, यज्ञ करने वालों से संन्यासी, संन्यासियों से तत्त्ववेत्ता, तत्त्ववेत्ताओं से शिवलिंगाराधक, शिवलिंगाराधकों से शिवलिंगधारी, शिवलिंगधारियों से षट्स्थलज्ञानी श्रेष्ठ हैं। इनके बराबर तीनों लोकों में कोई नहीं है। वे ही वन्द्य (नमस्कार करने योग्य) हैं और वे ही पूज्य हैं। वह षट्स्थलज्ञानी मैं हूँ। इस प्रकार भगवान् शिव ने स्कन्द को प्राणियों का तरतम भेद सुनाया है।

वीरागम आदि में भी बताया गया है कि गले में, भाल भाग में, हाथ में, अथवा वक्षस्थल पर शिवलिंग को जो वीरशैव धारण नहीं करते, वे अन्त्यजों

यान्ति पितृभिः सार्धं नरकेषु न संशयः॥" इति शङ्करसंहिता-वीरागममुकुटागमशिवधर्मोत्तरादिवचनविरोधापत्तेः।

ननु—"निगृहीताश्च ये राज्ञा चौर्यदोषेण कुत्रचित्। परदारान् विशन्तश्च रोषात् तत्पतिभिर्हताः॥ असमानैश्च सङ्कीर्णाश्चण्डालाद्यैश्च विग्रहम्। कृत्वा तैर्निहता ये च चण्डा-

---

विकल्पन्ते महात्मानम्, एषां त्रयाणामपि पूर्ववत् शिवयोगिविद्वेषस्य जघन्यत्वबोधकत्वं ज्ञेयम्। विरोधापत्तेरिति। अस्य पूर्वोक्तेनान्यथेत्यने-नान्वयः। तत्रान्यथेत्यस्य "चक्रिणं लिङ्गिनं दृष्ट्वा सचैलं स्नानमाचरेत्" इत्यादिनिषेधानां दीक्षाविषये त्यागोपादानशालिचलितलिङ्गविषयकत्वाभाव इत्यर्थः।

पूर्वग्रन्थे एकां दीक्षां गृहीत्वा एनां परित्यज्यान्यां दीक्षां गृह्णन्ति, अनन्तरं तामपि परित्यज्य तृतीयाम्—एवंरूपा उपासनाविषयेऽलब्धपदाः पाषण्डपदार्थत्वेन दर्शिताः। स्कन्दपुराणादौ तु—"शिवोक्तां जातिमर्यादां योऽतीत्य भुवि वर्तते। स पाषण्ड इति ज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः॥" इति वाक्येन जातिमर्यादापरित्यागः पाषण्डपदार्थ इत्युच्यत इति विरुद्ध्यतेऽयं ग्रन्थ इत्याशङ्कते—नन्वित्यादिना। "निगृहीताश्च ये राज्ञा" इत्युक्तिस्तु

के समान हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये। अन्धा हो, गोलक (वर्णसंकर) हो, देवलक (देवपूजक) हो— सभी को लिंगधारण करना चाहिये। जो वीरशैव होकर अपने स्थूल देह में इष्टलिंग को धारण नहीं करते, उनका दर्शन तक नहीं करना चाहिये। शिर पर अथवा मस्तक पर शिवलिंग को धारण करना चाहिये। जो भक्ति से शिवलिंग की पूजा नहीं करता, वह स्वर्ग, मोक्ष अथवा राज्य तक प्राप्त नहीं कर सकता। लिंगधारी शिवयोगी के शरीर में भगवान् शिव निरन्तर निवास करता है। उनकी पूजा साक्षात् भगवान् शिव की ही पूजा मानी जाती है। उनसे द्वेष करने वाला पापात्मा अपने पितरों के साथ नरक के गर्त में गिरता है। इस प्रकार स्कन्द आदि पुराणों में बताया गया है। विष्णुपुराण आदि में भी बताया गया है कि चोरी करने वाला कारागार का निवासी, तिरस्कृत परस्त्री-गामी, निम्न जाति वालों से झगड़ा करने वाला चण्डालों का आश्रय लेने वाला, रोक लगाने वाला, आग लगाने वाला, विष (जहर) डालने वाला और अपने मत (धर्म) तथा आश्रम का अतिक्रमण करने वाला पाषण्डी कहा जाता है।

लादिसमाश्रिताः । बन्धाग्निविषदाश्चैव पाषण्डाः क्रूरबुद्धयः ।। शिवोक्तां जातिमर्यादां योऽतीत्य भुवि वर्तते । स पाषण्ड इति ज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः ।। भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात् पतितः सोऽभिधीयते ।।" इति विष्णुपुराणस्कन्दपुराणादौ चौर्यपरदारादिरतानामेव पाषण्डादिपदार्थनिर्वचनेन—"पाषण्डं पतितं व्रात्यम्" इत्यत्रापि पाषण्डपदं तत्परमेवेति चेन्मैवम्, नहि पाषण्डपदस्य नियतार्थकत्वम्, पुराणधर्मशास्त्रकोशादिषु बहुधा तन्निर्वचनात्, तत्रापि शक्तिनिश्चायककोशेनोक्तदिशा सर्वलिङ्गत्वस्य पाषण्डपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वप्रतिपादनात्, तस्य चानियतदेवतोपासकस्मार्तेषु पूर्वोपपादितत्वेन तेषां तद्रूपत्वानपायात्, "अलिङ्गधारिणं दृष्ट्वा कुर्यात् सूर्यावलोकनम्" इत्यादिना तेषामदर्शनीयताया वज्रलेपायितत्वाच्चेति ।

प्रासङ्गिकी द्रष्टव्या । समाधत्ते—नहीत्यादिना । शब्दानामनेकार्थत्वदर्शनान्नायं विरोध इति भावः ।

शंका—ऐसा मानने पर "पाषण्डं पतितं व्रात्यम्" इस श्लोक में बताये गये पाषण्ड, पतित आदि पद चोरी करने वालों में, व्यभिचार करने वालों में, निन्द्य कार्य करने वालों में ही व्यवहृत होते हैं, न कि अन्य किसी में, यह बात कैसे मानी जाय ?

समाधान—यह पद जार, चोर आदि के लिये व्यवहृत किया गया है। इसके अतिरिक्त पुराण, धर्मशास्त्र और अमरकोश आदि में भी इन पदों का भिन्न भिन्न अर्थ बताया गया है। जैसे कि एक ही देवता की पूजा न करके अनेक देवताओं की पूजा करते हुये अनेक देवताओं का चिह्न धारण करने वालों को पाषण्डी कहा जाता है और संस्कार से रहित मानव व्रात्य कहे जाते हैं। लिंग धारण न करने वाले लोगों को देखना नहीं चाहिये, ऐसा प्रमाण-वाक्य होने से पाषण्ड आदि पद एकदेवोपासक लिंगधारियों में अन्वित न होकर अनेक देवताओं के उपासक होकर अनेक देवताओं के प्रतीकात्मक चिह्नों को धारण करने वालों में अन्वित होता है।

एवं पूर्वोदाहृतनिषेधवचनानां निन्दापरत्वमङ्गीकृत्येद-मुक्तम्, वस्तुस्थितिस्तावदाकर्ण्यतां सावधानेन । तथाहि—यत्याश्रमोक्तप्रकरणपठितपाषण्डं पतितमित्यादिवाक्यानाम्, "तिलकं चतुरस्रं वा द्वीपाश्वत्थदलाकृतिम् । ललाटे धारयेद्यस्तु न तं पश्येदनापदि ।। लिङ्गधारणहीनो यस्तं त्यजेदन्त्यजं यथा।" इत्यादिलिङ्गधारणपठितवाक्यानाम्, चक्रधारणप्रकरणपठित-तदतिरिक्तनिन्दापरवाक्यानां च नहि निन्दा निन्दितुमीष्टे, अपि तु स्तुत्यं स्तौतीति न्यायेन तत्तत्प्रकरणविहिततत्तदर्थ-

---

एतावता प्रबन्धेन—"आततायिनमाहन्यादपि वेदान्तपारगम्" इति न्यायेनाभ्युपगमवादेन च स्वविरोधिषु विरोधस्यौचित्येन तैः सह विवादे विचारप्रौढिं प्रदर्श्येदानीं सत्पक्षपातो हि धियां स्वभाव इति स्थित्या निन्दावाक्यानां वास्तविकतात्पर्यमाह—वस्तुस्थितिस्तावदिति । अय-माशयः—"अपशवोऽन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः" इति श्रौतवाक्यस्य पशुत्वविशिष्टानामपि हस्तिमहिषादीनां पशुत्वाभावं ब्रुवाणस्य पशुत्वनिषेधे न तात्पर्यम्, किन्वीदृशो गवाश्वयोर्महिमा यदग्रे पशवोऽपि हस्त्यादयोऽ-पशव उच्यन्ते, इत्येवंरूपयोर्गवाश्वयोः प्रशंसायामेव तात्पर्यं मीमांसकैः कल्प्यते । तदेवोच्यते—नहि निन्दा निन्दितुमीष्टे, अपि तु स्तुत्यमेव स्तौतीति । अनेनैव न्यायेन तिलकं चतुरस्रं वा, लिङ्गधारणहीनो यः, शैवान् पाशुपतांश्चैव, पाषण्डं पतितं व्रात्यम्, चक्रिणं लिङ्गिनं दृष्ट्वा, यस्तु संतप्तचक्रादि, मुनेरन्नं न भोव्यक्तमित्यादिवाक्यानां स्वस्वमतापेक्षयाऽ-

हर एक मत के आचार्य, उनके मत के अनुयायी अथवा योग, सांख्य आदि शास्त्रों के अनुयायी अपने-अपने सिद्धान्त को सुस्थिर बनाने के निमित्त अन्य मतों का स्वरूप बतला कर उनमें सारहीनता का ज्ञापन कराते हैं, क्योंकि अन्य सिद्धान्तों में जब तक सारहीनता का बोध न कराया जाय, तब तक अपने सिद्धान्त में जिज्ञासुओं की अभिरुचि का उदय नहीं होता । यहाँ दूसरे सिद्धान्त के अथवा उस सिद्धान्त में बताये हुए देवता के प्रति दूषण देने में तात्पर्य नहीं है, किन्तु अपने सिद्धान्त अथवा अपने सिद्धान्त में बताये हुए देवता की अत्यधिक स्तुति करते हुए उस देवता में अचंचल भक्ति का उदय कराकर मुक्ति की इच्छा

प्रशंसापरत्वमेव वाच्यम्, अन्यथा—"तपोयज्ञफलादीनां विक्रेतारो द्विजोत्तमाः। यतयश्च भविष्यन्ति बहवोऽस्मिन् कलौ युगे ।। शुक्लदन्ता जिताक्षाश्च मुण्डाः काषायधारिणः। शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ।।" इति लिङ्गपुराणवचनेन, "दुर्भोजनदुरालापा दुष्प्रतिग्रहतत्पराः। दुर्विहारदुराचारा वृथा-गर्वविदूषिताः ।। माठापत्यं च यतयः करिष्यन्ति धनाशया। ग्रामण्यनिरता यन्त्रमन्त्रतन्त्रविशारदाः ।। रण्डोपदेशनिरता-

---

न्यमतनिन्दकानां यथासम्भवं स्वमतस्तुतावेव तात्पर्यं मन्तव्यम्, न तु तन्निन्दायाम्। अन्यथा केनापि प्रकारेण सत्यभावेन परमेश्वरनिष्ठावता-मुपासकानां कथं निन्द्यत्वमुपपद्येत। दम्भेन धर्ममनुतिष्ठन्तो वञ्चकास्तु सर्वमत एव निन्दिता भवन्तीति तेषां निन्द्यत्वेन तत्तन्मते निन्दावसरो नास्ति। ततश्च स्वस्वतात्पर्यविषयीभूतार्थमादाय नेमानि वाक्यानि परस्परं विरुन्धन्तीति सूपपादितो भवत्यविरोधः। अन्यथा तपोयज्ञफलादीनामिति। तत्रान्यथेत्यस्य शैवान् पाशुपतानित्यादिवाक्यानां वैष्णवादिग्रन्थेषु धृतानां मतान्तरहेयत्वबोधकानां स्वीयमतस्तुतिमात्रतात्पर्यकत्वाङ्गीकार इत्यर्थः। स्वार्थतात्पर्यकत्वाभ्युपगम इति फलितम्। अस्य यतीनामपि निन्द्यत्वापत्ते-रित्यनेनान्वयः। एतद्ग्रन्थकारलेखात्—"तपोयज्ञफलादीनां विक्रेतारो द्विजोत्तमाः। यतयश्च भविष्यन्ति बहवोऽस्मिन् कलौ युगे ।।", "शुक्लदन्ता जिताक्षाश्च मुण्डाः काषायधारिणः। शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति युगान्ते समुप-स्थिते ।। दुर्भोजनदुरालापा दुष्प्रतिग्रहतत्पराः। दुर्विहारदुराचारा वृथा-गर्वविदूषिताः ।। माठापत्यं च यतयः करिष्यन्ति धनाशया। ग्रामण्यनिरता यन्त्रमन्त्रतन्त्रविशारदाः ।। रण्डोपदेशनिरतास्तत्संभाषणतत्पराः। सर्वेषा-

रखने वालों को मुक्ति दिलाना पूर्वाचार्यों का ध्येय है। इस विषय में मीमांसा का एक न्याय प्रसिद्ध है कि जो वस्तु स्तुति करने योग्य है, उस वस्तु की स्तुति करने में ही तात्पर्य है, न कि अन्य वस्तु की निन्दा में। इसी को 'नहि निन्दा' न्याय कहते हैं। इसी न्याय को मीमांसक उदाहरण के रूप में दिखलाते भी हैं कि जैसे गाय और घोड़ा पशु वर्ग में है, वैसे ही ऊँट, भैंस, भैंसा आदि भी पशु वर्ग में हैं। लेकिन गाय और घोड़ा ही पशु है और हाथी, भैंस आदि पशु नहीं हैं, ऐसा

स्तत्सम्भाषणतत्पराः। सर्वेषामुपदेष्टारो वैराग्येण विवर्जिताः ।। वञ्चकाश्च भविष्यन्ति यतयः काञ्चनाशया । सर्वत्र विचरिष्यन्ति तृष्णया नगरादिषु ।। वयसा पयसा दध्ना क्षीरशाल्योदनेन च । यतिरेतैरनुदिनं प्रमत्तः पतितो भवेत् ।। काषायधारिणः केचिद् लम्पटा विषयेष्विह । एकदण्डास्त्रिदण्डाश्च मुण्डिनो लोकवञ्चकाः ।। शिश्नोदरपराश्चान्ये वेश्यासक्तास्तथाऽपरे । कपटा नास्तिकाः केचिद् वृथा वै वेषधारिणः ।। राजसेवां प्रकुर्वन्ति पिबन्ति रुधिरं परे । खादन्ति मांसं राजेन्द्र पिबन्ति मधु गर्विताः ।। तेषां सन्दर्शनादेव नरः किल्बिषमाप्नुयात् ।" इत्यादिस्कन्दादित्यपुराणवचनैर्यतीनामपि निन्द्यत्वापत्तेः । एवं च सकलवैदिकर्मानुष्ठातॄणां दानपात्रत्वादिना प्रसिद्धानां च वैष्णवस्मार्तानन्दतीर्थीयानां बहुजनवन्द्ययतीनां

मुपदेष्टारो वैराग्येण विवर्जिताः ।। याचकाश्च भविष्यन्ति यतयः काञ्चनाशया । सर्वत्र विचरिष्यन्ति तृष्णया नगरादिषु ।। वयसा पयसा दध्ना क्षीरशाल्योदनेन च । यतिरेतैरनुदिनं प्रमत्तः पतितो भवेत् ।। काषायधारिणः केचिद् लम्पटा विषयेष्विह । एकदण्डास्त्रिदण्डाश्च मुण्डिनो लोकवञ्चकाः ।। शिश्नोदरपराश्चान्ये वेश्यासक्तास्तथापरे । कपटा नास्तिका केचिद् वृथा वै वेषधारिणः ।।" इत्यादिनिषिद्धाचारबोधकवाक्यानां स्वार्थे तात्पर्यं नास्तीति लभ्यते । परमिदमत्यन्तमनुचितम्, एषां वाक्यानां स्वार्थे एव तात्पर्यात् । कलियुगोत्पन्नानां बहूनां निन्द्यत्वमापाद्येतेति चेत्, का क्षतिः ? सन्त्येव कलियुगभवाः प्रायेण निन्द्या निन्द्याचाराः, नहि तेषां परिग्रहमात्रेण पापकर्मणां पुण्यत्वं भविष्यति, वस्तुस्थितेरन्यथयितुमशक्यत्वात् । नहि बहूनां वेश्यासक्तत्वेन वेश्यासङ्गोऽपि धर्मत्वं प्राप्स्यति ।

श्रुति कहती है । प्रकरण के अनुसार गाय और घोड़े की स्तुति में ही इस श्रुति का तात्पर्य है, न कि भैंस आदि की निन्दा में ।

इसी तरह लिंगधारण के महत्त्व को नाना प्रकार से प्रकट करने के लिये वीरशैव सिद्धान्तकार अलिंगधारी की निन्दा करके अन्य मतों में सारहीनता को दिखलाते हैं । इस प्रकार के सभी वाक्य सन्दर्भ के अनुसार शिवलिंगधारण

सर्वेषां चादर्शनीयत्वे प्रपञ्चमर्यादोच्छेदापत्तेः । तेषां च तत्तत्कर्मानुष्ठातृत्वदानपातृत्वविधायकवेदशास्त्रपुराणागमेतिहासविरोधापत्तिश्चेत्यलं मूषकग्रहणार्थं गिरिखननेनेति ।

ननु मा भून्नामोक्तस्मृतिभिर्लिङ्गधारणस्य निन्द्यत्वम्, तथाप्यमरकोशे ब्रह्मवर्गे—"धर्मध्वजी लिङ्गवृत्तिरवकीर्णी क्षतव्रतः" (२।७।५४) इति लिङ्गवृत्तिपदस्य निषिद्धनाममध्यपठितत्वेन धर्मस्येव ध्वजं चिह्नं यस्य स धर्मध्वजी । लिङ्गधारणमेव वृत्तिर्जीवनं यस्य स लिङ्गवृत्तिः, मिथ्यानुष्ठानलक्षणजीविकावतो नाम । अव व्रतान्तरे कीर्णं स्खलितं रेतो

तस्मादसमञ्जस एवायं ग्रन्थः । तथाप्यशेषविधिनिषेधार्थपरिपालनस्याशक्यत्वात् प्रायश्चित्तीयत्वादिदानीं प्रायो न कश्चन मुक्तो भवतीति निषिद्धाचारिषूपेक्षयैव वर्तितव्यमिति कथञ्चित् सङ्गमनीयम् ।

"धर्मध्वजी लिङ्गवृत्तिरवकीर्णी क्षतव्रतः" (२।७।५४) इत्यमरकोशे लिङ्गवृत्तिपदेन भक्त्या परमेश्वरतोषणार्थं लिङ्गधारिणां ग्रहणं न प्राप्नोति,

के प्राशस्त्य को प्रकाशित करते हुए शिवलिंग में सुदृढ़ भक्ति का उदय करा देने में समर्थ होते हैं । अन्य मतों की निन्दा करने में उनका तात्पर्य नहीं है ।

शंका—अमरकोश के ब्रह्मवर्ग में धर्मध्वजी, लिंगवृत्ति, अवकीर्णी और क्षतव्रती पदों के बीच लिंगवृत्ति पद भी है । इससे लिंगधारी निषिद्ध हैं, ऐसा भ्रम हो जाता है ।

समाधान—लिंगाभट्टि नामक व्याख्यान ग्रन्थ में इस श्लोक के धर्मध्वजी, लिंगवृत्ति, अवकीर्णी आदि पदों की व्याख्या देखने पर यह भ्रम दूर हो जाता है । वहाँ बताया गया है कि "धर्मस्येव ध्वजं चिह्नं यस्य स धर्मध्वजी" इस प्रकार के समास से वास्तव में धर्मबुद्धि न होने पर भी धर्म के प्रतीकों को धारण करके पेट भरने के लिये दिखावटी भक्ति को दिखलाने वालों को धर्मध्वजी कहा जाता है । "लिङ्गधारणं वृत्तिर्जीवनं यस्य स लिङ्गवृत्तिः" इस प्रकार के समास से लिंग में निष्ठा न होने पर भी जीविका के निमित्त गले में लिंग को धारण करके सारे शरीर में लाल (गेरुआ) वस्त्र पहन कर और भस्म एवं रुद्राक्ष धारण करके घूमने वाले कपट वेषधारी ही लिंगवृत्ति कहे जाते हैं । इसी प्रकार "अव = व्रतान्तरे,

यस्य सोऽवकीर्णी, क्षतं व्रतं यस्य सः क्षतव्रतः। नष्टब्रह्मचर्यस्य नामानीति तद्व्याख्यानभूतलिङ्गाभट्टीये लिङ्गवृत्तिपदस्य मिथ्यानुष्ठानजीविपरत्वेन व्याख्यानाच्च लिङ्गधारणमवद्यमेवेति चेन्न, मनुस्मृतौ—"धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः। वैडालवृत्तिकश्चैव हिंस्रः सर्वाभिनिन्दकः॥" (४।१९५) इत्यादिना निन्द्यान् विगणय्य "अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति। स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते॥" (४।२००) इत्यनन्तरस्मृतौ कञ्चिल्लिङ्गधारिब्राह्मणमपि धार्मिकमन्नस्वर्णादिकं सजातीयानामेव दास्यामीति नियमवन्तं श्रुत्वा कश्चिद् धूर्तः स्मार्तः कपटलिङ्गधारिवेषेण तद्गृहं प्रविश्य अन्नस्वर्णादिकं गृहीत्वा जीवति। मध्याह्नसमयसमागतो ह्यतिथिरन्नं दातृगृहे भुक्त्वा स्वीयसुकृतजालं तस्मै दत्त्वा तदीयपापपञ्जरं परिगृह्य गच्छतीति पुराणगाथानुरोधेनायमपि कपटवेषधारी तदीयपापपञ्जरं प्रतिगृह्य

वृत्तिपदस्य जीविकायां प्रसिद्धत्वेन देवताप्रदर्शनद्वारा जीविकार्थमेव ग्रहणस्यान्याय्यत्वादित्याह—मा भूदित्यारभ्य लिङ्गाभट्टकृतं व्याख्यानमपि कीर्ण = स्खलितं रेतोऽस्यास्तीति अवकीर्णी" तथा "क्षतं व्रतमस्येति क्षतव्रती" इस प्रकार के समास से ब्रह्मचर्य को जो खो बैठे हैं, ऐसा अर्थ होता है। लिंगवृत्ति पद का 'वृत्ति' शब्द जीवनयापन रूप अर्थ का प्रकाशक है। पहले अलिंगी होकर बाद में लिंगी वेश में शिवलिंग को कण्ठ में धारण करके लोगों को भ्रम में डाल कर उस लिंग के आधार पर पेट पालना केवल पाप का ही स्वरूप है। मोक्ष की आकांक्षा से निरन्तर शिव की पूजा, शिव का ध्यान, शिवस्मरण और शिवजप आदि वास्तविक कार्यों से जगन्नियामक भगवान् शिव को सन्तुष्ट करना ही लिंगधारण का मुख्य लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य को छोड़ कर लिंगधारी के वेष में अपनी जीविका का निर्वहण करने वाला ही लिंगवृत्ति कहा जाता है। इस प्रकार के लिंगवृत्ति की निन्दा उपयुक्त ही है। इसी आशय का मनुस्मृतिकार इस प्रकार समर्थन कर रहे हैं कि— 'जो व्यक्ति शिवलिंगधारी नहीं है, वह लिंगधारी का वेष धारण करके साम्प्रदायिक शरणों के (शिवभक्तों के) घर जाकर अन्न

गच्छति, नियमभङ्गकारित्वात् । अनन्तरं तिर्यग्योनौ च जायत इत्युक्तत्वेनामरकोशपठितलिङ्गवृत्तिपदस्यापि तत्परत्वावश्यंभावान्न गुरुकृतदीक्षालब्धलिङ्गधारिब्राह्मणपरम् । अत एव मिथ्यानुष्ठानलक्षणजीविकावतो नामानीति लिङ्गाभट्टकृतव्याख्यानमपि संगच्छत इति । पुराणवचनानि तु सर्वलिङ्गं स्थापयतीत्यादिश्रुत्युपबृंहणत्वेन स्कान्दलैङ्गिकवचनानि कानिचिदुक्तान्येव । अन्यान्यपि लिङ्गधारणविधायकान्युदाह्रियन्ते । तत्र तावत् पद्मपुराणे शिवगीतासूपनिषत्सु सीतावियोगविह्वलरामचन्द्रान्तिकं गतवति भगवति लोपामुद्रावल्लभे तमभिवन्द्य कान्तावियोगजनितदुःखशान्तिकरतत्प्राप्त्युपायो वक्तव्य इति राघवेन पृष्टे निखिलसुरासुरदुर्जयशक्रजित्-कुम्भकर्णाद्यनुजतनुजवर्गवेष्टितदशकण्ठकण्ठलुण्ठनमन्तरेण जनकतनयाप्राप्तिर्न भवति, तच्च परमशिवप्रसादाधीनमित्युक्त्वा तत्प्रसादार्थं वेदसारशिवसहस्रनामभिर्मनुदीक्षां विधायैतैर्नामभिरुपास्यमानो महादेवः साक्षात्कृतो भूत्वा दिव्यास्त्रशस्त्रादिकं दास्यति, तेन

सङ्गच्छत इत्यन्तग्रन्थेन । वाक्यानि तु स्पष्टार्थकानीति न व्याख्यायन्ते ।

और सुवर्ण आदि का दान लेकर उन लोगों के व्रत को भ्रष्ट करते हैं, वे पापी पशु की जाति में जन्म लेते हैं" । इन सबसे स्पष्ट है कि यह वाक्य सम्प्रदाय के अनुसार गुरु से शिवदीक्षा संस्कार को पाकर परिशुद्ध देहवाला होकर जो शिवकला से विशिष्ट लिंग को धारण करता है, उसके निमित्त नहीं कहा गया है ।

शिवगीता में लिंगधारण

इसके बाद पद्मपुराणान्तर्गत अगस्त्य-राघव संवादरूप शिवगीता से भी लिंगधारण सिद्ध किया जाता है । जब श्रीराम दण्डकारण्य में निवास करते थे, उस समय दुष्ट रावण ने सीता का अपहरण कर लिया । भगवान् राम सीता के वियोग में असह्य परिताप का जब अनुभव कर रहे थे, तब भगवान् अगस्त्य श्रीराम के पास आये । उस समय श्रीराम बहुत ही विनम्रता के साथ उनको प्रणाम कर

च रावणं निहत्य सीतां प्राप्स्यसीत्युक्त्वाऽन्तरधादित्यर्थक—"मोक्तुमैच्छत्ततः प्राणान् सानुजो रघुनन्दनः। लोपामुद्रापतिर्ज्ञात्वा तस्य सन्निधिमागमत् ॥" इत्यारभ्य—"एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठे गते तस्मिन्निजाश्रमम्" इत्यन्तेनाभिधाय अनन्तराध्याये—"अथ रामगिरौ रामः पुण्ये गोदावरीतटे। शिवलिङ्गं प्रतिष्ठाप्य कृत्वा दीक्षां यथाविधि ॥ भूतिभूषितसर्वाङ्गो रुद्राक्षाभरणैर्युतः। अभिषिच्यजलैःपुण्यैर्गौतमीसिन्धुसम्भवैः॥ अर्चयित्वा वन्यपुष्पैस्तद्वद्वन्यफलैरपि। भस्मच्छन्नो भस्मशायी व्याघ्रचर्मासने स्थितः॥ नाम्नां सहस्रं प्रजपन् नक्तन्दिवमनन्यधीः॥" इत्यादिना दाशरथितपःप्रभावमुपवर्ण्य समनन्तरं

"अथ रामगिरौ रामः पुण्ये गोदावरी तटे। शिवलिङ्गं प्रतिष्ठाप्य कृत्वा दीक्षां यथाविधि ॥ भूतिभूषितसर्वाङ्गो रुद्राक्षाभरणैर्युतः। अभिषिच्य जलैः पुण्यैर्गौतमीसिन्धुसम्भवैः ॥ अर्चयित्वा वन्यपुष्पैस्तद्वद् वन्यफलैरपि। भस्मच्छन्नो भस्मशायी व्याघ्रचर्मासने स्थितः। नाम्नां सहस्रं प्रजपन् नक्तंदिवमनन्यधीः ॥" इत्यादिशिवगीताप्रदर्शितरामचन्द्रतपःप्रयोजकागस्त्य-नाना प्रकार से सत्कार करते हुए उनसे पूछते हैं कि हे महर्षिपुंगव! सीता के वियोग का दुःख असह्य होने के कारण मैं बहुत ही पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ! इस दुःख का उपशामक कोई उपदेश मुझे दीजिये। ऐसी प्रार्थना करने पर महर्षि अगस्त्य कहते हैं कि हे राम! रावण तो महाबलशाली है ही, साथ ही उसे सुरासुरों के विजेता इन्द्रजित्, कुम्भकर्ण आदि महान् बलशालियों की सहायता भी प्राप्त है। तुम वर्तमान स्थिति में उससे युद्ध करने में समर्थ नहीं हो और युद्ध में उन्हें मारे बिना तुम्हारा वियोगजन्य परिताप दूर नहीं हो सकता। ऐसा कहने पर श्रीराम कहते हैं कि—हे मुनिश्रेष्ठ! आप समुद्र को पार करके लंका में प्रविष्ट होकर रण में रावण का संहार करने का उपाय बताइये। इस समय तो आपके बिना मेरा कोई रक्षक नहीं है। ऐसी प्रार्थना करने पर भगवान् अगस्त्य कहते हैं कि—हे राम! नाशरहित जो पार्वतीपति हैं, उनकी आराधना करो। शीघ्र ही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जायगा। ब्रह्मा, इन्द्र आदि से अजेय उस रावण को भगवान् शिव की अनुकम्पा के बिना तुम मार नहीं

दुष्करतपःप्रभावात् साक्षात्कृतेन परमशिवेन पाशुपतादि-दिव्यास्त्रशस्त्रादिकं दत्त्वा तत्त्वोपदेशः कृत इत्यभिहितम् । ततश्च शिवराघवसंवादे मोक्षासाधारणकारणतया भक्तिमार्ग-प्रदर्शनानन्तरम्—"भक्तियोगो मया प्रोक्त एवं कुरु रघूत्तम । सर्वकामप्रदान्मत्तः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।।" इति परमशिवे-

---

भगवत्कृतोपदेशानन्तरमधिकारानधिकारनिरूपणावसरे—"अज्ञोऽपहासोऽ-भक्तश्च भूतिरुद्राक्षधारणे । लिङ्गिनो यश्च वा द्वेष्टि ते नैवात्राधिकारिणः ।।" इति लिङ्गधारिद्वेषिणां पाशुपतदीक्षायामनधिकारोक्त्या लिङ्गधारणस्य तत्कर्तॄणां च माहात्म्यमर्थात् सिद्धं भवति । रामचन्द्रस्य तपोवर्णने तु—"शिवलिङ्गं प्रतिष्ठाप्य" इत्युक्त्या "वालुकावेदिकामध्ये तल्लिङ्गं स्थाप्य

सकोगे । इसलिये शिवागमों के कथनानुसार शिवाराधना की योग्यता की उत्पादिका शिवदीक्षा मैं तुम्हें देता हूँ । शास्त्रमर्यादा के अनुसार तुम शिव की आराधना करो । इससे भगवान् शिव प्रत्यक्ष होकर तुम्हारी कामना को पूर्ण करेंगे । तुम तेजस्वी होकर अनायास ही शत्रु को जीत लोगे, तुम्हारी कामना के अनुरूप सिद्धि को प्राप्त कर लोगे, सुखपूर्वक राज्यभार का ग्रहण करोगे और शरीरपात के बाद शिवसायुज्य प्राप्त करोगे ।

तब श्रीराम ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं कृतार्थ हूँ । समुद्र को पान करने वाले आप जब मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे क्या दुर्लभ हो सकता है ? मुझे शिवानुग्रहहेतुक शिवदीक्षा देने का अनुग्रह करें । ऐसी प्रार्थना करने पर अगस्त्य मुनि श्रीराम को शिवदीक्षा देकर और पाशुपत व्रत की विधि बता कर अपने आश्रम पधारते हैं । तब से श्रीराम महान् शिवभक्त होकर पुण्य नदी में स्नान करके भस्म, रुद्राक्ष आदि से अलंकृत होकर गोदावरी के तटवर्ती रामगिरि में शिवलिंग की प्रतिष्ठा करके पूजा करने का उपक्रम करते हैं । एक मास तक केवल फलों का सेवन करके, दूसरे मास में केवल गीली पत्ती खाकर, तीसरे माह में मात्र जल का पान करके, चौथे माह में केवल वायुभक्षण करते हुए निरन्तर दहराकाश में देदीप्यमान भगवान् शिव का ध्यान करते हुए अतिकठोर तपस्या करते हैं । इतने में प्रलयकालीन गर्जना की तरह बड़ी भयंकर ध्वनि होती है । उस ध्वनि को सुनकर भय एवं भ्रान्ति से विह्वल श्रीराम आकाश की तरफ देखते हैं, तो आकाश में एक अद्भुत तेज का पुंज दिखाई पड़ता है । यह तो भयंकर राक्षसों की

नाभिहिते—"भगवन्मोक्षमार्गोऽयं त्वया सम्यगुदाहृतः। तत्राधिकारिणं ब्रूहि तत्र मे संशयो महान्॥" इति रामप्रश्ने— "ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रास्त्रियश्चात्राधिकारिणः। ब्रह्मचारी गृहस्थो वाऽनुपनीतोऽथवा द्विजः। वनस्थो वाऽवनस्थो वा यतिः पाशुपतव्रती॥ बहुनात्र किमुक्तेन यस्य भक्तिः शिवार्चने। स एवात्राधिकारी स्यान्नान्यचित्तः कथञ्चन॥" इत्यधिकारिणो विगणय्य अनन्तरम्—"जडोऽन्धो बधिरो मूको

रावणः। अर्चयामास गौरीशं पुष्पैराहुतिगन्धिभिः॥" इत्यादिवाल्मीकि-

माया है, ऐसा समझकर कोप की अधिकता के कारण युद्ध करने के लिये सन्नद्ध होकर हाथ में धनुष, बाण. चक्र, महाचक्र और कालचक्र आदि को लेकर वे इनका प्रयोग करने लगते हैं। ये सब अस्त्र समुद्र में गिरने वाले ओलों की तरह उस ज्योति में लीन हो जाते हैं। इस विस्मयजनक स्थिति को देख कर लक्ष्मण मूर्च्छित हो जाते हैं। इस दृश्य को देख कर श्रीराम भय से आकुल होकर जमीन पर घुटने टेक कर आँख मूँद कर उच्च स्वर से शिवसहस्रनाम का उच्चारण करते हुए नाना प्रकार के स्तोत्रों से स्तुति करके जब ध्यान में डूब जाते हैं, तो फिर दूसरी बार एक भयंकर शब्द सुनाई पड़ता है। पृथिवी डर से काँपने लगती है, पर्वत डोलने लगते हैं, दसों दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठती हैं, देवता लोग आकाश से पुष्पवृष्टि करने लगते हैं।

तब श्रीराम अपने ध्यान को समाप्त कर हाथ जोड़ कर धीरे से उठते हैं। उस समय वृषभारूढ एवं करोड़ों सूर्य के समान प्रकाश्यमान भगवान् शिव प्रत्यक्ष होकर श्रीराम को आश्वासन देकर वरप्रदान करते हुए शत्रुविजयहेतुक पाशुपत आदि अस्त्रों का उपदेश करते हुए कहते हैं कि—हे राम! इस समय मैंने तुम्हें जो उपदेश किया है, तदनुसार तुम आचरण करो। ऐसा भगवान् शिव द्वारा कहे जाने पर श्रीराम ने उनसे कहा कि—हे देवदेव परमेश्वर! लोककण्टक रावण को जीतने के लिये महास्त्र एवं उनके प्रयोग करने का समय एवं विधि बताने के साथ ही आपने मोक्षमार्ग का भी उपदेश किया है। अब इस मोक्ष का अधिकारी कौन है, इस विषय को जानने की मेरी अभिलाषा है। ऐसी प्रार्थना करने पर ईश्वर ने कहा कि—हे राम! ज्यादा कहने की जरूरत नहीं है? जो अनन्य चित्त से शिव की आराधना (भक्ति) करता है, वही मोक्ष का अधिकारी

निश्शौचः कर्मवर्जितः । अज्ञोपहासोऽभक्तश्च भूतिरुद्राक्षधारणे । लिङ्गिनो यश्च वा द्वेष्टि ते नैवात्राधिकारिणः ।।'' इत्यपवर्गानधिकारिनिरूपणे लिङ्गाङ्गिदूषकाणां मोक्षानधिकारित्वप्रदर्शनाल्लिङ्गधारणसिद्धिः, लिङ्गाङ्गिनिन्दकानामनधिकारित्वप्रदर्शनेन लिङ्गधारणवतां तदासक्तचित्तानां च मोक्षाधिकारित्वमर्थात् सिद्धमित्यवगन्तव्यम् ।

अपि च—''महाजनो येन गतः स पन्थाः'' इति न्यायेन कश्यपात्रिभरद्वाजादिमहर्षिसंघेन हिरण्यगर्भनारायणादि देवतासमाजेन लक्ष्मीसरस्वतीप्रमुखमहाशक्तिभिरन्यैश्चात्यन्ताभ्यर्हितैः शिवलिङ्गधारणस्याचरितत्वेन तस्य वैदिकजनपरिग्राह्यत्वमकामेनापि स्वकरणीयम् । तथाहि लैङ्गे—

रामायणप्रदर्शितरावणकर्तृकशिवस्थापनवद् वेदिकादौ स्थापनमेव दर्शितम् । परन्तु लिङ्गिनो यश्च वा द्वेष्टीत्युक्तिर्लिङ्गसत्त्वमवश्यं गमयति ।

एवम्—''कश्यपात्रिभरद्वाजगौतमाद्या महर्षयः । धारयन्ति सदा लिङ्गमुत्तमाङ्गे विशेषतः ।।'' इत्यादि, लिङ्गं त्रिभुवनेश्वरमित्यन्तं लिङ्गपुराणवाक्यम्, तथोरःस्थले हरिर्लिङ्गमित्यादि धृत्वा मूर्ध्नि पितामह इत्यादि

है । जो बुद्धिहीन, अन्धा, बहिरा, गूँगा, विहित कर्मों को न करने वाला, दैव भक्तिरहित और उपहासक है, विभूति एवं रुद्राक्ष आदि में जो निष्ठा नहीं रखता हैं, वह मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता । जो शिवलिंगधारियों से द्वेष करता है, वह भी मोक्ष के लिये अधिकारी नहीं हो सकता ।

पुराण और लिंगधारण

'महाजनो येन गतः स पन्थाः'' अर्थात् शास्त्रज्ञ, तपोनिष्ठ और ज्ञानवृद्ध महानुभाव अनादि काल से जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं उसी मार्ग का अनुसरण सभी को करना चाहिये । इस लौकिक न्याय के अनुसार पूर्व काल में प्रसिद्ध उस शिव लिंग को कौन कौन अपने कण्ठ आदि उत्तम अंगों में धारण करके और आराधना करके कौन सा फल प्राप्त कर लिया है ? यह बात व्यास महर्षि द्वारा रचित लिंगपुराण में सुस्पष्ट की गई है । वहाँ कहा गया है कि महान् तपस्वी कश्यप, अत्रि, भरद्वाज और गौतम आदि महर्षि लोग शिवलिंग

''कश्यपात्रिभरद्वाजगौतमाद्या महर्षयः। धारयन्ति सदा लिङ्गमुत्तमाङ्गे विशेषतः।। नारायणोऽपि भगवान् देवा ब्रह्मादयोऽनघाः। धारयन्त्युत्तमाङ्गेषु शिवलिङ्गमनामयम्।। लक्ष्मीसरस्वतीमुख्याः स्वललाटोर्ध्वदेशके। धारयन्त्यप्रमादेन लिङ्गं त्रिभुवनेश्वरम्।।'' इति। स्कान्दे शङ्करसंहितायाम्—''उरःस्थले हरिर्लिङ्गं धृत्वा मूर्ध्नि पितामहः। लिङ्गस्थं मां समाराध्य स्वं स्वं पदमवापतुः।। मल्लिङ्गं मस्तकाद्यङ्गे धृत्वा शक्रपुरोगमाः। देवा मां लिङ्गमध्यस्थं पूज्य स्वं स्वं पदं ययुः।। लक्ष्मीसरस्वतीमुख्या देव्यो मल्लिङ्गमादरात्। धृत्वा निजाङ्गे तल्लीनभावा जग्मुः परं सुखम्।।'' इति। सिद्धान्तशिखामणौ—''ब्रह्मविष्ण्वादयो

शङ्करसंहितावाक्यत्रयम्, एवम्—''ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा मुनयो गौतमादयः'' (६।५५) इत्यादिसिद्धान्तशिखामणिवाक्यद्वयं विधिबोधकपदाभावेऽपि महाजनाचारदर्शनेन लिङ्गधारणस्य कर्तव्यत्वं व्यञ्जयन्ति। ''रौद्रं समभ्यर्च्य

को अपने उत्तम अंगों में निरन्तर धारण करते हैं। षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न नारायण, चतुर्मुख ब्रह्मा और इन्द्र आदि आठ दिक्पाल भी भवरोग विनाशक इस शिवलिंग को अपने उत्तम अंगों में धारण करते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, शची देवी आदि महाशक्तियाँ भी त्रिभुवनाधिपति स्वरूप शिवलिंग को बहुत ही जागरूकता से अपने अपने भाल भागों में धारण करती हैं। स्कन्दपुराण की शंकरसंहिता में बताया गया कि शिवलिंग को विष्णु ने अपने वक्षस्थल में और ब्रह्मा ने शिर पर धारण करते हुए उस शिवलिंग में रहने वाले भगवान् शिव की निरन्तर पूजा कर विष्णुपद और ब्रह्मपद को प्राप्त किया है। इन्द्र आदि देवता शिवलिंग को मस्तक, कण्ठ, वक्षस्थल आदि उत्तम अंगों में धारण करते हुए निरन्तर पूजा करने के कारण अपने अपने पद को प्राप्त करते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियाँ उस शिवलिंग को अपने अंगों में धारण कर और उसी लिंग में अपने मन को लीन कर निरतिशय सुख को प्राप्त करती हैं।

सिद्धान्तशिखामणि में भी कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता, गौतम आदि महर्षि, लक्ष्मी आदि शक्तियाँ शिवभक्ति से विशिष्ट होकर निरन्तर अपने अपने उत्तम अंगों में शिवलिंग को धारण करते हैं।

देवा मुनयो गौतमादयः। धारयन्ति सदा लिङ्गमुत्तमाङ्गे विशेषतः ॥ लक्ष्म्याद्यादिशक्तयः सर्वाः शिवभक्तिविभाविताः। धारयत्यलिकाग्रेषु शिवलिङ्गमहर्निशम् ॥"(६।५५-५६) इति। अत्र च—"उत्तमाङ्गे गले वापि" इत्यादिवचनावगमितलिङ्ग-धारणस्थानविशेषप्रदर्शनपूर्वकं देवर्षीणां लिङ्गधारणं स्पष्टमेव। ब्रह्मवैवर्ते—"रौद्रं समभ्यर्च्य हि लिङ्गमादौ शिलामयं चारु हरिः स्वभक्त्या। सुदुर्लभं वैष्णवमाद्यमग्र्यमवाप्तवानेष परं पदं तत् ॥"

आदित्यपुराणे—"ब्रह्मा पूजयते नित्यं लिङ्गं शैलमयं शुभम्। यस्य सम्पूजनादेव प्राप्तं ब्रह्मत्वमुत्तमम् ॥ शक्रोऽपि देवराजेन्द्रो लिङ्गं मणिमयं शुभम्। भक्त्या पूजयते नित्यं तेन शक्रत्वमाप्तवान् ॥ इन्द्रनीलमयं लिङ्गं विष्णुः पूजयते सदा। विष्णुत्वं प्राप्तवांस्तेन वैकुण्ठं च सनातनम् ॥ सोमो मुक्तामयं लिङ्गं धनदो हैमलिङ्गकम्। वायुः पित्तलजं

हि लिङ्गमादौ शिलामयं चारु हरिः स्वभक्त्या" इत्यादिब्रह्मवैवर्तादिवाक्यैः शिलामयस्येन्द्रनीलमणिमयस्य च रुद्रलिङ्गस्य पूजनाद् विष्णोः शैलमयस्य पूजनाद् ब्रह्मणो मणिमयस्य पूजनाच्छक्रस्य मुक्तामयस्य पूजनाच्चन्द्रस्य सुवर्णमयस्य पूजनात् कुबेरस्यापि शिलामयस्य शिवलिङ्गस्य पूजनाद् वायोः कांस्यलिङ्गस्य पूजनाद् वसूनां स्फटिकलिङ्गस्य पूजनाद्

ब्रह्मवैवर्त पुराण का कहना है कि हरि (विष्णु) शिलामय लिंग की भक्ति से आराधना करके किसी से भी अलभ्य, जगद्रक्षण के निमित्त अपेक्षित कर्तृत्व को प्राप्त कर सर्वोत्कृष्ट विष्णुपद पर विराजमान हैं।

आदित्यपुराण में भी कहा है कि चतुर्मुख ब्रह्मा प्रतिदिन शिलामय शिवलिंग की आराधना करके जगत्सर्जनकर्तृत्व को, देवता सार्वभौम देवेन्द्र रत्नमय शिवलिंग की आराधना करके स्वर्ग के आधिपत्य को, विष्णु इन्द्रनीलमय लिंग की आराधना करके जगद्रक्षणकर्तृत्व को, चन्द्रमा मुक्तामय लिंग की आराधना करके जगत् को प्रकाशित करने की सामर्थ्य को, कुबेर सुवर्णमय लिंग की आराधना करके नव-

लिङ्गं वसवः कांस्यलिङ्गकम् ।। अश्विनौ मरुतश्चैव स्फाटिकं लिङ्गमादरात् । दिवाकरस्ताम्रमयं पन्नगास्तु प्रवालकम् ।। असुराः कार्षजं लिङ्गं पिशाचास्त्रपुजं तथा । एवं देवाः सगन्धर्वाः सयक्षोरगराक्षसाः ।। पूजयन्ति सदा लिङ्गमीशानं सुरनायकम् ।।" इति । पराशरपुराणे—"रौद्रं लिङ्गं महाविष्णुर्भक्त्या शुद्धं शिलामयम् । चारुचित्रं समभ्यर्च्य लब्धवानुत्तमं पदम् ।।", भारते द्रोणपर्वणि—"देवदेवस्त्वचिन्त्यात्मा ह्यजय्यो विष्णुरव्ययः । सर्वरूपं भवं ज्ञात्वा लिङ्गेऽर्चयति तं प्रभुम् ।। तस्मिन्नभ्यधिकां प्रीतिं करोति वृषभध्वजः ।।" इति । कूर्मपुराणे—"ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वं विष्णोर्दानवमर्दनम् । स्वर्गाधिपत्यमिन्द्रस्य शिवलिङ्गस्य पूजनात् ।।" इति ।

अश्वमरुतां ताम्रमयस्यार्चनाद्, दिवाकरस्य प्रवाललिङ्गपूजनात् पन्नगानां कार्षजलिङ्गपूजनादसुराणां रङ्गमयलिङ्गपूजनात् पिशाचानां स्वस्वाधिकारप्राप्तिबोधनद्वारा सर्वेषां देवानां तत्तच्छिवलिङ्गे शिवाराधकत्वमिष्टशिवलिङ्गसान्निध्यं च सूचितं भवति। एवं भारते द्रोणपर्वणि वर्तमानं सर्वभूतभवं ज्ञात्वेत्यादिवाक्यमपि व्याख्येयम् ।

निधियों के स्वामित्व को प्राप्त करते हैं। वायुदेव पीतल के लिंग की, अष्टवसु फूल (कांस्य) के लिंग की, अश्विनीकुमार एवं अन्य देवता स्फटिक लिंग की, सूर्य ताम्रलिंग की, नागेन्द्र मणिमय लिंग की, असुर गूलर की लकड़ी से बनाये गये लिंग की, पिशाच रांगा के लिंग की प्रतिदिन पूजा करते हुए अपने-अपने अभिलषित स्थिरपद को प्राप्त करते हैं। ऐसे ही यक्ष, गन्धर्व, राक्षस और उरग (नाग) आदि समस्त देवदानव देवोत्तम भगवान् शिव की आराधना करते हैं। पराशर पुराण का कहना है कि जगद्रक्षणशील महाविष्णु ने शिलामय लिंग की भक्ति से आराधना करके अत्युत्तम विष्णुपद को प्राप्त किया है। महाभारत के द्रोणपर्व में कहा गया है कि नाशरहित, अजेय, देवोत्तम, अतिसूक्ष्म और अचिन्त्य स्वरूप विष्णु भवशब्दवाच्य निग्रहानुग्रहसमर्थ भगवान् शिव की आराधना करके ही वृषभध्वज परमेश्वर की प्रीति को प्राप्त कर सके हैं। कूर्मपुराण का भी कहना है कि शिवलिंग की पूजा करके ही ब्रह्मा ने जगत् की सृष्टि करने की सामर्थ्य को, विष्णु ने समस्त राक्षसों का संहार करने की शक्ति को, इन्द्र ने सार्वभौमस्वरूप स्वर्गलोकाधिपत्य को प्राप्त किया है।

नन्वत्र भारतब्रह्मवैवर्तादित्यपुराणादिवचनैः सर्वदेवानामन्येषां च तत्तत्फलोद्देशेन पीठादावेव शिवलिङ्गपूजनमभिहितमिति कथं शरीरधृतलिङ्गपूजापरत्वं तद्वचनानाम् ? इति चेन्मैवम्, स्कान्दलैङ्गादिपूर्वोदाहृतवचनैरिन्द्रोपेन्द्रहिरण्यगर्भादीनां मस्तककन्धरादिधारणस्थानप्रदर्शनपूर्वकं लिङ्गधारणविधानेन लिङ्गधारिणां करपीठपूजायाः साधितत्वेन च भारतादिवचनानां तद्विरुद्धदारुपीठाद्यधिकरणकशिवलिङ्गपूजापरत्वा-

---

पीठादावेवेति । वस्तुतस्तत्रेष्टापत्तिरुचिता, अष्टादशसु पुराणेषु भारतादीतिहासेषु च वर्तमानानां सर्वेषां वाच्यानामेकस्मिन्नेवार्थे उपसंहारसाहसे फलाभावात् । बहूनि वाक्यानि सोमनाथमल्लिकार्जुनकेदारेश्वरादिज्योतिर्लिङ्गमाहात्म्यप्रख्यापकानि सन्ति । बहूनि वेदिप्रतिष्ठितशिवलिङ्गपूजामाहात्म्यबोधकानि सन्ति । तेषां सर्वेषामिष्टलिङ्गविषयकत्वोपपादने उपपादयितुरप्रामाण्यापत्तेः । तस्माल्लिङ्गपुराणकामिकागमादिवाक्यैरेव स्वेष्टमेतद्

शंका—ब्रह्मवैवर्न, आदित्यपुराण और महाभारत आदि ग्रन्थों में विष्णु आदि समस्त देव और दानवों ने शिवलिंग की पूजा की, ऐसा तो बताया गया है, किन्तु शिवलिंग को देह में धारण करते हुए उस शिवलिंग की हथेली पर रखकर पूजा करने की बात तो कहीं नहीं की । इसलिये जमीन पर प्रतिष्ठित सोमनाथ, मल्लिकार्जुनलिंग और केदारलिंग आदि पुराणप्रसिद्ध ज्योतिर्लिंगों की पूजा करने से अथवा इन्द्रनील, स्फटिक आदि के शिवलिंगों को काष्ठ, रजत अथवा सुवर्ण आदि पीठों पर रखकर पूजा करने से उनको फल मिला, ऐसा तो कह सकते हैं, परन्तु निरन्तर देह में धारण करके नियमित रूप से हथेली पर रखकर पूजा करने से उक्त फल मिला, ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—ऐसी बात नहीं, अभी बताये गये लिंगपुराण, स्कन्दपुराण और सिद्धान्तशिखामणि आदि ग्रन्थों में ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र आदि देवता; लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियाँ सबके सब शिवलिंग को अपने उत्तम अंगों में धारण करते हैं, ऐसा बताया गया है । ब्रह्मवैवर्त, आदित्यपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थ सामान्यतया लिंगपूजा की बात करते हैं, तो भी अपनी हथेली पर रखकर नियमित रूप से प्रतिदिन पूजा करते हैं, इस प्रकार के पुष्ट कथन के परिशीलन से और

योगेन हस्ताधिकरणकपूजाविधायकत्वे सिद्धे नारायणेन्द्रादीनां लिङ्गधारणसिद्धेर्वज्रलेपायितत्वादिति ।

किञ्च, "ईश्वरं तमहं वन्दे यस्य लिङ्गमहर्निशम् । यजन्ते सह भार्याभिरिन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः ।।" इति ब्रह्माण्डपुराणे चिदम्बरसंहितावचनेनापीन्द्रादीनां लिङ्गधारणं साक्षादेव सिद्धं भवति । तत्र—"यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु" (१००२ भ्वा०) इति सूत्रेण यजधातोः सम्बन्धरूपसङ्गतिकरणार्थकत्वेनेन्द्रज्येष्ठा इन्द्रप्रमुखा मरुद्गणा देवा यस्य शिवस्य शरीरभूतं लिङ्गंभार्याभिः सहयजन्तेऽविभाज्यसम्बन्धेन धारयन्तीत्यर्थः ।

ग्रन्थकृद्भिः साधयितुमुचितम् । लिङ्गात्मकशिवविग्रहे शिवपूजाविधायकानि तु परःसहस्राणि वाक्यानि सन्तीति नास्ति तदंशे कस्यापि विवादः ।

एवमेव—"ईश्वरं तमहं वन्दे यस्य लिङ्गमहर्निशम् । यजन्ते सह भार्याभिरिन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः ।।" इति चिदम्बरसंहितावाक्ये यजधातोः "यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु" (१००२ भ्वा०) इति पाणिनीयधातुपाठदर्शितसङ्गत्यर्थकत्वोपपादनक्लेशाश्रयणमपि व्यर्थम्, यजन्त इत्यस्यात्यन्तप्रसिद्धपूजयन्त इत्यर्थं इव सङ्गच्छन्त इत्यर्थे विचारवतां श्रद्धानुत्पत्तेः, बहूनां वाक्यानां स्वार्थसाधकानां सद्भावेन कस्यचिद् वाक्यस्यैतादृशक्लिष्टव्याख्यानेन स्वेष्टोपयोगित्वोपपादने प्रयोजनाभावाच्च ।

कण्ठ आदि स्थानों में धारण करते हैं, ऐसी एकवाक्यता का निश्चय करना ही उचित है, न कि सुवर्ण आदि पीठों पर रखकर पूजा करते हैं, ऐसा निश्चय करना । इसके अतिरिक्त—"इन्द्र आदि देवता अपनी अपनी धर्मपत्नियों के साथ निरन्तर जिस परम शिवलिंग को धारण करते हैं, उस शिवलिंग को मैं नमस्कार करता हूँ" । इस प्रकार ब्रह्माण्डपुराण की चिदम्बरसंहिता में निर्दिष्ट होने से इन्द्र आदि देवता शिवलिंग को धारण करते थे, ऐसा स्पष्ट हो जाता है । इस श्लोक के—'यजन्ते' इस धातु का 'धारण करते हैं' ऐसा अर्थ लिया गया है, क्योंकि "यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु" इस पाणिनीय धातुपाठ में 'संगतिकरण' ऐसा एक अर्थ स्वीकार किया गया है । इस 'संगतिकरण' पद के सम्बन्धबोधक होने से देवता लोग अविभाज्य सम्बन्ध से शिवलिंग को धारण करते हैं, ऐसा निश्चय हो जाता है ।

नन्वेवमपीन्द्रादीनां हेमपीठादौ मणिमयादिलिङ्गपूजा-समये चन्दनलेपादिकादाचित्कसम्बन्धेनापि यजधात्वर्थसङ्गति-करणरूपार्थसिद्धेरविभाज्यसम्बन्धेन धारयन्तीत्यर्थः कथं सिद्धचतीति चेन्न, यावदहःकालवाचकाहःशब्दस्य निशाकाल-मात्रवाच्यनिशाशब्दस्य च यजधात्वन्वये सार्वकालिकधारण-सिद्धावविभाज्यसम्बन्धेनैव तत्सिद्धेः। न च यजधातोः सङ्गति-करणार्थकत्वेऽपि सङ्गतेर्यावदहर्निशकालीनत्वसिद्धावप्यन्तर्य-

---

एवमेव हेमपीठादौ मणिमयादिशिवलिङ्गस्येन्द्रादिकर्तृकपूजासमये हस्तकरणकचन्दनलेपादिना यजधातुप्रतिपाद्यसङ्गत्यर्थस्य निर्वाहादविभाज्य-सम्बन्धस्य न सिद्धिरित्याशङ्क्याह—अहर्निशमिति। तद्घटकस्याहःशब्दस्य यावद्दिनवाचकतया निशाशब्दस्य यावद्रात्रिवाचकतया "कालाध्वनोरत्यन्त-

शंका—लेकिन इस श्लोक में आये हुए 'यजन्ते' इस धातु का देवपूजा से सम्बद्ध भी अर्थ तो बताया गया है। इससे इन्द्र आदि देवता सुवर्ण आदि बाह्य पीठों के ऊपर रत्नमय शिवलिंग को रखकर प्रातःकाल आदि समयों में चन्दन आदि पूजा-द्रव्यों को धारण कराते हैं, यह अर्थ ही संगत लगता है। इस प्रकार की एक एक समय पर की जाने वाली पूजा को छोड़कर निरन्तर देह में धारण करना चाहिये, ऐसा अर्थ क्यों स्वीकार किया जाय ?

समाधान—इसलिये कि 'ईश्वरं····मरुद्गणाः" इस चिदम्बरसंहिता के श्लोक में 'यजन्ते' ऐसा क्रियापद तो है ही, इसके अतिरिक्त 'अहर्निशम्' ऐसा भी एक पद है। यहाँ पर 'अहः' पद पूर्णतया दिन को और 'निशा' पद रात को बता रहा है। इस प्रकार 'अहर्निशम्' यह शब्द 'यजन्ते' इस पद के यज धातु में विशेषणता सम्बन्ध से अन्वित करने पर दिन-रात ऐसे कालभेद का विभाजन न करते हुए सभी कालों में इष्टलिंग को अविभाज्य (भेदरहित) सम्बन्ध से धारण करना है, ऐसा अर्थ सिद्ध हो जाता है और बाह्य (सुवर्ण आदि के) पीठों में रखकर कभी-कभी शुभ दिनों में पवित्र हस्त से पूजा करनी है, इस प्रकार के अर्थ को बताने का अवसर ही नहीं मिलता।

शंका—'यजन्ते' इस धातु के देवपूजा रूप अर्थ को न मानकर संगतिकरण (धारण) रूप अर्थ को स्वीकार करने से निरन्तर देह में लिंग को धारण करना

जन्त इत्येवार्थः स्वीक्रियते, तथा च न तेषां स्थूलाङ्गलिङ्गधारणसिद्धिरिति वाच्यम्, अन्तःपदस्य वचनेऽदृष्टत्वेनाध्याहारदोषापत्तेः, "मल्लिङ्गं मस्तकाद्यङ्गे धृत्वा शक्रपुरोगमाः" इत्यधिकरणविशेषणसमर्पणपूर्वकस्थूलाङ्गलिङ्गधारणविधायकपूर्वोदाहृतशङ्करसंहितावचनानुरोधाच्चेति ।

आगमवचनानि तु यावज्जीवलिङ्गधारणपूजाविधायकानि कानिचिदुक्तान्येव । अन्यान्यपि कामिकादिवातुलान्तागमेष्वनुसन्धेयान्येव । विस्तरभयान्नेह लिख्यन्ते ।

संयोगे द्वितीया" (पा० २।३।५) इति सूत्रविहितात्यन्तसंयोगार्थकद्वितीयायाः प्रापकतार्थकतया भक्तजीवनाधारभूतदिनरात्रित्वव्यापकत्वस्य रूप अर्थ के सिद्ध होने पर भी कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन कण्ठ आदि उत्तम अंगों में नैरन्तर्य सम्बन्ध से लिंग को धारण करना ही चाहिये, ऐसा अर्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? 'यजन्ते' इस क्रिया पद से अन्तरंग में (मन में) निरन्तर शिवलिंग का ध्यान करना चाहिये, ऐसे अर्थ की कल्पना क्यों नहीं कर सकते ?

समाधान— नहीं कर सकते, क्योंकि—इस श्लोक के 'यजन्ते' इस धातु का अन्तर्धारणपरक अर्थ करने का अवकाश नहीं मिल पाता। इस श्लोक में उस प्रकार के अर्थ को बताने वाला 'अन्तः' ऐसा कोई पद नहीं आया है। इस प्रकार के अर्थ के बोधक पद के न होने पर भी अन्यधारण अर्थ का ग्रहण करने के लिये 'अन्तः' ऐसे पद का अध्याहार किये जाने पर 'अध्याहार' नामक दोष की प्राप्ति होगी और 'मल्लिङ्गं मस्तकाद्यङ्गे धृत्वा शक्रपुरोगमाः" इस प्रकार के कण्ठ, मस्तक आदि स्थूलांगों में लिंगधारण का विधान करने वाले शंकरसंहिता आदि ग्रन्थों का विरोध होगा। इसलिये 'यजन्ते' यह क्रिया पद बहिर्लिंगधारणपरक है, ऐसा कहना ही न्यायसंगत है।

शिवागमों में लिंगधारण

इस प्रकार जीवनकाल पर्यन्त शरीर में शिवलिंग को धारण करना चाहिये और हथेली पर रखकर पूजा करनी चाहिये, इस अभिप्राय का समर्थन करने वाले श्रुति, स्मृति, पुराण आदि के वचनों को दृष्टान्त के रूप में दिया गया है। अब उसी तरह के कामिकादि वातुलागम पर्यन्त अट्ठाईस शैवागमों में लिंगधारण के बारे में जो बताया गया है, उसका उल्लेख यहाँ पर किया जाता है।

नन्वागमानामप्रामाण्यात् कथं तद्बोधितलिङ्गधारणादेः प्रामाण्यमिति चेन्न, आगमाप्रामाण्यं वदन् वादी प्रष्टव्यः— किमशेषागमानामप्रामाण्यम्, उत—"वातुलान्ताः कामिकाद्याः शिवप्रोक्ताः शिवागमाः" इत्यनेन परमशिवप्रणीतत्वेन प्रसिद्धानामष्टाविंशतिसंख्याकानां शैवागमानामप्रामाण्यम्, नारायणावतारविशेषबुद्धादिप्रणीतयागीयहिंसाया अधर्मसाधनत्वप्रतिपादकवेदविरुद्धजैनबौद्धाद्यागमानामप्रामाण्यं वा ?

नाद्यः, "न गायत्र्याः परं मन्त्रम्", "अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्" (म० स्त० ३५) इत्यादिना च वेदमातृगायत्र्यादिमहामन्त्रनित्यानुष्ठानपुरश्चरणादेरशेषब्राह्मणा-

---

सङ्गतिकरणरूपयजने बोधनेनाविभाज्यसम्बन्धः सिद्ध्यतीति समाधानम्, अन्तर्लिङ्गधारणेनान्यथासिद्धिशङ्कायामध्याहारदोषेण समाधानं च बोद्धव्यम् ।

आगमाप्रामाण्यं वदन् वादी प्रष्टव्य इति । अत्र विकल्पत्रयोपन्यासपुरःसरसमाधानग्रन्थस्यायमाशयः—विकल्पितकल्पेषु सर्वेषामागमानामप्रामाण्य-

शंका—मान लीजिये आपके कथनानुसार देह में शिवलिंगधारण की बात और हथेली पर पूजा की बात आगमों में बताई गई है, लेकिन हम लोग आगम वचनों को प्रामाणिक नहीं मानते । इस प्रकार के अप्रामाणिक आगमों में लिंगधारण की बात कहने मात्र से बहिर्लिंगधारण और हस्तपीठाधिकरण पूजा की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

समाधान—आपका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आगम केवल एक दो नहीं, असंख्य हैं । उनमें शैवागम, वैष्णवागम, बौद्धागम और जैनागम भी हैं । ये सब अप्रामाणिक हैं ? अथवा भगवान् शिव द्वारा उपदिष्ट आगम, जो कामिक आगम से लेकर वातुल पर्यन्त अट्ठाईस हैं ? ऐसा विकल्प हो जाता है । यदि कहा जाय कि सबके सब अप्रामाणिक हैं, तब तो—"गायत्री मन्त्र से उत्कृष्ट मन्त्र नहीं है, क्योंकि गायत्री को वेदमाता बताया गया है । अघोर मन्त्र से बढ़ कर कोई मन्त्र नहीं है । ऐसे ही गुरु से अतिरिक्त कोई श्रेष्ठ तत्त्व नहीं है" इस प्रकार के कथन से ऋगादि वेदों में मातृस्वरूप जो गायत्री मन्त्र है, उस मन्त्र का अनुष्ठान

वश्यकत्वेन—"जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं तथा। अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने ततः ।। तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः । नमः स्वाहा वषड्ढुं वौषट्फडन्तं हृदादिकम् ।। ...इत्येते मन्त्रपल्लवाः । मन्त्राणां पल्लवः पादः प्रणवः शिर उच्यते। शिरःपल्लवसंयुक्तो मन्त्रोऽभीष्टफल-प्रदः ।। ऋषिं मूर्ध्नि मुखे च्छन्दः देवतां हृदि विन्यसेत् । आधारे बीजशक्तिं च पादयोः कीलकं न्यसेत् ।। मूकः सुप्तो मृतो नग्नो वीर्यहीनो वृथाफलः । भुजङ्गः कीलितः शून्य ईदृङ्-मन्त्रा वृथाफलाः ।। न्यासं विना भवेन्मूकः सुप्तः स्यादासनं विना । पल्लवेन विना मन्त्रो नग्नस्तु परिकीर्तितः ।। शिरो-हीनो मृतः प्रोक्तो वृथा मन्त्रो गुरुं विना। ऋषिदैवतछन्दोभि-

---

मिति कल्पः कामिकादिवातुलान्तागमानामप्रामाण्यमिति कल्पश्च तावत् केनाप्यास्तिकेन स्वीकर्तुं न शक्यते, सकलास्तिकगणैः प्रामाण्येन स्वीकृतस्य गायत्र्यादिमन्त्राणां पुरश्चरणविधेस्तान्त्रिकमन्त्राणां दीक्षाविधेर्मन्त्राङ्गभूत-शिरःपल्लवादिपारिभाषिकार्थस्यागमेष्वेव निरूप्यमाणत्वात् । अवशिष्यते

और पुरश्चरण आदि अवश्य कर्तव्य है, ऐसा सिद्ध हो जाता है। जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, कर्षण, दीपन और गुप्ति—ये दस मन्त्र के संस्कार हैं। नमः, स्वाहा, वषट्, वौषट्, हूँ और फट् इस प्रकार हृदयादि स्थानों में न्यास किये जाने वाले मन्त्रों के छः पल्लव आगमों में ही बताये गये हैं। "पल्लव ही मन्त्र का पाद है, प्रणव ही शिर है" इस कथन से मन्त्रांग स्वरूप शिर और पाद से रहित मन्त्र फल प्रदान नहीं कर सकते। 'उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का शिर में, उन मन्त्रों के छन्दों का मुख में, उन मन्त्रों के देवताओं का हृदय में, उन मन्त्रों की बीजशक्ति का आधार में, उन मन्त्रों के कीलक का पादों में न्यास करना चाहिये"। इस प्रकार का न्यास किये बिना जपे गये मन्त्र मूक कहे जाते हैं। आसनशुद्धि के बिना जपित मन्त्र सुप्त कहे जाते हैं। पल्लव के बिना जपे गये मन्त्र नग्न कहे जाते हैं। शिरस् के बिना जपित मन्त्र मृत कहे जाते हैं। गुरु से उपदेश लिये बिना जपे गये मन्त्र निष्फल कहे जाते हैं। ऋषि, देवता, छन्द के बिना जपित मन्त्र भुजंग कहे जाते हैं। दुष्ट गुरु द्वारा

र्वजितस्तु भुजङ्गमः । मृतो दुष्टाथ दत्तो यो निर्वीर्यश्चाधि-काक्षरः ।। अन्तरं नैकबीजेन व्याप्तः कीलित उच्यते । यस्य जप्यं शृणोत्यन्यः स मन्त्रः शून्य उच्यते ।।" इत्यादिना जनन-जीवनादिमन्त्रसंस्कारादिनमःस्वाहावषट्कारादिपल्लवहृदया-दिस्थानविशेषन्यसनीयऋषिदेवताछन्दोबीजादिसमर्पकाणां मू-कत्वसुप्तत्वादिमन्त्रदोषतन्निवर्तकासनशुद्ध्यादिप्रतिपादकाना-मङ्गावरणादिविधायकानां तत्तदागमान्तर्गतवचनानामप्रामाण्ये गायत्र्यादिमहामन्त्रनित्यानुष्ठानपुनश्चरणादेरसिद्धेः ।

न द्वितीयः, "शिवसंस्कारिणां चैव ज्ञानधर्मवतां सताम् । अष्टाविंशतिभेदेन प्रोक्तं शैवमिति स्मृतम् ।। कामिकं योगजं चिन्त्यं कारणं त्वजितं तथा । दीप्तं सूक्ष्मं सहस्रं चांशुमत् सुप्रभेदकम् ।। विजयं चैव निश्वासं स्वायम्भुवमथानलम् । वीरं च रौरवं चैव मकुटं विमलं तथा ।। चन्द्रज्ञानं च बिम्बं च प्रोद्गीतं ललितं तथा । सिद्धं सन्तानशर्वोक्तं पारमेश्वर-मेव च ।। वातुलं किरणं चैवेत्यष्टाविंशतिसंहिताः ।। इत्या-गमेषु वेदेषु वेदान्तोपनिषत्सु च । धर्मस्तु शास्त्रतः प्रोक्तो मुक्तेर्माहेश्वरो महान् ।।" इति वीरागमोक्तरीत्या मुक्त्युपाय-

---

उपदिष्ट मन्त्र मृत कहे जाते हैं और अधिक अक्षर वाले अथवा बीज, कीलक आदि के बिना जपित मन्त्र निर्वीर्य होते हैं । इस प्रकार अंगविकल शून्य मन्त्रों को नहीं जपना चाहिये, सुनना नही चाहिये, ऐसा आगमों से बताया गया है । यदि इन आगमों को अप्रामाणिक माना जाय तो गायत्री-पुरश्चरण आदि का कोई फल नहीं होना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमत्, सुप्रभेद, विजय, निश्वास, स्वायंभुव, अनल, वीर, रौरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब, प्रोद्गीत, ललित, सिद्धसन्तान, शर्वोक्त, पारमेश्वर, किरण और वातुल नामक अट्ठाईस शैवागमों में और वेद, वेदान्तोपनिषत् आदि

त्वेन प्रसिद्धशैवागमानामप्रामाण्ये—"शिवे शिवागमे शैवे धर्मे शिवपरिग्रहे। जङ्गमे प्राणलिङ्गैक्ये शिवलिङ्गार्चने गुह ।। शिवस्थानेषु सर्वेषु वाराणस्यादिकेषु च। विपरीता भवेद् बुद्धिर्यस्य स्यात् स बहिर्नरः ।। शिवनिन्दापरो मूढः शिवशास्त्रविनिन्दकः। तस्य नो निष्कृतिर्दृष्टा क्वापि शास्त्रेऽपि केन च ।।" इति स्कान्दशिवधर्मोत्तरादिवचनैर्मरणान्तप्रायश्चित्तसूचकनिष्कृत्यभावबहिष्कार्यत्वादिविधानविरोधापत्तेः। नह्यप्रामाणिकार्थनिन्दायां दोषोद्घाटनं युक्तम्।

किञ्च, स्थावरलिङ्गप्राणलिङ्गप्रतिष्ठाकालकर्तव्यद्वादशसंस्कारविधायक—"कुण्डमण्टपनिर्माणं तत्तत्संस्कारमेव च। वास्तुपूजा च हवनं पालिकासु प्रतिष्ठितम् ।।" इत्यादीनाम् अधःपट्टिकाद्याज्यप्रतारिकान्ततत्स्थानविशेषे भुवन-तत्त्व-कला-मन्त्र-पद-वर्णाध्वन्यासविधायकवचनानां स्थावरे कर्षणादिप्रतिष्ठान्तं प्रतिष्ठाद्युत्सवान्तं च कर्तव्यतत्कर्मविधायकवचनानां कामिककारणाद्यागमान्तर्गतत्वेन पुराणादावभावेन च तदप्रामाण्ये तद्विहितसंस्काराद्यभावेन सकलवैदिकजनावश्यकस्थावरलिङ्गप्रतिष्ठाद्यसिद्धेः।

में बताये गये धर्म मुक्ति के साधन हैं, ऐसा वीरागम आदि में बताया गया है। स्कन्दपुराण में भी बताया गया है—"शिव की, शिवागमों की, शिवधर्म की, शिवग्रहण की, प्राणलिंगधारक जंगम की, लिंगार्चक की, शैवालयों की और शिवक्षेत्र की निन्दा करने वाले बहिष्कृत हो जाते हैं। उन लोगों का कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। वे अपरिहार्य कोप के पात्र बन जाते हैं"। इसके अतिरिक्त जमीन पर स्थावर लिंग की प्रतिष्ठा करते समय और शिवदीक्षा संस्कारपूर्वक अंग में लिंग को धारण करते समय उस लिंग के शिलात्वदोष के निवारण के लिये किये जाने वाले जो बारह संस्कार और कुण्ड, मण्डप आदि के निर्माण की क्रियाएँ, वास्तुपूजा, हवन आदि कर्म और लिंग के विभिन्न स्थानों में किये जाने वाले भुवनाध्व, तत्त्वाध्व, कलाध्व, मन्त्राध्व, पदाध्व और वर्णाध्व नामक षडध्व

अपि च, श्रीनीलकण्ठशिवाचार्यचरणकृतभाष्ये—"अङ्गावयवाद्यनन्तमाङ्गल्यगुणगणमणिजलधेः परमशिवस्य" इत्येतद्ग्रन्थेन परमशिवं विशिष्य कानि तान्यङ्गानीत्युक्तेः "सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तता च। अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥" (वा० पु० १२।३१; कू० पु० २।८।१३), "ज्ञानं विरागतैश्वर्यं तपः शक्तिः क्षमा धृतिः। स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च॥ अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे॥" (ब्रह्मा० पु० ३।४।२।२१८-२१९; कू० पु० १।१०।३९-४०) इति शैवागमवचनैरङ्गावयवनिरूपणेन शङ्कराचार्यकृतप्रपञ्चसारादिग्रन्थे त्र्यम्बकषडक्षरीप्रभृतिमन्त्रानुष्ठानपुरश्चरणप्रयोगाद्युपयोग्यङ्गावरणादिनिरूपणस्यागमवचनैरेव कृतत्वेन तद्विरोधापत्तेश्च। नहि भाष्यकारैरप्रामाणिकवचनान्युदाह्रियन्ते। एवं व्यासमन्वादिऋषिप्रणीतस्मृतीतिहासपुराणादीनामिव "त्वं देवेषु ब्राह्मणोऽस्यहं मनुष्येषु ब्राह्मणः",

---

शुद्धि संस्कार और प्रतिष्ठा आदि से उत्सव पर्यन्त किये जानेवाले कर्म कामिक, कारण आदि आगमों में ही विशेष रूप से बताये गये हैं। इन आगमों को छोड़कर और किसी ग्रन्थ व पुराणों में भी ये नहीं बताये गये। इसलिये इन सब आगमों को अप्रामाणिक मानने पर सभी वैदिकों के आवश्यक प्रतिष्ठा आदि कर्म ही समाप्त हो जायँगे।

वीरशैव मताचार्य नीलकण्ठ शिवाचार्य आदि द्वारा रचित भाष्य आदि ग्रन्थों में भगवान् परशिव के असाधारण एवं अनन्त कल्याण गुणों का प्रतिपादन करते समय शिवागमों का प्रमाण देते हुये कहा गया है कि परशिव सर्वज्ञ, नित्यतृप्त, अनादिबोध स्वरूप, स्वतन्त्र, अलुप्तशक्तियुत और अनन्त शक्तिवाले हैं"। यह भी बताया गया है—"ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपश्शक्ति, क्षमा, धृति, सृष्टिकर्तृत्व, आत्मसम्बन्ध, अधिष्ठातृत्व और अव्ययत्व नामक नाशरहित दस धर्म भगवान् परशिव में ही है"। श्रीशंकराचार्य ने इसी प्रकार प्रपञ्चसार में त्र्यम्बक, षडक्षर

"विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः"(श्वे० उ० ३।४) इति ब्रह्मर्षित्वेन, "निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वे० उ० ६।१९) इति नित्यत्वेन च प्रसिद्धपरशिवप्रणीतागमप्रामाण्यस्यापरिहार्यत्वाच्चेति ।

न चरमः पक्षः, विष्णोर्जगन्मोहनीवेषधारणसमयेऽशेष-जगन्मोहकत्वस्य रामाद्यवतारे सीतालक्ष्मणवियोगादिजनित-व्यामोहस्य स्वतोऽपि सत्त्वेन च परप्रतारकबुद्धावतारप्रणीत-वेदविरुद्धागमानामप्रामाण्ये त्विष्टापत्तेः ।

ननु कूर्मपुराणे—"एवं संबोदितो रुद्रो माधवेन मुरारिणा। चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः ।। कपालं लाकुलं शाक्तं भैरवं पूर्वपश्चिमम् । पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ।।"(१।१५।११२-११३) इति शिवकेशवयोरुभयोरपि मोहशास्त्रकर्तृत्वप्रतिपादनेन तथान्यानि सहस्रश इत्यन्यशब्देन शैवागमानामपि ग्रहणात् तेषामप्यप्रामाण्यमेवेति चेन्न, तत्रैव—"निर्मितं हि मया पूर्वं व्रतं पाशुपतं

तृतीयः कल्पः—बुद्धजिनादिनास्तिकमण्डलप्रणीतागमानामप्रामाण्यमिति, तत्रेष्टापत्तिरेव भवतामिवास्माकमपि, बौद्धाद्यागमानामप्रामाण्येऽपि शैवागम-

आदि मन्त्रों के अनुष्ठान और पुरश्चरण आदि का विधान शैवागमों को प्रमाण मान कर ही शास्त्रसम्मत सिद्ध किया है । यदि ये सब आगम अप्रामाणिक माने जायँगे, तो इन सभी भाष्यकारों के वचनों का विरोध होगा । तत्त्व के पक्षपाती भाष्यकारों के वचनों को कैसे असत्य कहा जा सकता है ? आगम अप्रामाणिक होते तो ये लोग उन्हें प्रमाण के रूप में कैसे उद्धृत करते ? ऐसे ही व्यास, मनु आदि ने भी इन आगमों को प्रामाणिक मान कर ही दृष्टान्त के रूप में लिया है ।

यदि आप कहें कि बुद्ध आदि से लिखित आगम ही अप्रामाणिक हैं, तो यह बात हमें भी इष्ट ही है, क्योंकि किसी एक समय महाविष्णु ने प्रपंच की रक्षा के निमित्त जगन्मोहिनी का रूप धारण किया था और रामावतार के समय दुनिया को मोहित करने की इच्छा से सीता, लक्ष्मण आदि के वियोग से उत्पन्न मोह को दिखलाया था। ऐसे ही बुद्ध के रूप में अवतरित होकर उन्होंने वेद के विरुद्ध

शुभम् । गुह्याद् गुह्यतरं सूक्ष्मं वेदसारं विमुक्तये ।।...
एष पाशुपताचारः सेवनीयो मुमुक्षुभिः ।।'' (२।३७।१४१, १४३) इति रुद्राक्षलिङ्गधारणरूपपाशुपतव्रतप्रतिपादकागमस्य श्रौतत्वं प्रतिपाद्य, ''अन्यानि शैवशास्त्राणि लोकेऽस्मिन् मोहनानि वै । वेदवादविरुद्धानि मयैव कथितानि तु ।।''(२।३७।१४५) इत्युक्त्वा ''वामं पाशुपतं सौमं लाकुलं चैव भैरवम् । न सेव्यमेतत् कथितं वेदबाह्यं तथेतरत् ।।'' (२।३७।१४६) इति, ''यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते युगेऽस्मिन् विविधानि तु । श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि तेषां निष्ठा हि तामसी ।। कापालं पाञ्चरात्रं च यामलं वाममार्हतम् । एवंविधानि शास्त्राणि मोहनार्थानि तानि तु ।।'' (१।११।२७२-२७३) इति श्रुतिस्मृतिविरुद्धानामेवाप्रामाण्यस्वीकारात्, किरातवेषधारिपरमेश्वरप्रणीतशाबरतन्त्रबुद्धावतारप्रणीतबौद्धाद्यागमानामेवान्यपदेन ग्रहणात् ।

ननु तर्हि शैवागमानां श्रुतिस्मृतिसारमयत्वं कथमिति चेत्—पूर्वोक्तसर्वलिङ्गंस्थापयतीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृतिविहितलिङ्गधारणविधायकत्वेन गौतममन्वाद्याचारविषयस्थावरलिङ्ग-

---

अनेक आगमों की रचना की है । ऐसे आगमों को कोई भी वैदिक मतानुयायी स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि रुद्र ने विष्णु से प्रेरित होकर जगत् को मोहित करनेवाले शास्त्रों की रचना को है और विष्णु ने रुद्र से प्रेरित होकर भ्रमोत्पादक शास्त्रों को रचा है । वही कापाल, लाकुल, शाक्त और भैरव मत कहे जाते हैं । ऐसे ही वेदसार एवं अतिसूक्ष्म पाशुपत व्रत को ईश्वर ने बताया है । रुद्राक्ष और लिंगधारण रूप इस पाशुपत व्रत का मुमुक्षु जनों को अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा ईश्वर का आदेश है । अतः कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त जो अट्ठाईस दिव्य आगम हैं, ये सब वैदिकों द्वारा स्वीकृत हैं । इस सन्दर्भ में कहा गया है कि वाम, अवैदिक पाशुपत, सोम, लाकुल और भैरव आदि मत वेदबाह्य होनें

प्रतिष्ठाविधायकत्वेन कालाग्निरुद्ररुद्रोपनिषदादिसिद्धविभूति-रुद्राक्षधारणविधायकत्वेन तत्त्वमसीत्याद्यनेकश्रुतिबोधितजीव-ब्रह्मैक्यस्वरूपलिङ्गाङ्गसम्बन्धबोधकत्वेन छान्दोग्यबृहदारण्य-कादिश्रुतिविहतानेकार्थत्वाच्चेति ।

इति श्रीमद्वेदवेदान्तपुराणागमेतिहाससारभूतश्रीमद्विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तस्थापनाचार्यपाषण्डाब्जमहागजपाञ्चरात्रप्रालेयचण्ड-चण्डकिरणाद्वैतकुम्भिकुम्भदलनरौद्रपञ्चाननश्रीमन्नन्दी-श्वरविरचितायां लिङ्गधारणचन्द्रिकायां
प्रथमो भागः ॥

प्रामाण्याक्षतेरिति ।

महामहोपाध्यायपण्डितश्रीशिवकुमारमिश्रशास्त्रि-विरचितशरन्नामिकायां लिङ्गधारणचन्द्रिका-व्याख्यायां प्रथमभागः समाप्तः ॥

से अनुष्ठान करने योग्य नहीं है। श्रुतियों और स्मृतियों के विरुद्ध जो भी हों, वे सब तामस आगम कहे जाते हैं, अतः प्रामाणिक नहीं हैं ।

इस प्रकार वेदों के अनुवर्ती अनन्त शैवागम, 'सर्वलिङ्गं स्थापयति'' आदि श्रुतियां, ''तत्त्वमसि'' आदि महावाक्य और ईश, केन, कैवल्य, कालाग्निरुद्र, बृहदारण्यक आदि उपनिषदें लिंगधारण, लिंगांगसामरस्य, विभूति और रुद्राक्ष-धारण आदि का विधान करते हैं, अतः मोक्ष को चाहने वाले वीरशैव क्रम से गुरु से दीक्षा लेकर, मस्तक आदि उत्तम अंगों में शरीरपातपर्यन्त शिवलिंग को धारण करते हुए तीनों कालों में, द्विकाल अथवा एक काल में अपने वाम हस्त रूपी सिंहासन पर उस शिवलिंग को रख कर गन्ध, अक्षत आदि से अर्चना करते हुए त्रिविध देह में त्रिविध लिंगों की सिद्धि पाकर—''एकेन जन्मना मुक्ति-र्वीराणां तु महेश्वरि'' इस शिवागम वाक्य के अनुसार दुःखस्वरूप भवपाश से छूट कर शिवसायुज्य को प्राप्त कर लेते हैं ।

इस प्रकार वेद, वेदान्त, पुराण, आगम, इतिहास आदि समस्त शास्त्रों के सारभूत विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के स्थापक आचार्य, पाषण्ड रूपी कमल के लिये मदमत्त गज स्वरूप, पांचरात्र रूपी प्रालेय (धुन्ध) के लिये प्रचण्ड सूर्यसदृश, अद्वैत-रूपी हाथी के मस्तक के दलन के लिये रौद्र सिंह के समान, श्रीमान् नन्दीश्वर (शिवाचार्य) विरचित लिंगधारणचन्द्रिका का
प्रथम भाग यहाँ समाप्त होता है ।

——

उत्तरभागः

नन्वेतावता लिङ्गधारणसिद्धावपि मृतस्य ब्राह्मणस्य दाहक्रिया विधीयते, भवदनुष्ठीयमानखननस्य कुत्राप्यविधानात् कुतस्तत्सिद्धिः? इति चेदुच्यते—ऋग्वेदे—"कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम" (ऋ० खि० ५।८७।११) इति मन्त्रेण तत्सिद्धिः। कर्दमेन पृथिव्या, प्रजाः तिर्यङ्मनुष्यादिनानाविधजीवकोटयः, भूताः संजाताः। सजलमृत्पिण्डवाचककर्दमशब्दप्रयोगेण प्रधानोपादानभूतायां पृथिव्यां जलादेरुपस-

---

लिङ्गधारणस्य कर्तव्यतामारभ्य लिङ्गधारणमूलभूतश्रुतिस्मृतिकामिकाद्यागमानां प्रामाण्यपर्यन्ता बहवोऽर्थाः पूर्वभागे निरूपिताः। इदानीं लिङ्गधारिणां प्रयाणोत्तरं तन्मतेऽनुष्ठीयमानायां तद्देहस्य भूमिखातनिक्षेपात्मकप्रतिपत्तौ प्रमाणमुपन्यस्यते। तत्र—"कर्दमेन प्रजा भूता" (ऋ० खि०

भूनिक्षेप समाधि की आवश्यकता

शंका—यहाँ तक वेदागम, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि के प्रमाणों से, युक्ति और अनुभव से शिवलिंग को कण्ठ आदि उत्तम अंगों में से किसी एक अंग पर धारण करके प्रतिदिन हथेली पर रखकर पूजा करनी चाहिये, इस बात की सिद्धि तो हो गई, लेकिन मृत ब्राह्मण के शरीर के लिये अग्निसंस्कार (जलाने) का विधान किया गया है, भूनिक्षेप (दफनाने) का विधान किसी ग्रन्थ में नहीं बताया गया। ऐसी अवस्था में लिंगांगी वीरशैव के मृत शरीर का कैसे भूनिक्षेप किया जाता है?

समाधान—ऐसी बात नहीं है। ऋग्वेद का यह वचन इसमें प्रमाण है—"कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम"। अन्वयार्थ—कर्दमेन = पृथिवी से, प्रजाः = पशु, पक्षी, मानव आदि समस्त जीव, भूताः = उत्पन्न हुए हैं। इसलिये हे कर्दम = जलमिश्रित मृत्पिण्ड रूप हे पृथिवी, मयि = काल के परिपाक से मृत मेरे शरीर को समाधि नामक आपके पेट में रखने पर, सम्भव = मृत्तिका से आच्छादित करके मेरे सभी पापों को नष्ट करके उत्तम लोकों की प्राप्ति करा दें।

र्जनविधया सहकारित्वमित्यवगन्तव्यम्, तदभावे घनीभूत-पृथिवीमात्रस्य देहनिर्माणोपयोगित्वाभावात् । तादृशीं महीं प्रति मृतपुरुषेण प्रार्थ्यते—मयि सम्भव कर्दम इति । हे सजलमृत्पिण्डात्मकपृथिवि ! मयि कालपरिपाकतो मरणे प्राप्ते द्वात्रिंशत्पर्वयुक्समाध्यपरनामकत्वद्गर्भस्थिते मच्छरीरे सम्भव आच्छाद्य विलीनावस्थां गमयित्वा दुरितनिवृत्तिपूर्वकं मामुत्तमलोकप्राप्तिमन्तं कुर्वित्यर्थः । "महीं देवीं विष्णुपत्नीमजूर्याम्

५।८७।११), "महीं देवीं विष्णुपत्नीम्" (तै० ब्रा० ३।१।२।६) इति ऋग्द्वयम्,

इस मन्त्र में 'कर्दम' शब्द का प्रयोग किया गया है। जल मिश्रित मिट्टी का नाम है कर्दम, न कि केवल मिट्टी का। यहाँ कर्दम शब्द से पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पाँच महाभूतों को उपलक्षणतया बताया गया है। इन सभी भूतों में पृथिवी ही प्रधान होने से उपादान कारण मानी गई है। जल, तेज, वायु और आकाश विशेषणों के रूप में प्रयुक्त होने से सहकारी कारण माने जाते हैं। लोक में जो भी कार्य हैं, उनकी सिद्धि सहकारी कारणों के बिना केवल उपादान कारण से नहीं हो पाती। इसलिये जल आदि के मिश्रण के बिना केवल काठिन्य गुण-युक्त पृथिवी से शरीर का निर्माण नहीं हो सकता। इसीलिये यहाँ जलमिश्रित पृथिवी को निमित्त बनाकर मृत पुरुष के लिये उससे प्रार्थना की गई है।

परायत नामक नक्षत्रेष्टि में यह मन्त्र पढ़ा गया है—

महीं देवीं विष्णुपत्नीमजूर्यां प्रतीचीमेनां हविषा यजामः ॥

यह मन्त्र भी मृत शरीर को जमीन में दफनाना चाहिये, ऐसा विधान करता है। इस निक्षेप क्रिया के जो कर्ता हैं, वे अपने इष्टमित्र तथा बन्धु-बान्धवों के साथ उस मृत व्यक्ति के शरीर को रखने के लिये बनाये गये विमान में बिठाकर गाजे-बाजे के साथ समाधि के पास ले जाकर उस मृत शरीर के निमित्त शास्त्रोक्त सभी संस्कारों को पूरा कर उस शरीर को समाधि में रखते समय इस मन्त्र का पाठ करते हैं।

अजूर्यां विष्णुपत्नीं महीं देवीम् = भगवान् विष्णु की पत्नी के रूप में प्रसिद्ध पूज्य इस भूदेवी की, हविषा = मृत पुरुष के देहरूप हविर्द्रव्य से, यजामः = आराधना

प्रतीचीमेनां हविषा यजामः" इति परायते नक्षत्रेष्टिपठितमन्त्रेणापि खननसिद्धिर्भवति। अत्र ज्ञातिबन्धुसमेतकर्त्रा मृतपुरुषशरीरं शिबिकादिना समीपं प्रापय्य तत्र कर्तव्ययावत्संस्कारानन्तरं बिलप्रवेशकरणे विनियुक्तस्यास्यायमर्थः— एनां महीं देवीं प्रति हविषा मृतपुरुषशरीररूपेण यजाम इति। तथा चाग्नौ हूयमानपुरोडाशाज्यादिहविष इव पृथिवीबिलनिक्षिप्तशरीरस्य तत्रैव विलीनताप्रसक्त्या तस्याश्च समाधौ गोपनं विनाऽनुपपन्नत्वात् सिद्धिरिति सङ्केतग्राहकत्वेन श्रुतिस्मृत्यादिनिखिलशब्दप्रमाणापेक्षिततया स्वतःप्रमाणत्वेन च प्रसिद्धनिघण्टुवचनादपि पर्यवसानगत्या तत्सिद्धिः। तथाहि—पाञ्चभौतिकदेहस्य पञ्चता कालधर्म इति पञ्चभूतानां संपुटीकरणेन देहारम्भः, तस्य कालपरिपाकवशात् पञ्चत्वप्रसक्तौ पञ्चावयवानां पञ्चभूतेष्वेकीकरणमावश्यकम्। तत्र वाय्वाकाशयोरप्रत्यक्षत्वेन तत्रानुक्रमणं

करते हैं, इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ है। यज्ञ में अग्नि देवता के निमित्त स्वाहाकार से समर्पित किये जानेवाले आज्य, पुरोडाश आदि हविर्द्रव्य उस वैदिकाग्नि में जैसे विलीन हो जाते हैं, वैसे ही यह मृत शरीर भी एक प्रकार का हविर्द्रव्य होने से इसको समाधि में छिपाये बिना यह छिप नहीं सकता। इससे मृत देह का भूनिक्षेप करना चाहिये, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है।

शंका—शरीर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पाँच भूतों से निर्मित पांचभौतिक कहा गया है। ऐसे भौतिक शरीर के पंचत्व (मरण) को प्राप्त हो जाने पर उसके प्रत्येक अंश प्रत्येक भूत में मिलते हैं, न कि सभी भूतों के अंश पृथिवी में। इसलिये इस भूनिक्षेप को शास्त्रसम्मत कैसे माना जाय ?

समाधान—देह में रहने वाले पंचभूतांशों को भिन्न-भिन्न पंचभूतों से मिलाना उचित ही है, किन्तु इन पांच भूतों में आकाश और वायु ये दोनों नहीं दीखते, अतः इनमें से आकाशांश को आकाश में और वायु के अंश को वायु में नहीं मिला सकते। उसके अतिरिक्त अग्नि और जल ये दो भूत प्रत्यक्ष होने पर भी पृथिवी

व्यवहारयोग्यं न भवतीति पृथिव्यप्तेजःस्वेव संयोजनं कार्यम् । तत्राप्यग्निजलयोः पृथिव्याधारकत्वेन सर्वाधारपृथिव्यामेव निक्षेपणं कृत्वा तत्त्वसंयोजनमावश्यकम् । अत एवोक्तं पराशरस्मृतौ—"शरीरं पञ्चतत्त्वाख्यं तत्त्वं तत्त्वेन योजयेत् । तत्रापि पृथिवीतत्त्वे योजनं मोक्षसाधनम् ।।" इति । अपि च, अवसानेऽग्निसंस्कारवतामप्यसृङ्मांसमिलितदेहस्य दहनदह्यमानत्वेऽप्यस्थ्यादिस्वरूपाङ्गशेषस्य पृथिवीं गच्छेति मन्त्रेण महीतले गङ्गाऽम्भसि वा क्षेपणमावश्यकम् । तथा चैकदेशस्याग्निदाह्यत्वमवशिष्टस्य पृथिवीजलादिनिक्षेप इत्यङ्गीकारेऽर्थवैरस्यप्रसङ्गात् सर्वाधारभूतावनिनिक्षेपणमेव कर्तव्यम् । तदुक्तं कूर्मपुराणे—"दग्धेऽपि देहे पुनरङ्गशेषो निक्षिप्यतेऽसौ भुवि वा जले वा । तस्मात् तु निक्षेपविधिर्बलीयान्निःशेषभावादपुनर्विधानात् ।।" इति ।

"शरीरं पञ्चतत्त्वाख्यम्" इति पराशरस्मृत्यादि च प्रमाणत्वेनोपन्यस्तम् । पितृमेधप्रकरणपठितश्रुत्यादीनां विरोधमाशङ्क्य च लिङ्गाङ्गसङ्गिब्राह्मण-

के आधार पर ही रहते हैं । इसलिये सबकी आधारभूत पृथिवी में मृत देह का निक्षेप करने पर सभी भूतों के अंश सबमें मिल जाते हैं । इस तरह से यह भूमिनिक्षेप पक्ष ही उत्तम पक्ष माना जाता है । इस पक्ष को पराशरस्मृति का भी समर्थन प्राप्त है । वहाँ कहा गया है कि शरीर पांच भूतों से निर्मित है, अतः इन अंशों को उन भूतों में मिलाना उचित ही है । इसमें से भी पृथिवी तत्त्व में मिलाना ही मोक्षदायक है । कूर्मपुराण में इस निक्षेप क्रिया का सयुक्तिक समर्थन मिलता है कि मृत शरीर को अग्नि में जलाने पर भी; खून, मांस और मज्जा में कुछ अंश के जल जाने पर भी, अस्थि आदि कुछ अंश बिना जले वैसे ही रह जाते हैं । बाद में उन हड्डियों को ले जाकर—"पृथिवीं गच्छ" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए भूमि में व गंगा जी में छोड़ना पड़ता है । इस प्रकार कुछ अंश को अग्नि में और शेष कुछ अंश को जल व पृथिवी में मिलाना पड़ता है । इसकी अपेक्षा खनन (गाड़ना) की प्रथा को मानकर उस मृत शरीर का सभी भूतों की आधारस्वरूप पृथिवी में निक्षेप किये जाने पर सभी अंश निश्शेष हो जाते हैं । इसलिये जल आदि में मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । अतः भूमिनिक्षेप ही उत्तम एवं बलिष्ठ विधि है ।

न चोदाहृतश्रुतिस्मृत्यादिभिः सर्वत्र पिधानविधाने दहनविधायकपितृमेधादिपठितश्रुत्यादीनां निर्विषयत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, पूर्वोदाहृतपद्मपुराणशातातपमन्वादिस्मृतिवचनानुरोधेन सामान्यतोऽपि खननविधायकवाक्यानां छागपशुन्यायेन लिङ्गाङ्कितब्राह्मणविषयत्वमङ्गीकृत्य दहनविधायकवाक्यानां तदतिरिक्तविप्रादिविषयत्वेन सङ्कोचे बाधकाभावात् । अन्यथा कर्मद्वयविधायकवाक्यानां परस्परविरोधेनोभयोरप्यवैदिकत्वापत्तेः ।

विषयकत्वेन खननवाक्यानां तदितिरिक्तविषयकत्वेन पितृमेधवाक्यानां व्यवस्थापनं क्रियते, परस्परविरुद्धार्थवाक्यानां विना व्यवस्थां प्रामाण्यायोगेन व्यवस्थाया आवश्यकत्वात् ।

शंका—अच्छी बात है, किन्तु यदि ऐसा मान लिया जाय, तो जब श्रुति, स्मृति पुराण आदि सबके सब मृत शरीर की भूनिक्षेप विधि को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, तो मृत शरीर को जलाना चाहिये, ऐसा पितृमेधादि प्रकरण में बताने वाली श्रुतियों का कोई प्रामाण्य ही नहीं रह जायगा ?

समाधान – ऐसी बात नहीं। पितृमेध प्रकरण में दहन (जलाने से सम्बद्ध) विधि का वचन उन लोगों के लिये है, जो लिंगधारी नहीं हैं। निक्षेप-विधायक श्रुतियाँ लिंगधारियों के लिये हैं, ऐसा अर्थ का संकोच कर लेना चाहिये। जहाँ भी इस प्रकार का संदेह हो जाता है, उन स्थानों में पूर्वमीमांसा के 'छागपशुन्याय'' से अर्थ का संकोच कर लिया जाता है। यह न्याय पहले भी आ चुका है और इसके पूरे अर्थ का भी विवेचन किया जा चुका है। इस प्रकार का अर्थसंकोच न करने पर दहनवचन और खननवचन में विरोध हो जाता है। ऐसे विरोधयुक्त वाक्य प्रामाणिक नहीं माने जाते और इन दोनों वचनों को अवैदिकत्व दोष लग जाता है। इस प्रकार के सन्दर्भों में पूर्वाचार्य परस्पर विरुद्धार्थक श्रुतियों के अर्थ को संकुचित करके सभी श्रुतियों के अभिप्राय का समन्वय कर लेते हैं। जैसा कि "द्वा सुपर्णा" आदि श्रुतियों के प्रसंग में किया गया है।

अत एव दर्पणे ब्रह्मविद्याविद्वर्यैरुक्तम्—"जीवब्रह्मणोरभेदाङ्गीकारे "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।।" (श्वे० उ० ४।६), "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरं च" (मैत्रा० ६।२२) इति भेदप्रतिपादकवाक्यविरोधेन भेदाङ्गीकारे—

अत्रैव प्रसङ्गाद् विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमपि किञ्चिदुपपादयति—अत एव दर्पण इत्यादिना । विरोधाभावादिति । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया इत्यादि । द्वौ सुपर्णावित्यर्थः । "सुपां सुलुग्"(पा० ७।१।३९) इत्यादिशास्त्रेण द्विचनस्य डादेशः । अत्र—"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुः"(भ०गी० १५।१) इत्यादिना शरीरस्य वृक्षत्वेन वर्णनाच्छरीरमेव वृक्षशब्देनोच्यते । लौकिकपक्षिणोरिव शरीररूपवृक्षाश्रितत्वाज्जीवात्मपरमात्मनोः पक्षित्वेन वर्णनं क्रियते । समानं वृक्षं परिषस्वजाते इति । जीवात्मपरमात्मानावुभावपि एकमेव शरीररूपं वृक्षमधिष्ठितवन्तौ । तयोर्जीवात्मपरमात्मनोर्मध्येऽन्योऽर्थाज्जीवः पिप्पलं कर्मफलं स्वादु, उपलक्षणमिदं स्वस्वकर्मानुसारेण स्वादु अस्वादु वा, अत्ति भुङ्क्ते । अन्यः परमात्माऽनश्नन् अविद्याया अभावेनालुप्तचैतन्यशक्तितया शरीरधर्मासम्बद्धः । तथा च कर्मबन्धाभावेन कर्मफलं सुखं दुःखं चाभुञ्जान एवाभिचाकशीति देदीप्यते । अस्यां श्रुतौ जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रतिपादितो भवति । एवम्—"द्वे ब्रह्मणो वेदितव्ये परं चापरं च" इत्यत्रापि ।

द्वा सुपर्णा = जीवात्मा और परमात्मा नामक दो पक्षी, 'सुपां सुलुक्" इस शास्त्र से द्विवचन में डादेश हुआ है । सयुजा = निरन्तर साथ रहने वाले, सखाया = एक दूसरे से स्नेह रखने वाले, समानं वृक्षं = एक ही शरीर रूपी वृक्ष का, परिषस्वजाते = आश्रय लिये हुए हैं । तयोः = उन दोनों में से, अन्यः = जीवात्मा रूपी एक पक्षी, पिप्पलं = कर्मजन्य सुख-दुःख रूप फल को, स्वादु = आसक्तिपूर्वक, अत्ति = अनुभव करता है । अन्यः = परमात्मा रूपी दूसरा पक्षी, अनश्नन् = कर्मफल का अनुभव किये बिना, अभिचाकशीति = सभी जगह प्रकाशमान रहता है ।

द्वे ब्रह्मणी = दो प्रकार के ब्रह्म हैं । परं चापरं च = उन दोनों में से एक को परमात्मा और दूसरे को जीवात्मा, वेदितव्ये = जानना चाहिये ।

"नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० उ० ४।१४९), "एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" (श्वे० उ० ३।२), "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (छा० उ० ७।२४।१) इत्याद्यभेदविधायकवाक्यविरोधेन चोभयोरप्रामाण्यप्रसक्त्या

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छा० उ० ६।२।१), "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० उ० ४।४।१९), "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता" (बृ० उ० ३।७।२३) इत्यादौ, "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति" (छा० उ० ७।२४।१) इत्यादौ च जीवब्रह्मणोरेकत्वं प्रतिपाद्यत इति परस्परश्रुतिविरोधान्न केवलं द्वैतं नाप्यद्वैतं मन्तुं शक्यते, अपि तु विशिष्टाद्वैतपक्ष एव मन्तव्यः। तदर्थस्तु—विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे, विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतमिति। अत्र सूक्ष्मचिदचित्प्रपञ्चशक्तिविशिष्टं ब्रह्म एक-

इन श्रुतियों में शरीर का "ऊर्ध्वमूलमधश्शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" इस प्रकार ऊपर जड एवं नीचे डालियों वाले एक विलक्षण पीपल वृक्ष के रूप में वर्णन किया गया है। यह जीवात्मा और परमात्मा इस शरीर रूपी पीपल वृक्ष में परस्पर मित्रता से रहते हैं। इन दोनों में से जीवात्मा अज्ञान से आवृत है। इसलिये कर्मों के अनुगुण फलों का अनुभव करता है। परमात्मा तो अविद्यारहित है। इसलिये कर्मफल का अनुभव नहीं करता। इस प्रकार ये श्रुतियाँ जीवात्मा और परमात्मा में भेद को स्वीकारती हैं। इसके विपरीत "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति", "एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे" ये श्रुतियाँ अद्वैतवाद का समर्थन करती हैं।

इन श्रुतियों का कहना है कि परमात्मा सजातीय, विजातीय, स्वगत नामक तीन प्रकार के भेदों से रहित एक ही वस्तु है। परमात्मा से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा के अतिरिक्त कोई देखने वाला, सुनने वाला, जानने वाला नहीं है। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इस प्रकार यहाँ जीवात्मा और परमात्मा का अभेद बताया गया है। ये दोनों प्रकार के श्रुतिवाक्य हैं। इन सबका प्रामाण्य अपेक्षित है। इसलिये विशिष्टाद्वैत पक्ष को स्वीकार करते हुए सभी श्रुतियों की प्रामाणिकता को मानना ही उत्तम पक्ष होगा। कहने का

विशिष्टाद्वैतपक्ष एवाङ्गीकरणीयः । तत्पक्षे तु स्थूलसूक्ष्मचित्प्रपञ्चाकारशक्तिविशिष्टयोरभेदमादायाद्वैतवाक्यानां विशेषणविशेष्यभेदमादाय द्वैतवाक्यानामपि प्रामाण्यसिद्धया विरोधाभावादिति ।

न च दहनस्य विप्रविषयत्वं खननस्य जात्यन्तरविषयत्वमिति वाच्यम्, तेषां वेदविहितकर्माधिकाराभावात्, खननस्यैव विप्रविषयत्वं दहनस्य जात्यन्तरविषयत्वमिति वैपरीत्यापत्तेश्च, आचारविरोधस्योभयत्रापि तुल्यत्वादित्यलम् । ननूदाहृतमन्त्रैः

विशिष्टपदेनोच्यते । इदमेवाव्याकृतचिदचित्प्रपञ्चविशिष्टमप्युच्यते । स्थूलचिदचित्प्रपञ्चशक्तिविशिष्टं ब्रह्मापरविशिष्टपदेनोच्यते । तयोरेकत्वमस्तीति सिद्धान्तस्वरूपम् । अर्थात् स्थूलावस्थापन्नस्य सूक्ष्मावस्थापन्नस्य चान्तर्यामिप्रधानभूतं नियामकं परमेश्वरतत्त्वमेकमेव । तस्य चेतनानां जीवानामन्तर्यामिचेतनरूपत्वात् तदपेक्षया नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादि नान्यच्छृणोतीत्यादि च श्रुतिवाक्यमुपपद्यते । शरीरेन्द्रियाद्यनेकवस्तुवैशिष्टयेऽपि देवदत्त एक एवेदानीं स्वगृहेऽस्तीति व्यवहारस्य प्रवृत्तिवद् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्युपपन्नम् । द्वा सुपर्णा इति तु स्वरसतयैवोपपन्नमिति न कस्यापि श्रुतेर्विरोध इत्याह—विरोधाभावादिति ।

इतः परं संक्षेपेण ग्रन्थकारस्याशयः प्रदर्श्यते । अन्त्यकृत्यविषये पितृमेधसम्बन्धिश्रुतिस्मृतीनां तदितरशैवागमादिवाक्यानां च जातिभेदेन

यही अभिप्राय है कि "विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे, तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्" इस समास प्रक्रिया के आधार पर एक विशिष्ट पद से सूक्ष्म चिदचित्प्रपंचविशिष्ट ब्रह्म को और दूसरे विशिष्ट पद से स्थूलचिदचित्प्रपंचविशिष्ट ब्रह्म को स्वीकार करते हुए इन दोनों का अभेद बताने से अभेद श्रुतियों की और विशेषणविशेष्यभेद को स्वीकार करते हुए द्वैत श्रुतियों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है ।

शंका—ऐसा क्यों ? दहनविधायक सभी वचन द्विजों को उद्देश्य करके और खननविधायक वचन शूद्रों को निमित्त बनाकर आये हैं । लिंगधारी लोग तो इससे सम्बद्ध नहीं हैं, ऐसा क्यों नहीं कह सकते ?

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि द्विजमात्र के लिये दहनविधि और शूद्रों के लिये खननविधि को स्वीकार करने पर दहनविधि की उपाधि में खननविधि भी वैदिक विधि होने से शूद्रों के भी वेदविहित कर्माधिकार को स्वीकारना

खननस्यापाततः प्रसक्तावपि मृतपुरुषं खनेदिति विधिवाक्याभावेन न वैधत्वमिति चेत् ? मैवम्, प्रेतं दहेदिति विध्यभावेऽपि विधिप्रयोजकरूपसम्पत्त्या पितृमेधादिपठिततत्तन्मन्त्रलिङ्गैः प्रेतं दहेदिति विधिकल्पनवत् पूर्वोदाहृतानेकमन्त्रलिङ्गैर्विधिप्रयोजकरूपसम्पत्त्या च मृतपुरुषं खनेदिति विधिकल्पनौचित्यादिति ।

वस्तुतस्तु सदानन्दोपनिषदि—"शैवं लिङ्गमुरस्थले धार्यं विप्रेण" (७-८) इत्यादिना लिङ्गधारणं विधाय साक्षादेव

व्यवस्था न शक्यते कर्तुम्, विनिगमनाविरहेण वैपरीत्यस्यापि शङ्कनीयत्वात् । खनने लिङ्घटितविधिर्न दृश्यत इति न शङ्कनीयम् ।

होगा, तब तो शूद्रों को वेदोक्त कर्माधिकार नहीं है, ऐसा कहने वाले धर्मशास्त्र ही व्यर्थ हो जाते हैं । तब तो ब्राह्मणों को खननविधि और शूद्रों को दहनविधि का अनुसरण करना है, ऐसा भी कह सकते हैं न ? कहने का अभिप्राय यह है कि आचार-व्यवहारों में विरोध हो जाने से सभी दहन-वाक्य लिंगियों के अतिरिक्त सभी द्विजों को विषय बनाते हैं और सभी खनन-वाक्य लिंगांगियों को, ऐसा निर्णय कर लेना ही न्यायसंगत है ।

शंका—पूर्व में बताये गये 'कर्दमेन' इत्यादि मन्त्रों का जो अर्थ किया गया कि लिंगांगी के मृत शरीर का भूनिक्षेप करना चाहिये, यह बिना विचार किये सामान्य दृष्टि से बताया गया है । ऐसा अर्थ कर लेने पर भी "मृतपुरुषं खनेत्" अर्थात् मृत पुरुष के शरीर का भूनिक्षेप करे, इस तरह लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्ययान्त घटित विधिवाक्य के न होने से खनन कर्म की विधिरूपता ही सम्भव नहीं है । तब यह खनन कर्म विधिसम्मत है, यह बात कैसे मानी जाय ?

समाधान—तब तो "प्रेतं दहेत्" मृत देह को जलाना चाहिये, इस प्रकार का लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्ययान्त विधिवाक्य भी कहीं नहीं है । विधि की प्रयोजकता मानकर पितृमेधादि प्रकरणों में बताये गये मन्त्रसिद्ध संकेतों से "प्रेतं दहेत्" इस विधि की कल्पना जैसे की गई है, वैसे ही "कर्दमेन प्रजा भूताः" इस प्रकार के मन्त्रों में रहने वाले संकेतों के आधार पर "मृतपुरुषं खनेत्" मृत पुरुष का भूनिक्षेप करना चाहिये, ऐसी विधि की परिकल्पना कर सकते हैं ।

खननमपि विधीयते—"शिवा तनूरचित्ताद्बिले निक्षिपेत्"(१०) इति । शिवा लिङ्गरूपशिवसम्बन्धिन्यो यास्तनवस्तास्तनूरचित्तान्मरणादूर्ध्वं बिले निक्षिपेत् खननक्रियां कुर्यादित्यर्थः । उपनिषदन्तरे—"स यावज्जीवो म्रियते, अथैनमवनये हरन्ति" इत्यनेन खननं विधीयते । शिवभक्तो जीवः, यावन्म्रियते मृतो भवति, अथ मरणानन्तरमेनं भक्तमवनये भूम्यै हरन्ति पृथिवीगर्भे समाधिक्रियां कृत्वा भक्तदेहहरणं कुर्यादित्यर्थ इति । न चावनये हरन्तीत्यत्राऽवन्यामग्निना हरन्तीत्यर्थः किं न स्यादिति वाच्यम्, विप्राय गां दद्याद् अदद्याद् दानं स्वगोत्राय"

स्मृत्यादिनानुमेयत्वात् । सदानन्दोपनिषदादौ विधिरप्यस्ति । शिवधर्म-

इस सन्दर्भ में सदानन्दोपनिषत् का वचन भी द्रष्टव्य है—शैलं = श्रीशैल शिलामय, लिङ्गम् = पंचसूत्रघटित लिंग को, विप्रेण = द्विज, उरःस्थले = वक्षस्थल पर, धार्यम् = धारण करे । शिवा = लिंगरूप शिव से सम्बद्ध, तनूः = शरीर को, अचित्तात् = मर जाने के बाद बिले = शुद्ध भूमि में शास्त्र के अनुसार बनाये गये समाधि स्थल में, निक्षिपेत् = छिपा देना चाहिये । अन्य उपनिषत् में भी बताया गया है—

जीवः = लिंगधारण रूप शिवदीक्षा से विशिष्ट भक्त, यावत् = जब, म्रियते = शरीर को छोड़ देता है, अथ = मरने के बाद, एवं = उस मृत शरीर को, अवनये = पृथिवी के निमित्त, हरन्ति = भूगर्भ में समाधि क्रिया के लिये उस भक्त के शरीर को ले जाना चाहिये ।

शंका—इस मन्त्र में रहने वाले "अवनये हरन्ति" इस वाक्य का भूनिक्षेपपरक अर्थ न करके मृत देह को जमीन पर रख कर अग्नि से जलाना चाहिये, ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि "विप्राय गां दद्याददद्याद् दानं स्वगोत्राय"(ब्राह्मण को गोदान देना चाहिये, अपने गोत्र से सम्बद्ध व्यक्ति को नहीं देना चाहिये) इस वाक्य में गोदान आदि दानों के पात्र विप्र आदि पदों की जैसे सम्प्रदान संज्ञा आई है, वैसे ही 'हरन्ति' इस हरण पद के पूर्व में रहने वाले अवनि पद की भी सम्प्रदान संज्ञा आई है । फिर इस मन्त्र में अग्नि पद नहीं आया है । न आने पर

इत्यादौ विप्रादेर्गोदानादिसंप्रदानत्ववदस्या एव चतुर्थ्याहरण-सम्प्रदानत्वबोधनात्, वाक्येऽग्निपदाभावेनाध्याहारदोषापत्तेश्च । "भूमौ विनिक्षिपेद् देहं भक्तानां शिवयोगिनाम् । अज्ञात्वा दहनं कुर्यान्नरकं वाऽधिगच्छति ।। न शरीरं दहेद्धीमान् शिवभक्तस्य कस्यचित् । प्रेताशौचं परोक्षे च वर्जयेन्मुनिसत्तम ।। शिवभक्तो मृतो यस्तु दहनादिर्न विद्यते । दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं नहि ।। ज्ञानाग्निदग्धदेहानां न च दाहो न च क्रिया ।।" इति शिवधर्मशास्त्रवचनैर्भक्तानां दहननिषेधपूर्वकखननविधानेन तद्विरोधापत्तेश्चेति । अपि च, "शरीरं पार्थिवं बाह्यं लिङ्गं यत्तद्धि पार्थिवम् । उभयं पार्थिवं यस्माद् गोप्यं रन्ध्रे तु पार्थिवे।।" इति वातुलागमवचनानुरोधेन शरीरलिङ्गयोः पृथिवीप्रकृतिकत्वेन तत्रैव विलीनतौचित्याच्च । न च शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वेन तेजस्येव शरीरहरणं किं न स्यादिति वाच्यम्, सर्वा-

---

शास्त्रवचनेषु लिङ्गाङ्गसङ्गियोगिनां खननातिरिक्तकल्पानुष्ठाने महान् दोषोऽप्युक्तोऽस्ति। शरीरारम्भकाणां पञ्चानां भूतानां मध्ये भूमेः

भी अध्याहार कर लेंगे, ऐसा कहने पर यह वाक्य अध्याहार दोष से विशिष्ट होगा। इसलिये "अवनये हरन्ति" इस पद की भूम्यै हरन्ति' यह सम्प्रदान संज्ञा ही न्यायसंगत है। इस विषय में—"शिवभक्तों और शिवयोगियों के शरीर को भूमि में निक्षेप करना चाहिये। प्रमादवश दहन करने पर नरक का भागी हो जायगा। कोई भी बुद्धिशाली शिवभक्त के शरीर को न जलावे। परोक्ष में भी प्रेताशौच को स्वीकार नहीं करना चाहिये। शिवभक्त का मर जाने के बाद दहन कर्म नहीं करना चाहिये। जले हुए पदार्थ को जैसे नहीं जलाया जाता, वैसे ही ज्ञानाग्नि से जले हुए देह को फिर से नहीं जलाना चाहिये"। इस प्रकार शिवधर्मशास्त्र में बताया गया है।

वातुलागम का भी कहना कि शरीर पृथिवी से सम्बद्ध है। देह में धारण किया गया शिवलिंग भी पृथिवी से सम्बद्ध है। इन दोनों के पार्थिव होने से मृत देह का पृथिवी-निक्षेप करना ही उत्तम है।

शंका—ओह ! इससे बढ़कर आश्चर्य की बात क्या है ? क्योंकि हम लोगों का शरीर पांच भूतों के द्वारा सृजित है, न कि केवल पृथिवी से। इसलिये

धारपृथिव्या अत्यन्ताभ्यर्हितत्वेन प्रथमातिक्रमकारणाभावेन च पृथिवीमत्त्व एवैकीकरणौचित्यादिति। तथा च सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीय इति न्यायेन अग्नीषोमीयवाक्यस्येव खननविधायकवचनानां बलीयस्त्वेन दहनविधायकवाक्यानां "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति वाक्यस्याग्नीषोमीयपशुव्यतिरिक्तविषयत्ववद् ब्राह्मणविशेषव्यतिरिक्तविषयत्वेन संकोचः

प्राथम्यं प्राधान्यमस्तीति तत्रैव भूतान्तरापेक्षया योजनमुचितम्। "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि", "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इति वाक्ययोरिव सामान्यविशेषभावः प्रकृते एकस्मिन् वाक्ये लिङ्गाङ्गसङ्गिपद-

पृथिवी में ही मृत देह का निक्षेप करना है, ऐसा नियम कैसे हो सकता है ? हम अग्नि, जल आदि में भी उसका निक्षेप कर सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि शरीर पांच भूतों से सृजित होने पर भी अन्य चार भूत पृथिवी के आधार पर ही टिके हैं। पृथिवी ही सबसे नजदीक है। इसलिये प्रथम स्थानापन्न पृथिवी को छोड़कर इससे आगे के जल और अग्नि आदि को लेने का कोई औचित्य नहीं है। अर्थात् मृत देह का पृथिवो तत्त्व में एकीकरण करने में जो औचित्य दोखता है, वह दहनादि में नहीं है।

उत्सर्गशास्त्र और अपवादशास्त्र नामक दो शास्त्र हैं। इन दोनों में अपवादशास्त्र ही बलशाली है, क्योंकि "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" (अग्नीषोम नामक याग से सम्बद्ध पशु का वध करना चाहिये) यही वाक्य वहाँ पर जैसे बलशाली होकर रहता है, वैसे ही यहाँ पर खनन वाक्य अपवादात्मक वाक्य होने से प्रबल हो जाता है। "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" अर्थात् किसी प्राणी को कभी भी मारना नहीं चाहिये, यह सामान्य वाक्य जैसे वहाँ पर दुर्बल हो जाता है, वैसे ही यहाँ पर दहनविधायक वाक्य दुर्बल हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि सोमयाग में संस्कार किये गये पशु को छोड़कर शेष सभी पशुओं में जैसे "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" यह सामान्य शास्त्र प्रवृत्त होता है, वैसे ही लिंगांगी के मृत देह को छोड़ शेष सभी मृत देहों में दहनविधायक सामान्य शास्त्र का अनुसरण कर लेना चाहिये।

कार्यः । न चोदाहृतश्रुत्या बोधितस्य खननस्य यतिविषयत्वमिति वाच्यम्, सर्वत्र शरीरमित्यादौ यतिवाचकपदाभावेनोभयत्र खननाचारानुरोधेनोभयसाधारण्येन खननविधायकश्रुतीनां सङ्कोचासहिष्णुत्वात्, उदाहृतश्रुतिस्मृत्यादौ लिङ्गाङ्गिब्राह्मणबोधकपदसत्त्वाच्चेति ।

किञ्च, भारतेऽनुशासनपर्वणि गौरीं प्रति शिववचनेन दहनखननोभयोरपि विहितत्वेन वेदतुल्यभारतबोधितखननस्य लिङ्गधारिब्राह्मणविषयत्वमावश्यकमेव। तथाहि– 'स्वभावमरणं नाम न तदात्मेच्छया भवेत् । तदा मृतानां यत्कार्यं तन्मे शृणु यथा तथा ।। भूमौ संवेशयेद् देहं नरस्य विनशिष्यतः । निर्जीवं

योगाद् बोद्धव्यः। यतिविषयकत्वमपि न सम्भवति, यतिपदाभावात्।

शंका—ऐसा मानने की अपेक्षा हम इस प्रकार भी मान सकते हैं कि अभी तक उदाहरण के रूप में दिये गये वाक्य केवल संन्यासियों के निमित्त दिये गये वाक्य हैं ? ऐसा मानने में क्या कोई आपत्ति है ?

समाधान— मृतदेह का भूनिक्षेप करना है, ऐसा बताने वाले प्रमाणवचनों में संन्यासियों का निक्षेप करना है, इस अर्थ को बताने वाला कोई पद तो नहीं है, किन्तु लिंगांगियों के मृतदेह का जैसे भूनिक्षेप किया जाता है, वैसे ही संन्यासियों के मृतशरीर का भी भूनिक्षेप करते देखा जाता है। इसलिये यह खननविधान लिंगांगी एवं संन्यासियों में समान रूप से प्रचलित है । अतः यह खननविधि केवल संन्यासियों के निमित्त है और लिंगांगियों के निमित्त नहीं है, ऐसा कैसे कहा जाय ? इसके अतिरिक्त पूर्व में दिये गये श्रुति, स्मृति, आगम आदि के प्रमाणों में लिंगांगी देह के लिये भूखनन अर्थ को बताने वाले पद अनेक हैं ।

महाभारत के अनुशासन पर्व में भी बताया गया है कि मरण तो स्वाभाविक है । अपनी इच्छा से आने वाला नहीं है । मरे हुए व्यक्ति का कैसा संस्कार करना चाहिये, पार्वती के इस प्रश्न को निमित्त बना कर भगवान् परमेश्वर कहते हैं कि हे पार्वति ! मृत देह को चन्दनमाला और सोने से अलंकृत करके दक्षिण दिशा के श्मशान में ले जाकर चिन्ताग्नि में दहन करना चाहिये, अथवा उसका भूमि में निक्षेप करना करना चाहिये ।

श्रृणुयात् सद्योवासनात्तु कलेवरम् ।। माल्यगन्धैरलंकृत्य सुवर्णेन च भामिनि । श्मशाने दक्षिणे देशे चिताग्नौ प्रदहेन्मृतम् । अथवा निक्षिपेद् भूमौ शरीरं जीववर्जितम् ।।" इति । न चात्र दहनस्य ब्राह्मणविषयत्वं खननस्य जात्यन्तरविषयत्वमिति वाच्यम्, विनिगमकाभावेन वैपरीत्यापत्तेः । न च दहनस्य श्रौतत्वेन तदेव विनिगमकमिति वाच्यम्, खननस्याप्यनेकश्रुतिस्मृत्यादिबोधितस्य पूर्वमुपपादितत्वात् । "...लिङ्गं संयोग आश्रयः । तस्माल्लिङ्गाङ्गिसंयुक्तो योऽपि सोऽत्याश्रमी भवेत् ।। प्रथमः खननोपायो द्वितीयो दहनात्मकः । तृतीयोऽदर्शनोपायः स्वदेहं त्यक्तुमिच्छताम् ।। अदर्शनमिति श्रेष्ठमवियोगोऽङ्गलिङ्गयोः । तथैव खननं श्रेष्ठं विशुद्धे पृथिवीबिले ।। तयो-

---

शंका—यह समाधान ठीक ही है, क्योंकि यहाँ दहन और निक्षेप दोनों का समर्थन किया गया है । इसका मतलब यह हुआ कि द्विज के मृत देह का दहन करना चाहिये और शूद्र के मृतदेह का निक्षेप करना चाहिये । इस प्रकार की व्यवस्था जब हो गई है, तब तो लिंगधारी के मृत देह का भूनिक्षेप करना है, यह बात आप कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—इसलिये कह सकते हैं कि दहन क्रिया ब्राह्मणों के निमित्त है और भूनिक्षेप शूद्रों के निमित्त, ऐसी व्यवस्था करने का मौका ही नहीं है, क्योंकि तब तो ऐसा भी हो सकता है कि ब्राह्मणों के निमित्त भूनिक्षेप है और शूद्रों के निमित्त दहन क्रिया । फिर जैसे दहन क्रिया श्रौत कर्म है, वैसे खनन क्रिया भी श्रौत कर्म है । शूद्रों को श्रौत कर्म का अधिकार न होने के कारण ब्राह्मणों के लिये जैसे दहन कर्म विहित है, वैसे ही लिंगधारियों के निमित्त खननकर्म विहित है, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

वातुलागम में भी बताया गया है—"लिंग ही शिव है और अंग ही क्षेत्र है । अंग-लिंग का आश्रय ही संयोग है । इस प्रकार लिंगांगों से विशिष्ट व्यक्ति ही अत्याश्रमी है । अंग और लिंग का नित्य संयोग होने से इस लिंगांगी के मृत होने पर उस शरीर का विशुद्ध भूमि में निक्षेप करना ही श्रेष्ठ है" । वातुलागम की इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि लिंगांगियों के लिये श्रौत खनन

रभावे दहनं शिखिकर्पूरयोगवत् ।।" इति वातुलोत्तरतन्त्रानुरोधाच्चेति ।

अथैवमुक्तप्रणाल्या लिङ्ग्यलिङ्गिब्राह्मणानां सर्वेषामपि दहननिषेधे—"अर्थी समर्थो विद्वान् जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत"(शा० भा० ६।१।५) इत्यादिवाक्यविहितसाधनसम्पन्नस्य ब्राह्मणमात्रस्य—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति

कर्म ही उत्तम माना जाता है, न कि दहन कर्म । इस विषय को स्पष्ट करने के लिये यहाँ वैदिक उदाहरण दिया जा रहा है । वेद में अग्न्याधान प्रकरण में बताया गया है कि जिसको अपेक्षा है, जो समर्थ है, जो विद्वान् है, जो सन्तान वाला है और जिसके बाल अभी काले हैं, वह अग्नि का आधान (ग्रहण) करे ।

अन्य वेद वाक्यों के अनुसार ब्राह्मण वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में, वैश्य शरद् ऋतु में अग्नि का आधान करता है । आधान कर्म के कर्ता को उद्दिष्ट करके इस वाक्य में "जातपुत्रः कृष्णकेशः" इन विशेषणों का विधान किया गया है । इसलिये यहाँ पर वाक्यभेद नामक दोष प्राप्त होता है । उस दोष का परिहार करने के लिये "जातपुत्रः, कृष्णकेशः" इन दो पदों का लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिये, ऐसा पूर्वमीमांसा शास्त्र में निश्चय किया गया है । यहाँ 'जातपुत्रः' का अर्थ है बालबच्चें वाला और 'कृष्णकेशः' का अर्थ है काले बाल वाला । इसका मतलब यह हुआ कि जो सन्तान वाला है और जो काले बाल बाला है, वह आधान कर्म का अधिकारी है । इससे जिसको बच्चे नहीं हैं और जिसके बाल सफेद हो गये हैं, वह आधान कर्म के योग्य नहीं है, ऐसा निश्चय किया जाता है । लेकिन इन दोनों पदों के शब्दार्थ को ग्रहण करने पर वाक्यभेद होना अवश्यम्भावी है । इसलिये एकवाक्यता दिखलाने के लिये इन दोनों पदों को मिलाकर लक्षणा वृत्ति से अवस्था (उम्र) विशेष को दिखाया जाता है कि इस प्रकार की अवस्था से विशिष्ट व्यक्ति ही अग्न्याधान का कर्ता हो सकता है । बाल्यावस्था में पुत्रोत्पत्ति नहीं हो सकती और वृद्धावस्था में बाल काले नहीं रह सकते । इसलिये उक्त पदों के लाक्षणिक अर्थ के आधार पर इन दोनों से विशिष्ट युवा व्यक्ति ही आधान कर्म का कर्ता हो सकता है, ऐसा निर्णय किया गया है । इसी प्रकार दहनविधि और खननविधि सभी के निमित्त होने पर भी प्रकृत में लिंगधारण रहित द्विजों एवं

यज्ञेन दानेन तपसाऽनशनेन" (बृ० उ० ४।४।३२) इति श्रुत्यापादितब्राह्मणवेदसाधनीभूतयज्ञस्यावश्यकर्तव्यत्वेन—"कश्यपाऽत्रिभरद्वाजगौतमाद्या महर्षयः" इत्युदाहृतलिङ्गपुराणवचनविहितलिङ्गधारणवतामेव कश्यपादीनां शिवपुराणे वायवीयसंहितायां जटालिङ्गधारणनिरूपणप्रस्तावे आहिताग्नित्वप्रतिपादनादाधुनिकानामपि केषाञ्चित् पूर्वशैवानामुक्तसाधनवतामाहिताग्नित्वदर्शनात्। तेषामपि दहननिषेधप्राप्तौ—"आहिताग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैः" इति कल्पसूत्रविरोधः, तेन चाहिताग्निमात्रस्यावसाने वैतानाग्निहोत्रपात्रैः सह दहनविधानादिति चेत् ? मैवं मंस्थाः,

---

"कश्यपात्रिभरद्वाजगौतमाद्या महर्षयः" इत्यादिना लिङ्गपुराणे कश्यपादिमहर्षीणां लिङ्गाङ्गसङ्गित्वमुक्तम्। शिवपुराणे वायवीयसंहितायां कश्यपादीनामाहिताग्नित्वमुक्तम्। तत्र का प्रक्रियाऽऽश्रयितव्येति विचारस्तु

स्त्रियों को छोड़कर अन्य सभी लिंगधारी स्त्री-पुरुषों के मृत शरीर के लिये खननविधि ही विहित है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। अन्य वेदवाक्य भी इसका समर्थन करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि ब्रह्मनिष्ठ होने की इच्छा वाले ब्रह्मशब्द वाच्य उस परमात्मा को वेदनिर्दिष्ट यज्ञादि कर्मों से, दान से, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तपस्या से और अनशनव्रत से जानने की चेष्टा करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मोक्ष को चाहने वाले को यज्ञादि कर्मों का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये। वैसे ही लिंगधारी सभी वीरशैव स्त्री-पुरुषों के लिये यह आवश्यक है कि उनके मृत शरीर को भूनिक्षेप संस्कार द्वारा अवश्य संस्कृत किया जाय।

लिंगधारी कश्यप, अत्रि, भरद्वाज आदि महर्षियों का उल्लेख लिंगपुराण में मिलता है। शिवपुराण की वायवीय संहिता में जटा पर लिंगधारण करने वाले इन महर्षियों के प्रसंग में आहिताग्नियों के द्वारा विहित धर्मों को बताया गया है। इस प्रकार के आहिताग्नियों के मृत शरीर की दहनक्रिया का निषेध प्रसक्त होने पर—'आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैः" अर्थात् यज्ञपात्रों के साथ आहिताग्नि को जलाना चाहिये, ऐसा कल्पसूत्र में कहा गया है। मनुस्मृति में यागशील की पत्नी यदि अकस्मात् मर जाती है, तो उस याग से सम्बद्ध सभी बर्तनों के साथ

"एवं मृतां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् । दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ।। भार्यायै पूर्वमारण्यै दत्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि । पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च ।।" (५।१६७-१६८) इति मनुस्मृत्या यज्वपत्न्याः प्रथमं मरणप्रसक्तौ यागीयाग्निहोत्रपात्रैः सह तस्या दहनविधानेन द्वितीयविवाहात् पूर्वमेव यज्वनोऽपि मरणप्रसक्तावग्निहोत्रपात्राणां पूर्वविनियुक्तत्वेन तद्विषये कल्पसूत्रविहितयागीयाग्निहोत्रपात्रकरणकदहनस्यानित्यत्वस्वीकारात् ।

न च कल्पसूत्रे यज्ञपात्रैर्वेति विकल्पविधानादरण्यादिव्यतिरिक्तपात्राग्निहोत्रैर्जायादहनेऽप्यरणिमथनयोः सत्त्वेन यज्वनो मरणप्रसक्तौ पुनरग्निमुत्पाद्यारण्यादिना सह दाहः

न कर्तव्यः, तेषामृषीणां कल्पान्तस्थायित्वेन तद्विचारे फलाभावात् । इतः परमपि संभावितानामाशङ्कानां निराकरणेन खननपक्षः शिवलिङ्गाङ्गिसङ्गिषु स्थापितः ।

उसका दहन करना चाहिये, ऐसा विधान किया गया है । अब दूसरी शादी होने से पहले वह यागशील व्यक्ति यदि मर जाता है, तो उसके पास रहने वाले सभी बर्तनों का तो पहले ही विनियोग हो गया है, तब तो कल्पसूत्र में बताये गये यागसम्बन्धी बर्तन ही नहीं रह जाते । उस अवस्था में साधन स्वरूप बताये गये अग्निहोत्र सम्बन्धी पात्रों के न रहने से उस दहन कर्म को अनित्य मानना होगा, क्योंकि साधन ही जब नहीं रह जाता, तो साध्य की सिद्धि कैसे संभव हो सकती है ?

शंका—कल्पसूत्र में तो "यज्ञपात्रैर्वा" ऐसा विकल्प बताया गया है । इससे यह अर्थ निकलता है कि यज्ञ से सम्बद्ध अरणि आदि को छोड़कर अवशिष्ट अग्निहोत्र पात्रों के साथ यागशील व्यक्ति की पत्नी के मृत शरीर का दहन करने पर भी अरणि आदि जो अवशिष्ट रहे हैं, उनसे यागशील व्यक्ति के मृत शरीर का दहन करना चाहिये । ऐसा अर्थ किये जाने पर जब दहन क्रिया में आसन्न अनित्यत्व नामक दोष का परिहार सम्भव है, तो अनित्यत्व दोष कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

क्रियत इति वाच्यम्, "यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्" (५।१६७) इति मनुस्मृत्या किञ्चित्पात्रव्यतिरिक्तपात्रैर्दहनाप्रतीतेः, तथापि यागीयाग्निहोत्रेण यज्वनो दहनाभावेन कल्पसूत्रविहितकर्मानित्यत्वस्यापरिहाराच्च। किञ्च, "प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्वस्वेन सदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥" (६।३८) इति मनुस्मृत्याऽऽहिताग्नेर्विप्रस्य तुर्याश्रमस्वीकारसमयसमवधाने प्राजापत्येष्टिं निर्वर्त्याग्नीनामात्मारोपणं कृत्वा स्वगृहात् प्रव्रजेदिति विधानेन तस्य च—"सर्वकर्मनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च" इत्यादिपूर्वोदाहृतवचनेन दहननिषेधवत् तद्विषयेऽप्यनित्यत्वाच्च।

न च संन्यस्तस्य यज्वनो दहनाभावेऽपि तत्पत्नीदेहावसानपर्यन्तं पात्राणि संगृह्यावसानकाले पात्रैः सह दहनं क्रियत

समाधान—ऐसी बात नहीं, क्योंकि "यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्" ऐसा मनुस्मृति में कहा गया है। कुछ पात्रविशेषों को छोड़कर शेष सभी पात्रों से दहन करना चाहिये, वहाँ ऐसा वाक्य नहीं दिखता। अतः याग से सम्बद्ध यज्ञीय पात्रों के अभाव में पात्रों के साथ दहनविधान के लागू न होने से कल्पसूत्र में बताये हुए कर्मों के अनित्यत्व दोष का परिहार सम्भव नहीं है।

अपि च, आहिताग्नि ब्राह्मण के लिये जब संन्यास लेने का समय समासन्न हो जाता है, तब प्राजापत्य याग का सम्पादन करके वैदिक अग्नियों का आत्मा में समारोप करके घर अथवा मठ को त्यागकर संन्यास ले लेना चाहिये, ऐसा मनुस्मृतिकार कह रहे हैं। इस प्रकार संन्यास स्वीकार कर लेने पर "सर्वकर्मनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च" इस वाक्य के अनुसार उस व्यक्ति के लिये दहन कर्म का निषेध किया गया है। इसलिये भी अनित्यत्व दोष का परिहार सम्भव नहीं है।

शंका—यह ठीक है कि यागशील व्यक्ति जब संन्यास ले लेता है, तब उसके निमित्त दहन क्रिया का निषेध लागू हो जाता है, किन्तु उसकी धर्मपत्नी के दहन के निमित्त जब यज्ञपात्र हैं, तब दहन क्रिया का कोई अवरोध न होने से दहन क्रिया नित्यविधि प्रयुक्त ही मानी जायगी।

एवेति वाच्यम्, "आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति" इति श्रुतपुल्लिङ्गतानिर्वाहायाहिताग्निपदस्य यज्वपरत्वेन तस्य दहनाभावेऽनित्यत्वापरिहारात्। न च लिङ्गव्यत्ययेनाहिताग्निपदस्य तत्पत्नीपरत्वमपि स्वीक्रियत इति वाच्यम्, यागोयाग्निहोत्रपात्रोभयकरणकदहनस्य तस्या अप्यभावेन कल्पसूत्रविहितकर्मणोऽनित्यत्वावश्यम्भावात्, देशकालवैपरीत्यादिना यज्ञपात्रविच्छेदे तत्सहभावेनापि दहनाभावात्; संन्यस्यद्यज्वाऽग्निहोत्रात्मारोपणसमकालमेव पात्राणां पृथग्दहनं कृत्वा संन्यस्यतीति पक्षे तत्पत्नीदेहावसानपर्यन्तं यज्ञपात्राभावाच्चेति।

अपि च—"गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वपुः पतितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥ अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्॥ ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥…वैतानिकं च

समाधान—आपकी यह बात उचित नहीं है। ऐसे अनित्यत्व दोष का परिहार नहीं हो पाता, क्योंकि "आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति" इस श्रुति में पुल्लिग का प्रयोग होने से आहिताग्नि पद उस यागशील व्यक्ति से सम्बद्ध है। इसलिये जब तक उसे न जलाना जाय, तब तक अनित्यत्व दोष का परिहार नहीं हो सकता।

शंका—ऐसा क्यों? श्रुति के आहिताग्नि पद के पुल्लिग होने पर भी लिंग का व्यत्यास करके उसका धर्मपत्नीपरक अर्थ कर ही सकने हैं?

समाधान—ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि यागसम्बन्धी अग्निहोत्र और बर्तन, इन दोनों साधनों से विशिष्ट दहनकर्म पत्नी का न होने से कल्पसूत्र में बताये हुए कर्म में अनित्यत्व दोष अवश्य ही मानना पड़ेगा। देश-काल की परिस्थितियों से यज्ञपात्रों के ध्वस्त होने पर तो उनके साथ उस व्यक्ति का दहन किसी हालत में भी नहीं हो सकता। संन्यास ग्रहण की इच्छा वाला यागशील व्यक्ति अग्निहोत्र को आत्मारोपित करते समय उन बर्तनों को अलग से जला कर संन्यास ग्रहण कर सकता है, ऐसा विकल्प भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी पत्नी जब तक रहेगी, तब तक उन यज्ञपात्रों का परित्याग नहीं किया जा सकता।

जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ॥" (म० स्मृ० ६।२-४,९) इति स्मृत्या यज्वनस्तदन्यस्य वा गृहस्थस्य—"ब्रह्मचारी गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" इत्याश्रमक्रमविधायकवाक्यविहितवानप्रस्थाश्रमसमयबन्धे स्वयमाहिताग्निश्चेत् प्राजापत्येष्टिं कृत्वात्मन्यग्नीनारोप्य पुत्रादौ भार्यां निवेश्यारण्यप्रवेशं कुर्यात् । यद्वा वानप्रस्थस्याग्निहोत्रादिकर्माधिकारस्य विद्यमानत्वेन वैतानाग्निहोत्रपात्रादिकं परिगृह्य भार्यया सहैव वनं गत्वा वन्यवृत्त्यैव जीवन्नग्निहोत्रादिसकलकर्मानुष्ठानमाचरन्नेव निवसेदित्यभिहितत्वेन वानप्रस्थस्य यज्वनो देहावसानप्रसक्तौ—"वानप्रस्थं योगिनं च लिङ्गैक्यं भिक्षुकं यतिम्" इत्याद्युताहृतशातातपस्मृत्या तस्य खननविधानेन कल्पसूत्रविहितयागीयाग्निहोत्रपात्रकरणकदहनस्य नित्यत्वाभावाच्च ।

न च तस्य दहनाभावेऽपि तत्पत्नीदेहावसानपर्यन्तं पात्रादिकं संस्थाप्य तैः सह क्रियत इति वाच्यम्, पत्नीसहभावेनै-

---

पुनश्च, स्मृतिकारों का कहना है कि ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम को, गृहस्थ वानप्रस्थाश्रम को, वानप्रस्थ संन्यासाश्रम को स्वीकार करे । वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार करते समय उस व्यक्ति के आहिताग्नि होने पर उसे प्राजापत्येष्टि का सम्पादन करके अपने में अग्नि को समारोपित कर अपनी पत्नी को पुत्रों के साथ छोड़कर अरण्य में प्रवेश करना चाहिये । अथवा वैकल्पिक व्यवस्था के अनुसार जब तक वानप्रस्थाश्रम में रहता है, तब तक अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म करने का अधिकार होने से अग्निहोत्र से सम्बद्ध पात्रों को लेकर पत्नी के साथ जंगल में जाकर कन्द-मूल-फलों को खाकर जीवित रहने का विधान है । उस यागशील वानप्रस्थ के शरीर छोड़ने का जब समय आता है, तब पूर्वोक्त शातातप स्मृति के अनुसार उस प्रकार के वानप्रस्थ के लिये खनन (निक्षेप) करने का विधान होने से कल्पसूत्र के अनुसार याग से सम्बद्ध अग्निहोत्र के पात्रों के साथ दहन कर्म न होने से उक्त विधि में अनित्यत्व दोष रह ही जाता है ।

शंका—ऐसे व्यक्ति की दहनक्रिया न होने पर भी उनकी पत्नी जब तक न मरेगी, तब तक उन पात्रों की रक्षा करती रहेगी, तो उन पात्रों के साथ उसकी

वाश्रमस्वीकारेण तस्या अपि वानप्रस्थत्वेन दहनायोगात् । तर्हि वैतानपात्राणां का गतिरिति चेत् ? अग्निहोत्रेण पात्राणां पृथग् दहनम्, वानप्रस्थपत्नीशरीरस्य खननमेव कार्यमिति गृहाण । अस्तु वा वानप्रस्थपत्न्या दहनम्, तथापि यजमानातिक्रमे वैतानाग्नेरभावेन पात्राणां देशकालवैपरीत्येन विच्छेदे लौकिकाग्निना दहनेऽपि सूत्रविहितकर्मानित्यत्वस्य वज्रलेपायितत्वमेव ।

ननु कल्पसूत्रविहिताग्निदहनस्य श्रौतत्वेन बलवत्त्वान्न शातातपादिस्मृत्या तस्यानित्यत्वकथनं युक्तमिति चेन्न, श्रुतावपि तस्यानित्यत्वबोधनात् । तथा च—"येऽग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा ये वा जाताः कुले मम । भूमौ दत्तेन पिण्डेन

दहनक्रिया क्यों नहीं हो सकती ? इससे दहनक्रिया के नित्यत्व को कौन रोक सकता है ?

समाधान—नित्यत्व इसलिये सम्भव नहीं है कि पत्नी भी वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर चुकी है । इसलिये उसकी धर्मपत्नी को भी जलाने का विधान नहीं है । तब उस याग से सम्बद्ध पात्रों की क्या गति होगी ? उन पात्रों को अलग से जला देना चाहिये, वानप्रस्थ की पत्नी के मृत शरीर को खनन करना चाहिये, यदि ऐसा निर्णय किया जाता है, तो होने दीजिये । इससे भी दोष का परिहार नहीं होगा । वानप्रस्थ की पत्नी का दहन कर्म ही करना चाहिये, ऐसा कहें तो यजमान के न होने पर वैतानिकाग्नि ही नहीं रह जाती । ऐसी अवस्था में तथा बर्तनों के देश-काल के वैपरीत्य से विच्छिन्न हो जाने पर भी लौकिकाग्नि से दहन क्रिया का सम्पादन कर लेना होगा । तब कल्पसूत्रों में बताये हुए कर्मों का अनित्यत्व दोष पहले की अपेक्षा वज्रतुल्य होकर रह जायगा ।

शंका—कल्पसूत्रों में प्रदर्शित अग्नि से दहनक्रिया के श्रौत कर्म होने से और शातातप आदि स्मृतियों में प्रदर्शित खननकिया की अपेक्षा प्रबल होने से उस प्रकार के खननविधायक वाक्य ही अनित्य हो सकेंगे, न कि दहनविधायक वाक्य । अतः दहनविधायक वाक्यों के नित्य होने में सन्देह ही क्या है ?

तृप्ता यान्तु परां गतिम् ॥" इति पिण्डप्रदाने श्रूयते । अत्र चानग्निदग्धकोटिप्रविष्टत्वमाहिताग्नीनामप्यस्ति । न चात्र— "न्यूनं द्विवार्षिकं बालं निधने न तु दाहयेत्" इति बालानां दहननिषेधात् तेषामेवानग्निदग्धकोटौ प्रवेश इति न सूत्रविहिताग्निदहनानित्यत्वमिति वाच्यम्, "असंस्कृतप्रमीता ये त्यागिन्यो याः कुलस्त्रियः । दास्यामि तेभ्यो विकिरमन्नं ताभ्यश्च पैतृकम् ॥" इति तेषां पृथक्क्लृप्तिविधानात् । नापि यतीश्वराणामनग्निदग्धकोटिप्रवेशः, "न तस्य दहनं कार्यं न च पिण्डोदकक्रिया । एकोद्दिष्टं न कर्तव्यं संन्यस्तानां कदाचन ॥" इति शौनकस्मृत्या यतीश्वराणां पिण्डप्रदाननिषेधात् । नापि जात्यन्तराणां प्रवेशः, शूद्राणां वेदमन्त्रेण विधानायोगेन—"यजमानकुले जाता दासा दास्योऽन्नकाङ्क्षिणः"

समाधान—लेकिन श्रुति में भी अनित्यत्व दोष बताया गया है। जैसे कि "येऽग्निदग्धाः" इत्यादि मन्त्र पिण्डप्रदान करते समय कहा जाता है। यहाँ पर आहिताग्नियों का अग्नि से दाह संस्कार नहीं करना चाहिये, ऐसा बता कर अनग्निदग्ध (निक्षेप) कोटि का विधान किया गया है।

शंका—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि दो साल जिसको पूरा नहीं हो पाया है, ऐसे बच्चों का दाह संस्कार नहीं करना चाहिये। इस प्रकार निषेध होने से उस अवस्था के बालक के मर जाने पर निक्षेप करने का विधान कल्पसूत्र में भी है। अतः दहन कर्म में अनित्यत्व दोष जैसे का तैसा रह जाता है।

समाधान—नित्यत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि "असंस्कृतप्रमीता ये" इत्यादि विधान में ऐसे लघु बालकों के इस नियम के अन्तर्गत न होने से दहन विधायक वाक्यों में अनित्यत्व दोष स्वीकारना ही होगा।

शंका—तब तो संन्यासियों का दाह संस्कार न होने से उनको अनग्निदग्ध कोटि में मान लेंगे।

समाधान—नहीं, क्योंकि शौनकस्मृति में संन्यासी के निमित्त दहनसंस्कार पूर्वक पिण्डप्रदान का निषेध किया गया है। इसलिये संन्यासियों को अनग्निदग्ध कोटि के अन्तर्गत नहीं ले सकते। अग्निदग्ध एवं अनग्निदग्ध इन दोनों

इत्यादिपुराणवचनैरेव तृप्तिविधानादिति। अतः परिशेषप्रमाणेन देशान्तरे विजनप्रदेशमृतानामपुत्रकाणां कर्त्राद्यभावेनाग्निसंस्काराभाववतां यजमानकुलोद्भवानामाहिताग्नीनामनाहिताग्नीनां वा गृहस्थानामरण्यादिप्रविष्टानां देहावसाने खननक्रियायामुक्तानामाहिताग्निवानप्रस्थानां चानग्निदग्धकोटौ प्रवेशः कार्य इति। एवं च कल्पसूत्रादिविहिताग्निदहनस्यानित्यत्वसिद्धौ लिङ्गधारिद्विजानामुदाहृतानेकश्रुतिस्मृत्यादिकदम्बेन खननक्रियाविधानादाहिताग्नीनामपि तेषां देहावसानपूर्वकाले प्राजापत्येष्टिं कृत्वात्मन्यग्नीनारोप्य मृतानां खननक्रियैव कर्तव्या, तत्पत्नीनामप्यवसाने पात्राणां पृथग् दहनं कृत्वा खननमेव कर्तव्यमित्यवगन्तव्यम्।

किञ्च, मार्गशैवानां (पूर्वशैवानां) दहनकरणे खननाकरणे च प्रत्यवायविधानादाहिताग्न्यनाहिताग्निसाधारण्येन

के लिये पिण्डप्रदान का विधान किया गया है। ऐसे ही—"यजमानकुले जाता दासा दास्योऽन्नकाङ्क्षिणः" इस प्रमाणवचन के आधार पर शूद्रों के लिये वेदोक्त कर्माधिकार न होने से उस प्रकार का पिण्डदान न कराकर केवल अन्न से दास और दासियों को तृप्त करने का विधान होने से शूद्रों का भी अनग्निदग्ध कोटि में प्रवेश नहीं करा सकते। अन्त में परिशेष न्याय का अनुसरण करते हुए जो भिन्न देश में या विजन प्रदेश में मृत हो, जिसके बाल-बच्चे न हों, अथवा अपनानेवाला कर्ता न हो, ऐसे लोगों को और यजमान के कुल में उत्पन्न आहिताग्नि हो या अनाहिताग्नि हो, अरण्य में प्रविष्ट गृहस्थ हो, खनन विधि में बताये गये आहिताग्नि व वानप्रस्थ का अवसान प्राप्त होने पर उनके निमित्त अग्नि संस्कार (दहन) न करने के कारण इन सबका अनग्निदग्ध कोटि में प्रवेश करना चाहिये। इससे कल्पसूत्रों के द्वारा विहित दहनक्रिया अनित्य सिद्ध हो जाती है।

जो लिंगांगी वीरशैव हैं, उनके निमित्त पहले निरूपित श्रुति, स्मृति आदि के अनेक प्रमाणों से खनन विधि ही बताई गई है। जो आहिताग्नि प्राजापत्येष्टि का सम्पादन करके वैदिक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके शरीर को छोड़ते हैं, उन लोगों के निमित्त भी खनन विधि ही बताई गई है। इसके

तद्विषये दहनविधायकसकलवाक्यानामपि संकोच एवाङ्गीकरणीयः। तदुक्तं सदानन्दोपनिषदि—"शिवलिङ्गधरं विप्रं विपन्नं तु न दाहयेत्। यदि वा दाहयेत् तस्य ब्रह्महत्या तदा भवेत्॥" (१२) इति। स्कान्दे—"मृतलिङ्गाङ्गिनो देहमज्ञानाद् दहते यदि। शिवालयसहस्राणां दाहदोषमवाप्नुयात्॥ यदीच्छेद् दहनं तत्र शिवाग्नौ तन्निवेदयेत्। तत्रापि लिङ्गकायस्य दहनं तु विवर्जयेत्॥" इति। पद्मपुराणे—"सर्वाश्रमातिरेकेण भवेदत्याश्रमी द्विजः। लिङ्गाङ्गो यदि वा मुक्तो दग्धुं नार्हति कर्मणा॥" इति। वायवीयसंहितायाम्—"षडध्वशुद्धिं विधिवत् प्राप्तो वा म्रियते यदि। पशूनामिव तस्येह न कुर्यादौर्ध्वदैहिकम्॥" इति। शिवधर्मशास्त्रे—"यः प्राणलिङ्गसंल्लग्नो लिङ्ग-

---

अतिरिक्त यज्ञ-पात्रों को अलग-अलग से जलाने के बाद उस यागशील व्यक्ति की पत्नी के अवसान में खनन का ही विधान किया गया है। इसी प्रकार मार्गशैवों के लिये खनन कर्म को छोड़कर दहन करना दोषावह माना जाता है। इसलिये आहिताग्नि व अनाहिताग्नि इस प्रकार के मार्गशैवों के विषय में दहन के विधान करनेवाले सभी वाक्यों के अर्थ का संकोच करना ही है। और भी—"जो लिंगधारी होता है, उसकी अन्त्य क्रिया में जो कठिनाइयां हों, किसी भी हालत में खनन कर्म ही करना है, न कि दहन कर्म। प्रमादवश दहन करने पर ब्रह्महत्या का दोष लगता है"। इस प्रकार सदानन्दोपनिषत् में कहा गया है। इसी सन्दर्भ में स्कन्दपुराण में भी कहा गया है कि लिंगधारी वीरशैवों के मृत शरीर को अज्ञान से जलाने पर एक हजार शिवालयों को जलाने का दोष लगता है। उनकी देह को जलाने की इच्छा होने पर शिवाग्नि में निवेदन करे। अपने अंग में जिसने लिंग को धारण कर रखा है, उसका कभी भी दहन नहीं करना चाहिये। पद्मपुराण का भी कहना है कि सभी आश्रमों को अतिक्रमण करके जो अत्याश्रम को स्वीकार करते हैं, ऐसे लिंगधारी यदि मुक्तात्मा हों, तो उनके मृत देह का दहन नहीं करना चाहिये। वायवीयसंहिता कहती है कि वर्णाध्व, पदाध्व आदि षडध्वशोधन संस्कार पूर्वक जो शिवलिंगधारी हुआ है, शरीर को छोड़ देने पर उसके पशुकर्मोपाधि के निमित्त दहनपूर्वक और्ध्वदैहिक कर्म नहीं करना चाहिये।

प्राणी वियुज्यते। शरीरदहनात् तस्य नरके कालमक्षयम् ॥ भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गमापादतलमस्तकम्। रोम रोम भवेल्लिङ्गं तद्देहं दाहवर्जितम् ॥ योगाग्निप्लुष्टकायस्य त्वात्मलिङ्गेष्ट-लिङ्गयोः। संयोगान्मोक्षकाले तु मुमुक्षोः सा तनूः शिवा ॥ यदङ्गं तु मृतं दृष्टं निक्षिपेत् तत्तु लिङ्गिनः। तद्देहदहनाद् घोरं रौरवं नरकं व्रजेत् ॥ प्राणलिङ्गवतां पुंसां लिङ्गप्राणवतां तनोः। प्राप्ते मरणकाले तु न कुर्याद् दहनं बुधः ॥ अज्ञानाद् दहनं कृत्वा नरकं वाधिगच्छति ॥" इति। वीरागमे—"कोटिशैवालयं दग्धं शिवभक्तं दहेद् यदि। दहन्नज्ञानयोगेन ब्रह्महत्यामवाप्नुयात ॥ लिङ्गदेहिशरीरस्य लिङ्गसंस्कार-वर्जितः। कुर्याच्चेद् वह्निसंस्कारमुभयोर्नरके क्षयः ॥ यः प्राण-लिङ्गनिक्षिप्तो निक्षिपेत् तं तु लिङ्गिनम्। तद्देहदहनाद् घोरं रौरवं नरकं व्रजेत् ॥" इति। शिवरहस्यखण्डे—"रुद्ररूपः

शिवधर्मशास्त्र में बताया गया है कि प्राण में लिंग का और लिंग में प्राण का समावेश करने वाले लिंगधारी के मृत होने पर उसके लिंगदेह का दहन नहीं करना चाहिये। अज्ञानवश दहन करने पर चिरकाल पर्यन्त नरक का अनुभव करना पड़ता है। पाद से लेकर मस्तक पर्यन्त सभी अंगों में भस्म का लेपन करके रोम-रोम जिनका लिंगमय बन गया है, उनके देह का दहन नहीं करना चाहिये। योगाग्नि से दग्ध शरीरवाले तथा इष्टलिंग और ज्योतिर्लिंग संयोग को प्राप्त किये हुए मुमुक्षु लिंगांगी के मर जाने पर उसके देह का भूमि में निक्षेप कर देना है, न कि दहन।

वीरागम में बताया गया है कि लिंगांगी शिवभक्त को जलाना करोड़ों शिवालयों के जलाने के समान है। प्रमादवश शिवभक्त को जलाने वाला ब्रह्महत्या के दोष का भागी होता है। लिंगदेही के मृत शरीर को जलाने वाला यदि संस्कारहीन है और जो प्रमाद से जलाने वाला है – इन दोनों को नरक की प्राप्ति होती है। प्राणलिंग को धारण किये हुए शिवलिंगधारी का भूमि में निक्षेप न कर जो दहन करता है, वह घोर नरक को प्राप्त करता है। शिवरहस्य खण्ड

शिवज्ञानी सर्वाङ्गे लिङ्गसङ्गिनः। कर्ममन्त्रेण दहनान्नरकः कालमक्षयम् ।। लिङ्गं भूतिं च रुद्राक्षं ये देहे धारयन्ति च। सर्वाङ्गलिङ्गसंयुक्तं तद्देहं शिवमुच्यते ।। तद्देहं दहते कर्मी नरकः कालमक्षयम् ।।" इति।

एवं च—"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्", "अहरहः सन्ध्यामुपासीत", "स्नानं सन्ध्या जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च सत्कर्माणि दिने दिने ।। दद्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमाहरन् ।।" इत्यादिवाक्यविहिताकरणे प्रत्यवायजनकयावज्जीवकर्तव्यनित्यनैमित्तिकादिसकलकर्माणि परित्यज्य—"अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवरेण सुतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत् ।।" इति वैधनिषेधसत्त्वेऽपि लिङ्गधारणरहितब्राह्मणानां यागगङ्गास्नानान्नदानादितत्तत्सत्कर्मानुष्ठानानन्तरं गार्हस्थ्यं परित्यज्य यत्याश्रमस्वीकारे गृहस्थाश्रमकृततत्तत्सत्कर्मजनि-

---

में बताया गया है कि सर्वलिंगसंयोगी रुद्रस्वरूप शिवज्ञानी का जो दहन करता है, वह घोर नरक को प्राप्त करता है। लिंग, भस्म और रुद्राक्ष को जो धारण करते हैं, वे सर्वांगलिंगसम्बन्धी कहे जाते हैं। उनके मंगलमय देह को जलाना नहीं चाहिये। जो जलाता है, वह दीर्घकाल पर्यन्त नरक को प्राप्त करता है।

शंका—जब तक द्विज रहता है, तब तक अग्निहोत्र करता ही है। वह प्रतिदिन सन्ध्या भी करता है। इसके अतिरिक्त स्नान, सन्ध्या, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, आतिथ्य और वैश्वदेव आदि नैमित्तिक कर्म भी करता है। पितरों का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन श्राद्ध भी करता है। इन सभी का अनुष्ठान न करने पर दोष का भागी होता है, ऐसा धर्मशास्त्रों में बताये जाने पर भी इन सभी नैमित्तिक कर्मों को छोड़कर तथा—"घोड़े की यज्ञ के निमित्त बलि देना, गाय की बलि देना, संन्यास लेना, मांस का तर्पण करना और देवर से सन्तान प्राप्त करना यह—पाँच कर्म कलियुग में नहीं करना चाहिये" इस निषेध को ध्यान में न रखकर गृहस्थ धर्म को छोड़कर जो शास्त्रनिषिद्ध संन्यास को

तापूर्वं तदात्मनि वर्तते न वा ? आद्ये, आशुतरविनाशिनो यागादेः कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वान्यथानुपपत्त्या कल्पितापूर्वस्य कर्माधीनलोकप्राप्तिहेतुत्वेन संन्यस्तानामपि तदङ्गीकारे सायुज्यमुक्त्यर्थं संन्यास इति सिद्धान्तवाक्यानुपपत्तिः। न च निष्कामनाकृतकर्मानुष्ठानस्य मुक्तिप्रयोजकत्वेन स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र स्वर्गपदस्य—"यन्न दुःखेन संभिन्नं च न ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं यत् तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥" इत्यादिवाक्यबोधितस्वःपदवाच्यनित्यसुखस्वरूपमोक्षवाचकत्वेन यत्यात्मनि गार्हस्थ्यकृतकर्मजनितापूर्वसत्त्वेऽपि न मुक्तिहानिरिति वाच्यम्, तर्हि निष्कामनाकृतकर्मानुष्ठानेनैव मोक्षसिद्धौ यावज्जीवकर्तव्यतत्तत्कर्मत्यागपूर्वकमाश्रमस्वीकारे प्रयोजनाभावात्।

स्वीकार करते हैं, उनमें पूर्वाश्रम में किये गये पुण्य कर्मों का अपूर्व रहता है, या नहीं ? इस प्रकार के दो विकल्प उठते हैं। हमारा कहना है कि संन्यास स्वीकार करने पर भी पूर्वकृत कर्मजन्य अपूर्व रहता है। जैसे कि पहले किये हुए सभी याज्ञिक क्रियाकलापों के नष्ट हो जाने पर भी कालान्तर में जब तक स्वर्ग का फल प्राप्त नहीं होता, तब तक अपूर्व उस आत्मा में सुस्थिर रहता है और देहपतन के बाद कर्म के अनुगुण फल को प्राप्त करा देता है। ऐसी स्थिति में सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक जब संन्यास ग्रहण किया जाता है, तब "सायुज्यसिद्ध्यर्थं संन्यासः" इस सिद्धान्त के अनुसार संन्यासियों को प्राप्त होने वाले मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—फलापेक्षा से रहित होकर किये हुए कर्म मुक्ति के प्रापक हैं। इसलिये "स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य का स्वर्ग पद नित्य सुख स्वरूप मोक्ष नामक अर्थ को व्यक्त करता है। अतः संन्यासी की आत्मा में गृहस्थाश्रम में अनुष्ठित ज्योतिष्टोम आदि यागों से सम्प्राप्त अपूर्व के होने पर भी वह अपूर्व मोक्ष का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। इसलिये किसी प्रकार की अपेक्षा को न रखकर जब कर्मानुष्ठान किया जाता है, तब उससे मोक्ष की प्राप्ति हो ही जाती है। इस

न च—"नान्यत्र कर्मसन्त्यागान्मोक्षं विन्दन्ति मानवाः", "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (तै० आ० १०।१०।३) इत्यादिना कर्मसंत्यागेनैव मोक्षप्रदर्शनेन यत्याश्रमस्वीकार आवश्यक एवेति वाच्यम्, तादृशवाक्यानाम्—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे० उ० ३।८), "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७।१।३), "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इत्याद्यनुरोधेन ज्ञानस्य साक्षाद्धेतुत्वबोधनात् तद्द्वारा कर्मणां मुक्तिहेतुत्वं न साक्षादित्यत्र तात्पर्यम्, न तु ज्ञानद्वारा तद्धेतुत्वं नास्तीत्यत्रेति । अन्यथा—"नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत् ॥" इति, "अभ्यासात् तस्य विज्ञानं कैवल्यं लभते नरः । धर्मात् सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षोऽधिगम्यते ॥", "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (भ०गी० ३।२०), "न्यायार्जितधनो विद्वांस्तत्त्वनिष्ठोऽतिथिप्रियः । श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥",

---

अवस्था में जीवनकाल पर्यन्त किये जाने वाले नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों को छोड़कर अत्याश्रम स्वीकार करने की कोई जरूरत नहीं है ।

शंका—संन्यास की आवश्यकता तो है ही, क्योंकि "कर्म का त्याग करने से ही मोक्ष की सिद्धि होती है" ऐसा प्रमाण वचन होने से संन्यास को स्वीकार करने का प्रयोजन तो है ही । तब संन्यास की जरूरत क्यों नहीं है ?

समाधान—उस प्रकार के कर्मत्याग पूर्वक संन्यास को बताने वाले "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय", "तरति शोकमात्मवित्", "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इस प्रकार के श्रुतिवाक्य मोक्ष का साक्षात्कार ज्ञान से होता है ऐसा बोध कराते हैं । कर्म तो केवल ज्ञान का हेतु है, न कि मोक्ष का साक्षात् हेतु । अन्य भी अनेक वचन हैं, जो ज्ञान के द्वारा ही कर्म को मुक्ति का कारण मानते हैं । यदि संन्यास न माना जाय, तो ऐसे स्पष्ट वचनों का विरोध होगा ।

"काश्यां तु मरणान्मुक्तिः" इत्यादिवाक्यविरोधापत्तेः, तादृशवाक्यानां ज्ञानद्वारा कर्मणां मुक्तिजनकत्वबोधकत्वात् ।

द्वितीये तत्तत्कर्मजनितापूर्वस्य फलोदयपर्यन्तावस्थायित्वप्रतिपादकसिद्धान्तव्याघातापत्तिः । किञ्च, वशिष्ठविश्वामित्रादीनां नित्यनैमित्तिकादिसकलकर्मानुष्ठानव्यग्राणामेव जीवन्मुक्तिदशापन्नत्वेन मुक्त्यर्थं संन्यासाश्रयणायोगाच्चेत्यादि यौक्तिकबाधसत्त्वेऽपि—"तत्त्वस्य श्रवणं कुर्यात्", "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः" (तै० आ० १०।१०।३) इत्यादिवाक्यानुरोधेन शङ्कराचार्यैः कलिसन्धौ शपथशतसाधितत्वेन चतुर्थाश्रमोऽङ्गीक्रियते । यथा च ब्राह्मणमात्रस्य पितृमेधादिपठितानेकमन्त्रैर्दहनविधानेऽपि—"स्नात्वा गृहस्थः शुद्धात्मा यतेः संस्कारमाचरेत् । शिष्यैश्च चिरमालोक्य गन्धपुष्पैरलङ्कृतम् ।। नृत्यगीतादिकैश्चापि कुङ्कुमाद्यैः कुशोदकैः । पोषितं जयशब्देन दुन्दुभिध्वनिना तदा ।। दिशं प्राचीमुदीचीं वा

इसके अतिरिक्त कर्मजन्य अपूर्व आत्मा में नहीं रहता, यह जो दूसरा पक्ष है, इसको मानने पर यज्ञयागादि कर्मों से उत्पन्न होने वाला अपूर्व बीच में नष्ट न होकर फलप्रदान करने लिये स्थिर रहता है, ऐसा मानने वाले वाले सभी सिद्धान्त व्यर्थ हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि महर्षि नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों का विधि के अनुसार अनुष्ठान करते हुए ही जीवन्मुक्त हो गये हैं। इन्होंने मुक्ति के निमित्त कर्म का त्याग करके संन्यासाश्रम को नहीं स्वीकारा है। इस प्रकार की उक्तियाँ यद्यपि संन्यासाश्रम के विरुद्ध पड़ती हैं, तो भी "तत्त्व का श्रवण करे", "वेदान्त का श्रवण कर संन्यासी योगाभ्यास से पवित्र होकर तत्त्व का साक्षात्कार करता है" इन वेदवचनों के अनुसार श्रीशंकराचार्य ने भी संन्यास को ग्रहण किया था। अतः कलि के सन्धिकाल में चतुर्थ संन्यासाश्रम को अवश्य ही स्वीकारना पड़ेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे ब्राह्मण मात्र का पितृमेध प्रकरण पठित मन्त्रों से दहन का विधान है, उसी तरह से आंगिरसस्मृति, मनुस्मृति सूतसंहिता आदि के—"गृहस्थ को स्नानादि से परिशुद्ध होकर संन्यासी के मृत देह का संस्कार करना चाहिये। उस संन्यासी के देह को गन्ध, पुष्प आदि से अलंकृत

गत्वा तत्र खनेद् बुधः। विशुद्धे तु क्षितेर्गर्ते शरीरं निक्षिपेद् यतेः ॥" इत्याङ्गिरसोक्तप्रकारानुरोधेन, "यतीनां मरणे प्राप्ते स्पृष्टयादिर्नैव विद्यते। अशौचबुद्धया स्नातश्चेद् दिक्षु यात्रां व्रजेन्नरः ॥ ज्ञातिपुत्रकलत्राणां परिव्राड्मरणं यदि। अशौचं नास्ति तेषां वै स्नानमप्याचरेन्न तु ॥ मृतौ न दहनं कार्यं परहंसस्य सर्वदा। कर्तव्यं खननं तस्य नाशौचं नोदकक्रिया ॥ अन्येषामपि भिक्षूणां खननं पूर्वमाचरेत् ॥" इत्यादिमनुस्मृतिसूतसंहितावचनानुरोधेन च तेषां खननादिकमप्यङ्गीक्रियते, तथैव च महापाशुपतानां लिङ्गाङ्गसामरस्यज्ञानवतां लिङ्गधारिणामप्यवसाने खननस्यानेकश्रुतिस्मृतिपुराणादिविहितत्वेन पितृत्वादिप्राप्तिद्वारा भाव्युपयोगिदहनस्य प्रेतकृत्यस्य प्रागुक्तरीत्या तेषामनपेक्षितत्वेन च भूतोपयोगिखननक्रियैव कर्तव्येति युक्तमुत्पश्यामः।

करके वाद्य-घोषों के साथ उत्तर अथवा पूरब दिशा में ले जाकर परिशुद्ध भूमि में गर्त का निर्माण करके उस शरीर का निक्षेप कर देना चाहिये", "मृत यतियों के बारे में अस्पृश्यादि दोष नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अस्पृश्य भावना से स्नान आदि करता है, तो प्रायश्चित्त के रूप में दिशाओं में यात्रा करने का विधान किया गया है। संन्यासी की मृत्यु होने पर उनके बच्चों को, दायादों को, रिस्तेदारों को अशौच दोष नहीं लगता। अतः स्नान करने की आवश्यकता नहीं है। परमहंस की मृत्यु होने पर उनके शरीर को नहीं जलाया जाता। निश्चय ही भूनिक्षेप कर देना चाहिये और श्राद्ध कर्म भी नहीं करना चाहिये। विभिन्न भिक्षुओं के निमित्त भी खनन विधान का ही अनुसरण करना चाहिये"। इन प्रामाणिक वचनों के आधार पर संन्यासी के लिये दहन का विधान न होकर खनन ही शास्त्रविहित है। उसी प्रकार लिंगांग सामरस्य सिद्धि को प्राप्त महापाशुपत नामक लिंगधारी के शरीर को छोड़ देने पर उस लिंगदेह का भूनिक्षेप करने के पक्ष में अनन्त श्रुति, स्मृति, पुराण आदि के वचन उपलब्ध हैं, अतः लिंगांगियों के पितृत्वादि सिद्धि के लिये दहनकृत्यपूर्वक प्रेतकृत्य की अपेक्षा न करके मोक्षोपयोगी भूनिक्षेप ही करना है, न कि दहन क्रिया।

इयांस्तु विशेषः—मार्गशैवानां (पूर्वशैवानां) यावज्जीवपर्यन्तनित्यनैमित्तिकादिसकलकर्मानुष्ठानमाचरतामेवावसानप्राप्तावाहिताग्निश्चेन्मरणाव्यवहितपूर्वकाल एव प्राजापत्येष्टयाग्नीनामात्मारोपणं विधाय खननं क्रियते, अनाहिताग्निश्चेच्छैवतन्त्रोक्तरीत्या तत् क्रियते। अलिङ्गिब्राह्मणानां तु केषाञ्चिद् यावज्जीवकर्तव्याकरणप्रत्यवायजनकनित्यनैमित्तिकादिसकलकर्मानुष्ठानपरिहारपूर्वकमाश्रमान्तरस्वीकार इति।

अत एव महापाशुपतानामाचार्यकृपाकटाक्षलब्धवेधादिदीक्षापादितसर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यनिरस्तप्राकृततनुसम्बन्ध्याणवादिमलानां लिङ्गाङ्गस्थलतत्त्वैक्यानुसन्धानवतां कालपरिपाकाद् देहावसानेन सापिण्ड्यादिकमकर्तव्यमेव, प्रेतकृत्यत्वात्।

इन महापाशुपतों एवं मार्गशैवों में रहने वाली विशेषता यह है कि मार्गशैव अपने जीवनकाल पर्यन्त नित्य, नैमित्तिक आदि समस्त कार्यों का अनुष्ठान करते हुए यदि वे आहिताग्नि हैं और मरने से पहले प्राजापत्येष्टि से अग्नि का आत्मा में समारोप करके प्राण छोड़ते हैं, तो उनका निक्षेप होगा। यदि वे आहिताग्नि नहीं है, तो उनका शैवतन्त्र के अनुसार कर्म होना चाहिये। यदि वे अलिंगी हैं, जीवन काल पर्यन्त किये जाने वाले नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों को नहीं करते, तो दोष के पात्र बनेंगे। इसलिये सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान का परिहार कर उन्हें संन्यासाश्रम का ग्रहण करना चाहिये।

सापिण्ड्य (श्राद्ध) का निराकरण

महापाशुपत कहे जाने वाले लिंगांगी लोग श्रीगुरु से वेधा, मनु और क्रिया नामक तीनों दीक्षाओं को प्राप्त करके परिशुद्ध होकर, आचार्य के कृपाकटाक्ष से सर्वांगलिंग से सम्बन्धित होकर, शरीर सम्बन्धी आणव, मायीय और कार्मिक नामक बन्धन के हेतुभूत तीनों मलों से निर्मुक्त होकर, लिंगस्थल एवं अंगस्थलों के तत्त्वानुसन्धाता होकर, लिंगानन्द रूपी वैभव से युक्त होकर रहते हुए काल के परिपाक से, जब स्थूल देह को छोड़ देते हैं, तो ऐसे लोगों की आत्मा में प्रेतत्व दोष के न होने से इनके लिये सापिण्ड्यादि कर्मों को नहीं करना चाहिये।

इदं हि सापिण्ड्यकरणे प्रयोजनम्—पित्रादीनां देहत्यागे प्रेतत्वनिर्वृत्तिं विना तेषां पितृलोकप्राप्त्यभावेन तद्द्वारा मुक्त्यभावेन च तन्निवृत्त्यर्थम्—"चतुर्थस्य निवृत्त्यर्थं प्रेतत्वस्य निवृत्तितः। पिण्डसंयोजनादूर्ध्वं चतुर्थो विनिवर्तते ॥" इति वचनानुरोधेन द्वादशेऽहनि दीर्घप्रेतपिण्डं त्रेधा विभज्य क्लृप्त-देवतात्ववति पितामहादिपिण्डत्रयेण संयोजने प्रेतोदकस्य तदुदकेन सह संयोजनेन च प्रेतत्वनिवृत्तिर्भवति। तस्य च वृद्धप्रपितामहस्थाने प्रवेशात् तन्निवृत्तिरपीति।

एवं सति पूर्वतन्त्रे—"तस्मा एतां प्राजापत्यां शतकृष्णलां निर्वपेत्", प्राजापत्यां प्रजापतिदेवताकां शत-

---

शिवलिङ्गाङ्गसङ्गिषु दहनकृत्यं निरस्य शिवसायुज्यं प्राप्तवतां तेषां प्रेत-त्वाभावाभिप्रायेण प्रेतत्वनिवृत्तिभूतसापिण्ड्यादिकमपि न कर्तव्यमित्युप-पादयत्यग्रिमग्रन्थेन। अत्रैव पूर्वतन्त्रस्य दशमाध्यायस्थं कृष्णलेष्ववघात-बाधाधिकरणमुपष्टम्भकतयोपन्यस्यति—एवं सतीति। विकृतिप्रकरणे एवं श्रूयते—"तस्मा एतां प्राजापत्यां शतकृष्णलां निर्वपेत्" इति। अत्र

प्रेतत्वनिवृत्तिपूर्वक पितृलोककी प्राप्ति ही सापिण्ड्यादि कर्मों का प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त उन कर्मों का और कोई प्रयोजन नहीं है। इसी अभिप्राय को लेकर पूर्व-मीमांसा में अवघातन्याय प्रवृत्त है। वहां विकृति प्रकरण में कहा गया है कि प्रजापति देवता से सम्बद्ध सुवर्णमय तण्डुल (चावल) के चरु (खीर) का हवन करना चाहिये। यहां सुवर्ण के चावल से चरु नहीं बन सकता, इसलिये सोने के रंग के चावल से हवन करना चाहिये, ऐसा विधान किया गया है। यह याग दर्शपूर्णमासेष्टि याग का विकृति याग होने से और "प्रकृतियाग की तरह विकृतियाग को भी करना है" ऐसा श्रुति का निर्देश होने से दर्शपूर्णमासेष्टि में "व्रीहीनवहन्ति" (धान को उलूखल में कूट कर छिलके निकालने चाहिये) इस वाक्य में आये हुए अवहनन (कूटना) की शतकृष्णल (सोने के रंग वाले चावल) में प्रसक्ति होने से और अवहनन का प्रयोजन ऊपर के छिलके को निकालना मात्र होने से तथा सुवर्ण तण्डुलरूप शतकृष्णल नामक चावल में उस प्रकार का छिलका न होने

कृष्णलां सुवर्णशकलां महोमेतां चरुं निर्वपतीत्यत्र दर्शपूर्ण-मासप्रकृतिकेष्टिविशेषे पुरोडाशविशेषोपयोगिसुवर्णशकलेष्वव-वहननं कर्तव्यं न वेति विशये दर्शपूर्णमासिकेषु व्रीहिषु "व्रीहीनवहन्ति" (आप० श्रौ० १।१९।११) इत्यनेनावहननस्य प्राप्तत्वेन—"प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्याः" इति चोदकवशात् सुवर्णशकलेष्ववहननं कर्तव्यमेवेति पूर्वपक्षे, अवहननस्य तुषनिवृत्तिद्वारा तण्डुलनिष्पत्त्युपयोगित्वेन व्रीहिषु तुषनिवृत्त्यर्थमवहननप्रसक्तावपि सुवर्णशकलेषु द्वारभावेन नावहननप्रसक्तिरिति सिद्धान्तितत्वेन प्रकृते परशिवैक्यप्राप्तिमतां महापाशुपतानां लिङ्गधारिब्राह्मणानाम्—"काश्यां मृतानां सर्वेषां यतीनां लिङ्गधारिणाम् । देवत्वमेव भवति पितृत्वं नैव विद्यते ॥" इति स्कान्दपुराणोक्त्या प्राकृतजनवत् प्रेतत्वा-

---

सुवर्णमयस्तण्डुलः कृष्णलपदेनोच्यते। सुवर्णमयश्चरुरस्यामिष्टौ विधीयते। अस्या इष्टेर्दर्शपूर्णमासविकृतितया प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्येति चोदकवाक्येन दर्शपूर्णमासेतिकर्तव्यताया अतिदेशाद् व्रीहीनवहन्तीति वाक्यविहितस्यावघातस्य कृष्णलेऽपि प्रसक्ताववघातस्य तुषविमोकफलकतया सुवर्णशलाकात्मककृष्णलेषु तुषाभावेन प्रयोजनाभावादवघातो बाध्यते, तद्वदिहापि शिवसायुज्यवतां लिङ्गाङ्गसङ्गिनां प्रेतत्वाभावेन प्रयोजनाभावात् सापिण्ड्यादिकं नास्तीति भावः। अत एव स्कन्दपुराणे—"काश्यां मृतानां

से अवघात का बाध होता है। उसी प्रकार प्रकृत में शिवसायुज्य को प्राप्त किये हुए महापाशुपत नामक लिंगांगियों के लिये प्रेतत्व ही जब नहीं रहता, तब इस प्रेतत्व के निवारण के साधनस्वरूप सापिण्ड्यादि कर्मों का अपने आप बाध हो जायगा।

इसके अलावा "काशी में जो मर जाते हैं, जो संन्यासी हैं और जो लिंगधारी हैं, वे परमेश्वर ही हो जाते हैं, पितृत्वभाव को प्राप्त नहीं होते" ऐसा स्कन्दपुराण में कहा गया है। अतः अलिंगियों को प्राप्त होने वाले प्रेतत्व की लिंगधारियों को प्राप्ति न होने से उस प्रकार के प्रेतत्व के निवारक श्राद्धान्तर्गत सापिण्ड्यादि

भावेन "प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते" इति न्यायेन प्रत्यवायाभावे तन्निवर्तकप्रायश्चित्तकरणे प्रयोजनाभावात् तत्प्रेतत्वनिवर्तक-सापिण्डयादिकरणे प्रयोजनाभाव एव ।

ननु लिङ्गाङ्गिब्राह्मणानां देहावसाने प्रेतत्वाभावेऽप्यविद्या-कल्पितजीवभावसद्भावेन तन्निवृत्तिं विना मृतपुरुषस्येश्वरसदा-शिवपरमशिवस्वरूपतत्पितृपितामहप्रपितामहैः सहैक्यासम्भवेन वर्ग-त्रयप्रवेशाभावात् तत्पुत्रस्य वृद्धप्रपितामहनिवृत्त्यभावेन वर्ग-त्रयोद्देश्यकमासिकादिश्राद्धकरणप्रवृत्तिर्न स्यादिति चेत् ? आक-र्ण्यतां सावधानेन—"चतुर्थस्य निवृत्त्यर्थं जीवभावनिवृत्तितः ।

सर्वेषां यतीनां लिङ्गधारिणाम् । देवत्वमेव भवति पितृत्वं नैव विद्यते ॥"
इति पठ्यते ।

वृद्धप्रपितामहनिवृत्त्यभावेनेति । अयमत्राशयः प्रतिभाति—मृतपुरुषस्य प्रेतत्वजीवभावोभयनिवृत्तावपीश्वरसदाशिवपरमशिवस्वरूपतत्पितृपितामहप्र-पितामहैः सहैक्यप्राप्तौ क्रियाकर्तुः पुत्रस्य पितरमादाय पितृत्रयत्वोपपत्तौ वृद्धप्रपितामहस्तस्माद् वर्गात् पृथग् भवति । ततः प्रभृति च स जीवन् पुरुषः स्वपितृपितामहप्रपितामहानामेव श्राद्धं करोति, वृद्धप्रपितामहं तद्दले न प्रवेशयति । तस्य मृतस्य जीवभावानिवृत्तौ त्वीश्वरसदाशिवपरमशिवात्मक-पुरुषत्रयैक्यासम्भवेन वृद्धप्रपितामहस्य तस्मात् पृथग्भावाभावेन जीवत्पुरु-षस्य स्वपितृपितामहप्रपितामहोद्देशेन श्राद्धप्रवृत्तिर्न स्यात्, तादृशवर्गस्यैवा-सिद्धेरिति समाधत्ते—चतुर्थस्य निवृत्त्यर्थं जीवभावनिवृत्तितः । तत्त्वादियो-

कर्मों का कोई प्रयोजन न होने से लिंगांगियों के लिये उन कर्मों के आचरण की कोई आवश्यकता नहीं है ।

तत्त्वसंयोजन की आवश्यकता

वास्तव में प्रेतत्व न होने पर भी अविद्याकल्पित जीवभाव होने से उस जीवभाव की निवृत्ति के लिये पिता, पितामह और प्रपितामह स्वरूप ईश्वर, सदा-शिव और परमशिव को निमित्त बनाकर तत्त्व का संयोजन करना चाहिये । इस सन्दर्भ में मकुटागम में कहा गया है कि तत्त्वयोजन प्रक्रिया से परशिवस्थान में रहने वाले वृद्धप्रपितामह आदि मुक्ति को प्राप्त करते हैं । यहाँ तत्त्व पद से वीर-

तत्त्वादियोजनादूर्ध्वं चतुर्थोऽपि निवर्तते ॥" इति मकुटागमोक्तप्रकारेणोभयनिवृत्तिः। तथाहि—तत्त्वादियोजनादूर्ध्वमित्यत्र तत्त्वशब्देन षट्त्रिंशत्तत्त्वानाम्, आदिशब्देन अष्टात्रिंशत्कलानां च ग्रहणं भवति। तथा च मृतपुरुषस्यैकादशेऽह्न्येकोद्दिशेन षोडशादिकं निर्वर्त्य द्वादशेऽहनि संप्राप्ते मृतपुरुषमेकस्मिन्नावाह्य तत्पितृपितामहप्रपितामहानीश्वरसदाशिवपरशिवस्वरूपांस्त्रित्वसंख्यातमाहेश्वरेष्वावाह्य च शिवमहेश्वरसदाशिवपरशिवस्वरूपपितृपितामहप्रपितामहवृद्धप्रपितामहाधिष्ठितषट्त्रिंशत्तत्त्वान्यष्टात्रिंशत्कलाश्च तत्समसंख्याकमाहेश्वरेष्वभावपक्षे केषुचिद्वा ॐ हां पार्थिवतत्त्वमावाहयामि, ॐ हां जलतत्त्वमावाहयामि, ॐ हां तेजस्तत्त्वमावाहयामि, ॐ हां वायुतत्त्वमावाहयामीत्यादिना पृथिवीतत्त्वमारभ्य शिवतत्त्वपर्यन्तम्, [1]ईशानः सर्वविद्यानां शशिनीमावाहयामि, ईश्वरः सर्व-

---

जनादूर्ध्वं चतुर्थोऽपि निवर्तते ॥ इति। अयमर्थः—षट्त्रिंशत्तत्त्वानामष्टात्रिंशत्कलानां वक्ष्यमाणप्रकारेण योजनोत्तरं जीवभावनिवृत्तौ सत्यां चतुर्थो वृद्धप्रपितामहोऽपि निवर्तते तस्माद्वर्गात् पृथग्भवति। एतत्प्रकरणार्थस्य वास्तविकं तत्त्वं मकुटागमदर्शनेनैव निर्द्धारयितुं शक्यत इत्युपरम्यतेऽधिकलेखात्। त्रित्वसंख्यातमाहेश्वरेषु ईश्वरसदाशिवपरमशिवतादात्म्येन कल्पितेषु त्रिषु वीरशैवब्राह्मणेष्वित्यर्थः। केषुचिद्वेति श्राद्धकाले वीरशैवानामलाभपक्षे

शैव सिद्धान्त के अनुसार छत्तीस तत्त्वों का और आदि पद से अड़तीस कलाओं का ग्रहण किया जाता है। लिंगांगी मृत पुरुष के निमित्त ग्यारहवें दिन की जाने वाली जो माहेश्वर पूजा है, उसमें एकादश रुद्र की आराधना करने के बाद बारहवें दिन पिता, पितामह और प्रपितामह स्थानापन्न ईश्वर, सदाशिव और शिवस्वरूप तीन माहेश्वरों में "ॐ हां पार्थिवतत्त्वमावाहयामि, ॐ हां जलतत्त्वमावाहयामि, ॐ हां तेजस्तत्त्वमावाहयामि, ॐ हां वायुतत्त्वमावाहयामि" इस प्रकार पृथिवी तत्त्व से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों को और "ईशानः सर्वविद्यानां

---

१. ईशान इत्यादिकः सम्पूर्णो मन्त्रस्तैत्तिरीयारण्यके (१०।४७।१) द्रष्टव्यः।

भूतानामङ्गदामावाहयामि, ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्माधि-ष्ठामावाहयामि, ब्रह्मा शिवो मे अस्तु मरीचिमावाहयामि, सदाशिवो ज्वलिनीमावाहयामीत्यादिना शशिनीकलामारभ्य स्थित्याख्यकलापर्यन्तं साक्षतबिल्वदलैरावाहयेत् । ततश्च तत्त्व-कलास्वरूपमाहेश्वराणां ब्राह्मणानां विष्टरप्रदानादिपूर्वकं पादार्चनादिकं कृत्वा मे पितुः सर्वजीवभावनिवृत्तिद्वारा शिव-महेश्वरसदाशिवस्वरूपपितृपितामहप्रपितामहैक्यप्राप्त्यर्थं सा-क्षतबिल्वदलैस्तत्त्वकलासंयोजनं करिष्य इति संकल्पं कुर्यात् । अथ च ॐ हां पार्थिवतत्त्वं संयोजयामि, ॐ हां जलतत्त्वं संयोजयामि, ॐ हां तेजस्तत्त्वं संयोजयामि, ॐ हां वायुतत्त्वं संयोजयामि, ॐ हां आकाशतत्त्वं संयोजयामीत्यादिना शिव-तत्त्वपर्यन्तं षट्त्रिंशत्तत्त्वानाम्, ईशानः सर्वविद्यानां शशिनी-कलां संयोजयामि, ईश्वरः सर्वभूतानाम् अङ्गदां संयोजयामि,

---

सामान्यशैवेष्वित्यर्थः । जीवभावनिवृत्तिद्वारेति । अत्र माहेश्वरब्राह्मणेषु प्रदर्शितमन्त्रे पृथिव्यादितत्त्वानां शशिन्यादिकलानां चावाहनं कृत्वा तत्संनिधिस्थापितावाहितमृतपुरुषके शैवपुरुषे तत्त्वानामुक्तकलानां च पुनः प्रदर्शितैः संयोजयामीत्यन्तमन्त्रैः संयोजने कृते जीवभावनिवृत्तिपूर्वकपितृत्व-

शशिनीमावाहयामि, ईश्वरः सर्वभूतानाम् अङ्गदामावाहयामि, ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽ-धिपतिर्ब्रह्माधिष्ठामावाहयामि, ब्रह्मा शिवो मे अस्तु मरीचीमावाहयामि, सदाशिवो ज्वलिनीमावाहयामि'' इस क्रम से शशिनी से लेकर स्थिति कला पर्यन्त कलाध्व में बताई गई अड़तीस कलाओं का अक्षतों से विशिष्ट बिल्व-दलों से आवाहन करने के बाद तत्त्वस्वरूप तथा कलास्वरूप उन माहेश्वरों के लिये आसन, पाद्य, अर्घ्य और आचमन आदि को शास्त्रानुसार समर्पित करके पादप्रक्षालनपूर्वक षोडशोप-चार पूजा करके संकल्पपूर्वक अक्षत-बिल्वदलों से ॐ हां पार्थिवतत्त्वं संयोज-यामि, ॐ हां जलतत्त्वं संयोजयामि, ॐ हां वायुतत्त्वं संयोजयामि, ॐ हां आकाश-तत्त्वं संयोजयामि'' इस प्रकार कहते हुए छत्तीस तत्त्वों को तथा ''ईशानः सर्व-विद्यानां शशिनीं संयोजयामि, ईश्वरः सर्वभूतानामङ्गदां संयोजयामि, ब्रह्माधिपति-

ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्माधिष्ठां संयोजयामि, शिवो मे अस्तु मरीचिं संयोजयामि, सदाशिवों ज्वलिनीं संयोजयामीत्यादिना [1]पञ्चब्रह्ममन्त्रैः शशिनीकलामारभ्य स्थितिकलापर्यन्तमष्टात्रिंशत्कलानां च संयोजने कृते मृतपुरुषस्य जीवभावनिवृत्तिद्वारा शिवमहेश्वरसदाशिवस्वरूपतत्पितृपितामहप्रपितामहैक्ये यजमानस्य वृद्धप्रपितामहनिवृत्त्या वर्गत्रयोद्देश्यकमासिकादिश्राद्धकरणप्रवृत्तिसिद्धिर्भवतीति ।

अथ मार्गशैवानां गुरुकृपालब्धदीक्षासमये क्रियादीक्षान्तर्गतस्वस्तिकारोहणाख्यदीक्षया शिष्यजननीगर्भजातमांसपिण्डनिवृत्त्यर्थमापादमस्तकपर्यन्तं संहारक्रमेण षडध्वन्यासानन्तरं

प्राप्तिः, वृद्धप्रपितामहस्य तद्वर्गात् पृथग्भावश्च भवतीति शैवागमप्रक्रिया । यावदेतत्तत्त्वावगमस्तु कामिकागमवातुलागममकुटागमानां सम्यगवलोकनेनैव भविष्यतीति तत एव करणीयः ।

अथ मार्गशैवानामिति । तेषां गुरुकृपालब्धदीक्षावत्त्वेन स्वत एव शिवैक्यप्राप्ततया क्रियादीक्षान्तर्गतस्वस्तिकारोहणाख्यदीक्षया जननीगर्भदोष-

ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्माधिष्ठां संयोजयामि, शिवो मे अस्तु मरीचिं संयोजयामि, सदाशिवों ज्वलिनीं संयोजयामि'' इस प्रकार पाँच ब्रह्ममन्त्रों से शशिनी से लेकर स्थिति पर्यन्त अड़तीस कलाओं को जोड़ने के बाद मृत पुरुष का जीवभाव निवृत्त हो जाता है। पिता पितामह और प्रपितामह स्वरूप ईश्वर, सदाशिव और शिव नामक विशुद्ध तत्त्व निवासी होकर बाद में वह इन तत्त्वों से भी निर्मुक्त होकर शिवसायुज्य को प्राप्त हो जाता है। इसके बाद वर्गत्रय के निमित्त मासिक श्राद्ध आदि के रूप में महेश्वराराधना का क्रम से सम्पादन करते रहना चाहिये ।

शंका—श्रीगुरु दीक्षा देते समय क्रियादीक्षा के अन्तर्गत स्वस्तिकारोहण नामक दीक्षा से शिष्य के मातृगर्भ से आये हुये मांसपिण्ड के अभिमान की निवृत्ति

---

१. सद्योजातं प्रपद्यामीत्यादयः पञ्च मन्त्राः पञ्चब्रह्मपदेनोच्यन्ते । ते च तैत्तिरीयारण्यके (१०।४३-४७ अनुवाकेषु) द्रष्टव्याः । पाशुपतसूत्रेषु प्रत्यध्यायसमाप्तौ त इमे समुद्धृता यथाक्रमम् ।

मन्त्रपिण्डोत्पत्त्यर्थं पुनरुत्पत्तिक्रमेण षडध्वन्यासकरणात् तत्कृततत्त्वकलासंयोजनादिना शिवैक्यकरणनिमित्ताभाव इति चेन्मैवम्, प्राग्दीक्षितस्यापि भक्तस्य भावनामात्रपिण्डसम्बन्धेऽपि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" (छा० उ० ६।१४।२) इत्यादिश्रुतिबोधितजीवन्मुक्तिदशापन्नस्येव पद्मपत्राम्भःसम्बन्धवदाविद्यकपाञ्चभौतिकदेहसम्बन्धस्यापि सत्त्वे तद्धारणप्रयोजकक्षुत्पिपासादिप्रसक्त्या रागद्वेषादिसम्भवेन च नित्यनैमित्तिकादिसकलकर्मानुष्ठानप्रयोजकब्राह्मणत्वाद्य-भिमानावश्यंभावेन च जीवभावानिवृत्तेः। क्रियादीक्षापरि-प्राप्तस्यापि पार्थिवरूपाभिभूतसुवर्णरूपस्येव प्राकृतिकजीव-

---

निवृत्त्यर्थं संहारोपपत्तिकर्मभ्यां षडध्वन्यासतत्त्वकलादियोजनानां निमित्ता-भावाद् नास्त्यपेक्षेति न मन्तव्यम्, तस्य जीवन्मुक्तदशापन्नत्वेऽपि पद्मपत्राम्भः-सम्बन्धवद् यथाकथञ्चिद् देहसम्बन्धस्यावश्यं सद्भावेन तत्प्रयुक्तक्षुत्पिपासा-

के निमित्त पादादि मस्तक पर्यन्त अंगों में संस्कार के क्रम से षडध्वन्यास करने के बाद मन्त्रपिण्ड की प्राप्ति के लिये फिर से उत्पत्ति क्रम से जब षडध्वन्यास करते हैं, तब मार्गशैव शिवस्वरूप हो ही जाता है, तो बाद में देहावसान में किये जाने वाले तत्त्व-कला संयोजन का क्या प्रयोजन है ?

समाधान—हाँ जी प्रयोजन है। ऐसा शिवभक्त पहले शिवदीक्षा को प्राप्त कर लेने पर भी भावना मात्र से मन्त्रपिण्ड से सम्बद्ध होकर "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षे अथ सम्पत्स्ये" इस प्रकार के श्रुतियों के वचन के अनुसार कमल के पत्ते पर गिरे हुये जल की तरह निर्लिप्त होकर रहने पर भी पाञ्च-भौतिक शरीर की उपस्थिति के कारण उसका भूख-प्यास तथा राग-द्वेष आदि से स्वाभाविक सम्बन्ध बना रहता है। अतः नित्य-नैमित्तिक आदि सम्पूर्ण कर्मानु-ष्ठान का प्रयोजक मताभिमान रह ही जाता है। पत्थर में मिला हुआ सोना जैसे भूसम्बन्ध से तिरस्कृत होकर अव्यक्त रहता है, वैसे ही मन्त्रपिण्डत्व को बनाने वाली क्रियादीक्षा के प्राप्त हो जाने पर भी प्रत्यक्ष में जीवभाव से तिरस्कृत रहने के कारण शिवभाव अव्यक्त ही रहता है। शरीर को छोड़ देने के बाद

भावाभिभूतत्वेनाव्यक्ततया देहावसानानन्तरं शिवमहेश्वरसदाशिवपरशिवस्वरूपतत्पितृपितामहप्रपितामहवृद्धप्रपितामहाधिष्ठिततत्त्वकलासंयोजनेनैक्यफलकाविद्यकजीवभावादिनिवृत्तौ परमकैवल्यापरनामकपरमशिवैक्याभिव्यक्तिसिद्धेरिति।

न च मांसपिण्डस्य दीक्षाकाल एव निवृत्तिरिति वाच्यम्, मन्त्रपिण्डोत्पत्तेरिव तन्निवृत्तेरपि भावनामात्रगम्यत्वात्। परन्तु वशिष्ठविश्वामित्रदुर्वासादिजीवन्मुक्तानामिव मार्गशैवानां पाञ्चभौतिकदेहसम्बन्धः पद्मपत्राम्भःसदृश एव, न तु प्राकृतजनशरीरसम्बन्धसदृश इति सुधीभिर्विमर्शनीयम्। मदुक्तार्थोपपादकानि तु वचनानि मकुटचन्द्रज्ञानवीरागमाद्यन्तर्गतपैतृकप्रकरणपठितान्यनुसन्धेयानि। कानिचिदुदाह्रियन्ते।

मकुटागमे—"गुरुदीक्षापरिप्राप्तशिवलिङ्गाङ्गयोगतः।
द्विरेफकीटन्यायेन शिवैक्यं प्राप्तवान् द्विजः॥ लिङ्गाङ्गसङ्गिनि

देश्च सत्त्वेन शिवमहेश्वरसदाशिवपरशिवनिष्ठतत्त्वकलादियोजनाया जीवभावनिवृत्त्यर्थं शिवैक्यप्राप्त्यर्थं चावश्यकत्वादिति विमर्शनीयेत्यन्तग्रन्थाशयः। एतदन्तर्गतायां वशिष्ठविश्वामित्रेत्यादिपङ्क्तौ वशिष्ठादीनां नित्यसिद्धत्वेन कस्यापि कर्मणोऽपेक्षा नास्तीति सूच्यते।

स्वकृतसिद्धान्ते आगमवाक्यानि प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति—गुरुदीक्षापरिप्राप्तशिवलिङ्गाङ्गयोगत इत्यादिना। शिवैक्यं जीवभावत इति। ल्यब्लोपे

पहले बताये हुए तत्त्वों और कलाओं के संयोजन से ही जीवभाव की निवृत्ति होती है और अव्यक्त शिवस्वरूप व्यक्त हो पाता है।

इस सन्दर्भ में मकुटागम में कहा गया है कि भ्रमर के चिन्तन से जैसे कीट भ्रमर ही हो जाता है, वैसे ही गुरु के द्वारा दीक्षित लिंगांगी जीव निरन्तर शिव का स्मरण करते रहने से शिवस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार के लिंगांगी के मर जाने पर प्राकृत व्यक्तियों की तरह बारहवें दिन किये जाने वाले सापिण्ड्यादि कर्मों को न करके महेश्वर, सदाशिव और शिव के प्रतिनिधि व्यक्तियों को पिता, पितामह और प्रपितामह के स्थान पर

मृते सम्प्राप्ते द्वादशेऽहनि। सापिण्डयं नैव कर्तव्यं प्रेतत्वाभावतो मुनेः॥ दीक्षाकालपरिप्राप्तशिवैक्यं जीवभावतः। आविर्भूतमिति प्राहुः शैवागमविशारदाः॥ सदाशिवाद्यभिन्नेभ्यः पितृभ्यस्तत्त्वसंमिताः। कलाः संगृह्य चान्यत्र समभ्यर्च्य यथाविधि॥ जीवभावनिवृत्त्यर्थं मृतलिङ्गाङ्गसङ्गिनः। वर्गत्रयैक्यसिद्ध्यर्थं तत्त्वादीन् योजयेत् सुतः॥" इति, चन्द्रज्ञाने—"द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते मृतलिङ्गाङ्गसङ्गिनः। जीवभावनिवृत्त्यर्थं कुर्यात् तत्त्वादियोजनम्॥ लिङ्गाङ्गसङ्गिनि मृते सापिण्डादि न कारयेत्। तत्त्वसंयोजनादेव जीवभावो निवर्तते॥" इति, वीरागमे—"आत्मविद्याशिवाख्यानि तत्त्वानि च यथाक्रमम्। त्वंपदं चात्मतत्त्वं स्याद् विद्यातत्त्वमसीति च॥ तत्पदं शिवतत्त्वं स्यादात्मतत्त्वात्मकं पुनः। पञ्चविंशतिसंख्याकं दशतत्त्वात्मकं तथा॥ विद्यातत्त्वं शिवाख्यं स्यात् तत्त्वमेकमिति स्मृतम्। तत्त्वानामधिपो ज्ञेयो महेशश्च सदाशिवः॥ शिवः परात्परश्चैव

पञ्चम्यर्थे तसिल्। जीवभावं निवर्त्य दीक्षाकाललब्धं शिवैक्यं प्रादुर्भूतं भवतीत्यर्थः। तत्त्वसंमिता इति। चतुर्विंशतिसंख्याका इत्यर्थः। आत्मविद्याशिवाख्यानि तत्त्वानि च यथाक्रममिति तत्त्वानां त्रेधा विभागः क्रियते—आत्मतत्त्वम्, विद्यातत्त्वम्, शिवतत्त्वमिति। अत्र तत्त्वमसीति वाक्योत्पन्नविद्या विद्यातत्त्वमित्युच्यते। त्वंपदार्थ आत्मतत्त्वमित्युच्यते। तत्पदार्थः शिवतत्त्वमित्युच्यते। अत्रात्मतत्त्वं पञ्चविंशतिसंख्याकम्, विद्यातत्त्वं दशसंख्याकम्, शिवतत्त्वमेकसंख्याकम्। इमान्येव पूर्वोक्तानि

बिठाकर विधि के अनुसार पूजा करके छत्तीस तत्त्वों का और अड़तीस कलाओं का संयोजन करने से उसके जीवभाव की निवृत्ति हो जाती है।

इतना ही नहीं, चन्द्रागम और वीरागम में यही विषय विशद रूप से बताया गया है। पद्मपुराण में भी कहा गया है कि योगाभ्यास द्वारा दहराकाश में अन्तर्लिंग की उपासना करने वाले लिंगांगी के निमित्त सापिण्ड्य आदि प्रेतकार्य का कोई प्रयोजन नहीं है।

शिवे परमकारणे। दीक्षात्रयप्रकारेण गुरुणा दीक्षितो यथा ॥ तथैक्यस्य च भक्तस्य सापिण्ड्ये किं प्रयोजनम्। तस्मात् तत्त्वेश्वराः सम्यगर्चनीया यथाक्रमम्। द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते कल्याणे शिवयोगिनः ॥" इति। अत्र तत्त्वेश्वरा इत्यत्र तत्त्व-पदं कलानामप्युपलक्षणम्। एवं पिण्डतत्त्वकलारूपाणां तदधिष्ठानेश्वरादिरूपपितृणां चार्चनेन तत्त्वादिसंयोजनं कार्यमिति तात्पर्यमुन्नेयम्। पद्मपुराणे—"दहराकाशलिङ्गस्य सतो योगादि-लिङ्गतः। लिङ्गभावात्मकतया प्रेतकार्यादिकं नहि ॥" इति।

मतान्तराणामपि सापिण्ड्यादिकमनित्यमेव, पित्रादेराश्रमस्वीकारानन्तरभाविमरणप्रसक्तौ तेषां च प्रागुदाहृतशौनक-मन्वादिस्मृतिभिः पिण्डोदकादिनिषेधेन सापिण्ड्यकरणायोगात्। पितुर्गृहस्थत्वेऽपि पितामहादीनां संन्यस्तत्वे ब्रह्मीभूततया तदुद्देश्यकपिण्डाभावेन तत्र प्रेतपिण्डसंयोजनासम्भवेन च तत्रापि तदभावात्। परन्तु पितृपितामहादीनां सर्वेषां

षट्त्रिंशत्तत्त्वान्युच्यन्ते। एषामवान्तरनामानि ग्रन्थान्तरतोऽवसेयानि। तथैक्यस्य च भक्तस्येति। ऐक्यस्य शिवैक्यस्य, भक्तस्य श्रद्धयाऽऽत्मनि तदैक्यं भावयमानस्य। तस्मात् तत्त्वेश्वराः सम्यगर्चनीया इति। तत्त्वेश्वरा इत्यस्य तत्त्वेश्वरसदाशिवतादात्म्येन भाविता वीरशैवब्राह्मणा इत्यर्थः। कल्याणे शिवयोगिन इति। शिवयोगिनः कल्याणे मोक्षप्राप्त्युत्सवकाल इत्यर्थः। यद्वा निमित्तसप्तम्येषा। कल्याणेऽर्थात् कल्याणार्थम्। दहराकाश-लिङ्गस्येति हृत्पुण्डरीकान्तर्गतब्रह्मलिङ्गस्य सतः कालत्रयाबाध्यस्य योगादि-

अलिंगियों में पिता, पितामह आदि के क्रम से गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यासाश्रम को स्वीकारने के बाद यदि कोई मर जाता है, तो केवल उसके लिये श्राद्ध, पिण्डोदक आदि का निषेध किया गया है। जो संन्यास न लेकर गृहस्थाश्रम में रहते हुये मर जाते हैं, उन लोगों के निमित्त सापिण्ड्यादि का विधान है। इस तरह से सापिण्ड्यादि को प्राप्त होने वाले अनित्यत्व दोष का कोई परिहार नहीं कर सकता।

गृहस्थानामेव यत्र मरणप्रसक्तिस्तत्रैव सापिण्डचकरणमित्यनित्यत्वं दुर्वारमेव ।

यद्यपि—"न च श्राद्धादिकं कर्म न पिण्डं नोदकक्रिया । न कुर्यात् पार्वणादीनि शिवलिङ्गाङ्गसङ्गिने ।। प्रत्यब्दं तु तमुद्दिश्य शिवभक्तांश्च भोजयेत् । भक्तेभ्यो दत्तमन्नं यत् तदेव च शिवाय हि ।।" इति श्राद्धमात्रनिषेधवचनम्, तत्तु—"अत्याश्रमी प्राणलिङ्गसम्बन्धिभस्मघटकां कन्थां कमण्डुलं भिक्षापात्रं दण्डं च धारयेत् ।।" इति वचनावगतनित्यनैमित्तिकादिकर्मपरिहारपूर्वकत्यक्तदारपुत्रादिनिराभारवीरशैवपरमित्यवगन्त-

---

लिङ्गतः समाधिप्रकारैः । लिङ्गभावात्मकतया शिवलिङ्गरूपत्वं प्राप्ततया । अनित्यत्वं दुर्वारमिति । संन्यासाश्रमं गृहीतवतां पित्रादीनां सर्वमत एव सापिण्ड्यस्याकरणादेवं मन्यते ।

निराभारवीरशैवपरमिति । अन्यथा तत्त्वकलायोजनाकर्तव्यतापरमकुटागमवीरागमस्थोदाहृतवाक्यविरोधापत्तेः । तस्मान्निर्गत आभारः सांसा-

जंगमाराधन का विधान

लेकिन वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार शिवलिंगधारियों में अत्याश्रमी के मृत होने पर श्राद्धकर्म, पिण्डोदक और पर्वों में किये जाने वाले कृत्य नहीं किये जा सकते । प्रतिवर्ष एक बार उन निराभारियों के निमित्त शिवभक्त जंगमों को भोजन करा देना चाहिये । शिवभक्तों को तृप्ति के निमित्त दिये हुये अन्न से साक्षात् भगवान् शिव तृप्त हो जाते हैं । इस प्रकार निराभारी वीरशैव के लिंग-देह को छोड़ देने के बाद किये जाने वाले कर्तव्यों को बतलाकर जीवितावस्था में उसका आचरण कैसा रहे, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि बगल में भस्म का झोला, शरीर में गुदड़ी, पीठ पर कमण्डलु, एक हाथ में दण्ड और दूसरे हाथ में भिक्षापात्र —इन पाँच मुद्राओं को धारण करके ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदि के निमित्त निर्दिष्ट सभी धर्मों को छोड़कर "निर्गत आभारो (सांसारिकचिन्ताभारः) यस्मात् स निराभारः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुत्र, पत्नी आदि की सम्पूर्ण सांसारिक चिन्ताओं को छोड़कर षडंगों में षट्लिंगों का जिसने साक्षात्कार कर लिया है, उसी को निराभारी कहा जाता है । इस प्रकार के निराभारी वीरशैव जब अपने लिंगदेह को छोड़ देते हैं,

व्यम् । गृहस्थानां शिवज्ञानैकनिष्ठानां लिङ्गाङ्गिनां विशेषवीर-शैवानां तु प्रेतकृत्यपिण्डाद्ययोगेऽपि—"लिङ्गाङ्गसङ्गिनि मृते निक्षिपेदुत्तरक्रियाम् । कुर्वीरन् शैवतन्त्रोक्तां शिष्यपुत्रादयो गृहे ॥" इति शङ्करसंहितावचनानुरोधेन स्वगृह्योक्तप्रकारेण सर्वमप्यवसानकृत्यं कर्तव्यमेवेति सर्वं समञ्जसमिति ॥

रिकचिन्तारूपो यस्मात् तादृशो यो वीरशैवः, तत्परमेव श्राद्धमात्रनिषेध-वचनं मन्तव्यम्, तेषां निरतिशयकल्याणरूपशिवनिष्ठतया बाह्यक्रियान-पेक्षणात् । इति शिवम् ॥

शिवेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
मङ्गलानि समग्राणि करस्थान्येव तस्य तु ॥
शिवस्वरूपं देवं तं देवीं तां सर्वमङ्गलाम् ।
ध्यात्वा कथञ्चिन्मनसि प्रणमामि पुनः पुनः ॥

प्राप्ते व्योमरसाङ्कचन्द्रगणिते (१९६०) श्रीवैक्रमे वत्सरे
ग्रीष्मर्तौ शुचिशुक्लगाष्टमतिथौ वाणोशितुर्वासरे ।
काशीजङ्गमवाटिकोन्नतमठे सिंहासनाधिष्ठितः
श्रीराजेश्वरविद् व्यधापयदिमां व्याख्यां शरन्नामिकाम् ॥

तो उनके निमित्त विधि के अनुसार समाधि क्रिया का सम्पादन करके किसी प्रकार की पिण्डोदक आदि अपर क्रियाओं को न करते हुए प्रतिवर्ष एक बार शिवभक्त माहेश्वरों के लिये अन्नसन्तर्पण (भण्डारा) करने का जो विधान है, उसका अवश्य ही निर्वाह करना चाहिये ।

गृहस्थाश्रमी होते हुए जो शिवज्ञानसम्पन्न लिंगांगी माहेश्वर भक्त है, उसके अपने लिंगदेह को छोड़ देने पर उस लिंगदेह के निमित्त बताई गई विधि से खननादि क्रियाओं का यथाविधि सम्पादन करके पितृलोकसाधक पैतृक सापिण्ड्यादि कोई भी अपर कर्म को न करते हुए शंकरसंहिता में बताये क्रम से लिंगांगी के मृतदेह का क्रमपूर्वक निक्षेप करके वातुलागम, मकुटागम, चन्द्रज्ञानागम, वीरागम और पारमेश्वरागम आदि में निर्दिष्ट प्रकार से तथा अपने-अपने परिवारों में प्रचलित नियम के अनुसार भूमि से शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का, शशिनी से स्थिति पर्यन्त अड़तीस कलाओं का; पिता, पितामह, प्रपितामह के सदृश ईश्वर, सदाशिव और शिव स्वरूप तीन माहेश्वरों का उनके निमित्त निर्दिष्ट मन्त्रों से आवाहन करके

इति श्रीमद्वेदवेदान्तस्मृतिपुराणागमेतिहाससकलशास्त्र-प्रसिद्धश्रीमद्वीरशैवविशिष्टाद्वैतविद्याचार्यपाषण्डाब्जमहागजपाञ्चरात्रप्रालेयचण्डकिरणद्वैतकुम्भिकुम्भदलनरौद्रपञ्चाननश्रीमन्नन्दीश्वरकृतलिङ्गधारणचन्द्रिकायां द्वितीयो भागः ।

बसवेश्वरपौत्रेण महेशाचार्यसूनुना ।
नन्दीश्वरेण रचिता लिङ्गधारणचन्द्रिका ॥

लिङ्गधारणचन्द्रिका सम्पूर्णा ।

शक्त्या विशिष्टस्य महेश्वरस्याद्वैतं प्रपञ्चे सकलेऽस्ति यत्तत् ।
अचीचकासंस्तु पुरा जनेभ्यः काश्मीरशैवागमतत्त्वविज्ञाः ॥
तदीयसिद्धान्तनिगूढतत्त्वं लोकोपकाराय निवेदयिष्यन् ।
प्राचीनगीर्भिः किल नन्दिकेशः चकार लिङ्गाश्रयचन्द्रिकां ताम् ॥

लग्ना दिव्यपदाम्बुजे भगवतः कारुण्यवारांनिधेः
श्रीशम्भोः कमलासनप्रभृतिभिः संपूज्यमानेऽनिशम् ।
वाक्यैः प्रीतिसमुद्भवं वितनुते लोकस्य गौरीश्वरे
शैवेष्टेष्वपि शङ्कितं विधुवतीत्यास्तेतरामादृता ॥
अस्या विश्वेशपादाब्जपरत्वं वीक्ष्य हर्षतः ।
व्याख्यां शिवकुमारोऽहमकार्षं तच्छुभास्त्वियम् ॥
शुभः शम्भुः शुभा गौरी शुभः शेषः शुभः शशी ।
शुभो गणपतिस्तस्माद् ग्रन्थोऽयं सर्वतः शुभः ॥

श्रीक्षेत्रकाशीस्थमहामहोपाध्यायपण्डितशिवकुमारमिश्रविरचिता शरन्नाम्नो व्याख्या समाप्ता ॥

षोडशोपचार से पूजा करके, अक्षत और बिल्व दलों से क्रमपूर्वक निर्दिष्ट मन्त्रों से अर्चन करते हुए पुनरावृत्तिरहित शिवसायुज्य सिद्धि को प्राप्त करा देना चाहिये ।

इस प्रकार वेद, वेदान्त, स्मृति, आगम, इतिहास आदि समस्त शास्त्रों में प्रसिद्ध वीरशैव शक्तिविशिष्टाद्वैत विद्या के महान् आचार्य, पाषण्ड (स्मार्त) रूपी कमल के लिये गजस्वरूप, पांचरात्र रूपी प्रालेय (धुन्ध) के लिये प्रचंड सूर्यसदृश, द्वैतवाद रूपी हाथी के मस्तक को रौंदने के लिये रौद्र सिंह के समान, श्रीमान् नन्दीश्वर (शिवाचार्य) विरचित लिंगधारणचन्द्रिका का द्वितीय भाग यहाँ समाप्त होता है । बसवेश्वर के पौत्र, महेशाचार्य के पुत्र, नन्दीश्वर ने इस लिंगधारणचन्द्रिका की रचना की है ।

——

ग्रन्थग्रन्थकार-मतमतान्तरसूची

——

संकेत-सूची

अ. को.	अमरकोशः	धा.	धातुपाठः
अभि.	अभियुक्तवचनम्	ना. पु.	नारदीयपुराणम्
अ. शिखो.	अथर्वशिखोपनिषत्	नारा. अ.	नारायणाथर्वशिखोपनिषत्
अ. शिर.	अथर्वशिरउपनिषत्	नृ. उ.	नृसिंहतापनीयोपनिषत्
अ. सू.	अनुभवसूत्रम्	प. पु.	पद्मपुराणम्
अ. स्त.	अपराधस्तवः	प. स्मृ.	पराशरस्मृतिः
आ. पु.	आदित्यपुराणम्	ब. उ.	बह्वृचोपनिषत्
आ. श्रौ.	आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्	बृ. उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
आ. स्मृ.	आङ्गिरसस्मृतिः	बृ. जा.	बृहज्जाबालोपनिषत्
ई. उ.	ईशावास्योपनिषत्	बो. स्मृ.	बोधायनस्मृतिः
ऋ.	ऋग्वेदः	ब्र. पु.	ब्रह्माण्डपुराणम्
ऋ. खि.	ऋग्वेदखिलपाठः	ब्र.पु.चि.	ब्रह्माण्डपुराणचिदम्बर-संहिता
ऐ. आ.	ऐतरेयारण्यकम्	ब्र. वै. पु.	ब्रह्मवैवर्तपुराणम्
क. सू.	कल्पसूत्रम्	ब्र. सू.	ब्रह्मसूत्रम्
कठो.	कठोपनिषत्	भ. गी.	भगवद्गीता
का. उ.	काठकोपनिषत्	म. आ.	मकुटागमः
कू. पु.	कूर्मपुराणम्	म. भा.	महाभारतम्
कै. उ.	कैवल्योपनिषत्	म. स्तु.	महिम्नस्तुतिः
कौ. श्रु.	कौषीतकिश्रुतिः	म. स्मृ.	मनुस्मृतिः
क्रि. पा.	क्रियापादः	मि. का.	मिश्रकारिका
गौ. स्मृ.	गौतमस्मृतिः	मी. सू.	मीमांसासूत्रम्
च. ज्ञा.	चन्द्रज्ञानागमः	मु. उ.	मुण्डकोपनिषत्
छा. उ.	छान्दोग्योपनिषत्	मै. उ.	मैत्रायण्युपनिषत्
त. वा.	तन्त्रवार्त्तिकम्	मै. सं	मैत्रायणीसंहिता
तै. आ.	तैत्तिरीयारण्यकम्	लि. पु.	लिङ्गपुराणम्
तै. उ.	तैत्तिरीयोपनिषत्	वा. आ.	वातुलागमः
तै. सं.	तैत्तिरीयसंहिता	वा. त.	वातुलतन्त्रम्
द.	दर्पणः (शिवाद्वैतदर्पणः)		

वा. पु.	वायुपुराणम्
वाम. पु.	वामनपुराणम्
वा. रा.	वाल्मीकिरामायणम्
वा. सं.	वायवीयसंहिता
वि. पु.	विष्णुपुराणम्
वी. आ.	वीरागमः
व्या. नि.	व्यासनिरुक्तिः
श. ब्रा.	शतपथब्राह्मणम्
श. सं.	शङ्करसंहिता (स्कन्द-पुराणीया
शा. भा.	शाबरभाष्यम्
शा. स्मृ.	शातातपस्मृतिः
शि. ध.	शिवधर्मोत्तरम्
शि.ध.शा.	शिवधर्मशास्त्रम्
शि. पु.	शिवपुराणम्
शि. र.	शिवरहस्यम्
शौ. स्मृ.	शौनकस्मृतिः
श्रु.	श्रुतिः
श्वे. उ.	श्वेताश्वतरोपनिषत्
ष. स्मृ.	षडशीतिस्मृतिः
स उ.	सदानन्दोपनिषत्
सि. शि.	सिद्धान्तशिखामणिः
सि. शे.	सिद्धान्तशेखरः
सि. सा.	सिद्धान्तसारावली
सु. उ.	सुबालोपनिषत्
सू. सं.	सूतसंहिता
स्क. पु.	स्कन्दपुराणम्
ह. वं.	हरिवंशः
हं. उ.	हंसोपनिषत्

चन्द्रिकाधृतवचनानुक्रमणी

———

चन्द्रिकाधृतलौकिकवैदिकन्यायसूची

——